लोकसाहित्य के प्रतिमान

लेखक
डा० कुन्दनलाल उप्रेती
हिन्दी-विभाग
श्री वार्ष्णेय कालेज, अलीगढ़

प्रकाशक
भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़

●
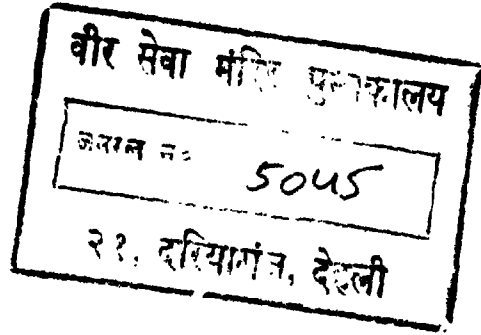
समर्पण

●

श्रद्धेय पितामह

स्व० पं० सांवलप्रसाद उप्रेती

(ब्रज-होली के प्रसिद्ध लोकगायक)

तथा

उनके अनुज

स्व० पं० बेनीप्रसाद उप्रेती

को

पुण्य-स्मृति में,

सादर—

कुन्दनलाल उप्रेती

●

भूमिका

लोक की भावनाओं को व्यक्त करने वाली व्यक्तित्व-हीन अभिव्यक्ति को लोकसाहित्य कहा जा सकता है। लोकसाहित्य प्रधानतः मौखिक एवं परम्परागत होता है। इसकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, उतनी प्राचीन जितनी शायद मानव-जाति। परन्तु खेद है कि इस साहित्य की ओर जितना ध्यान विद्वानों को देना चाहिए था उतना नहीं दिया गया। इधर कुछ विद्वानों के प्रयास तथा प्रेरणा से लोकसाहित्य-सम्बन्धी कार्य किया जा रहा है और करवाया भी जा रहा है। अनेक विश्वविद्यालयों ने हिन्दी के एम०ए० के पाठ्यक्रम में एक वैकल्पिक प्रश्न-पत्र के रूप में लोकसाहित्य के अध्ययन को स्थान दिया है। अतः इस विषय के विद्यार्थियों के लिए एक पाठ्य-ग्रंथ की महती आवश्यकता अनुभव की जा रही है। डा० कुन्दनलाल उप्रेती द्वारा लिखित प्रस्तुत पुस्तक 'लोकसाहित्य के प्रतिमान' उपर्युक्त आवश्यकता की उचित पूर्ति है।

लोकसाहित्य पर डा० सत्येन्द्र जी का कार्य हिन्दी-साहित्य में अत्यन्त महत्व-पूर्ण है। डा० श्याम परमार तथा डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने भी इस विषय को आगे बढ़ाया है। डा० कुन्दनलाल उप्रेती ने प्रस्तुत पुस्तक में लोकसाहित्य के सिद्धान्त-पक्ष पर अधिक बल दिया है। सिद्धान्त-पक्ष के प्रतिपादन में वैज्ञानिक पद्धति का अवलम्बन लिया गया है।

कई स्थानों पर उनकी अपनी मौलिक स्थापनाएँ भी हैं। इससे पता चलता है कि डा० उप्रेती ने इस विषय का अत्यन्त परिश्रम-पूर्वक तलस्पर्शी अध्ययन किया है और लोकसाहित्य को अपने ढंग से स्पष्ट करने की सफल चेष्टा की है। इस पुस्तक की प्रधान विशेषता है भाषा की सरलता एवं विषय की स्पष्टता।

मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक जहाँ लोकसाहित्य के शोधकर्त्ताओं के लिए लाभदायक सिद्ध होगी वहाँ यह पुस्तक निश्चित रूप से पाठ्यग्रंथ के अभाव की भी पूर्ति करेगी। इस सफल एवं उपयोगी कृति के लिए मैं डा० उप्रेती को हार्दिक बधाई देता हूँ।

वाराणसी
शिवरात्रि
२३-२-७१

डा० विजयपाल सिंह
एम०ए० (हिन्दी), एम०ए० (संस्कृत),
पी-एच०डी०, डी०लिट्०,
आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

आमुख •

लोकसाहित्य के प्रति रुचि मुझे परम्परागत सम्पत्ति के रूप में ही प्राप्त हुई है। मेरे पितामह स्व० पं० सांवलदास उप्रेती ब्रज-होली के लोकप्रिय लोकगायक थे। उनके मुख से होली सुनने का अवसर मुझे कई बार मिला, परन्तु उस समय मैं लोकसाहित्य के महत्व से नितान्त अपरिचित था। दो वर्ष पूर्व मुझे भ्रातृवर डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय (रीडर, हिन्दी-विभाग, जयपुर विश्वविद्यालय) ने 'डा० सत्येन्द्र अभिनन्दन-ग्रन्थ' के लिए लेख लिखने का आदेश दिया। मेरी प्रच्छन्न रुचि को साकार रूप मिल गया। बड़े भाई पं० राजनाथ शर्मा तथा श्रद्धेय पं० बद्रीप्रसाद शर्मा (भारत प्रकाशन मन्दिर) ने इस दिशा में मुझे प्रेरित किया। परिणाम प्रस्तुत पुस्तक 'लोकसाहित्य के प्रतिमान' है।

इस विषय से सम्बन्धित हिन्दी में मुझे कम पुस्तकें उपलब्ध हुई हैं। अतः अंग्रेजी की पुस्तकों से अधिक सहायता लेनी पड़ी है। हिन्दी में डा० सत्येन्द्र, डा० कृष्णदेव उपाध्याय तथा डा० श्याम परमार की पुस्तकों से मुझे दिशा-निर्देश अवश्य प्राप्त हुआ है परन्तु इस पथ पर मैं अपना पाथेय स्वयं ही लेकर चला हूँ।

पुस्तक के विषय में मैं अधिक नहीं कहना चाहता। मैंने लोकसाहित्य के अध्ययन के सिद्धान्त-पक्ष पर अधिक बल दिया है। मैंने अपने को किसी अंचल-विशेष से सीमित नहीं रखा। कई लोकभाषाओं से मैंने सहायता ली है। लोक-मानस, मन्त्र तथा जादू, लोककला व संगीत आदि पर भी मैं कुछ लिखना चाहता था, परन्तु कागज़ के अभाव ने विवश कर दिया।

श्रद्धेय डा० विजयपाल सिंह के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक की भूमिका लिखकर इसके महत्व को बढ़ाया है। आदरणीय डा० रमेश कुमार शर्मा (आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, काश्मीर विश्वविद्यालय) ने इस पुस्तक पर अपनी सम्मति भेजकर मुझ पर जो कृपा की है, उसका तो मैं पूर्ण अधिकारी हूँ।

मेरे प्रिय शिष्य चि० राकेश ने सामग्री एकत्रित करने में मेरी बड़ी सहायता की है। वे मेरे स्नेह के भाजन हैं। पुस्तक के अन्त में कुछ आनुष्ठानिक चित्र दिए गए हैं जिन्हें मेरी पत्नी श्रीमती स्नेहलता उप्रेती ने चित्रित किया है। वे चित्र प्रायः वैसे ही हैं जैसे हमारे घर में दीवारों तथा चौक पर विशेष अनुष्ठानों एवं पर्वों पर उन्होंने चित्रित किए हैं।

पुस्तक के सम्बन्ध में मैं पूर्णता का दावा नहीं करता। पुस्तक जैसी है आपके सामने है। कैसी बन पड़ी है इसका निर्णय पाठक ही करेंगे। मैं उनके अमूल्य परामर्शों का हृदय से स्वागत करूँगा।

(फुलैरा दौज, फाल्गुन सं० २००७) कुन्दनलाल उप्रेती
२७-२-७१

अनुक्रम

१ | लोकवार्ता तथा लोकतत्त्व

'लोक' शब्द की उत्पत्ति—

शब्दकोष के अनुसार 'लोक' शब्द के कई अर्थ हैं—१. स्थान विशेष जिसका बोध प्राणी को हो, २. संसार, ३. प्रदेश, ४. जन या लोग, ५. समाज, ७. प्राणी, ८. यश आदि। परन्तु 'लोक' के दो अर्थ विशेष रूप से प्रचलित हैं। एक तो स्थान विशेष के रूप में—जैसे उपनिषदों में दो लोक माने गए हैं—इहलोक और परलोक। निरुक्त में तीन लोकों का उल्लेख है—पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्युलोक। पौराणिक काल में इन सात लोकों की कल्पना हुई—भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक या ब्रह्मलोक। फिर पीछे इनके सात-सात पाताल-अतल, नितल, वितल, गभस्तिमान, तल, सुतल और पाताल मिलाकर चौदह लोक किए गए।[१] दूसरा अर्थ 'लोक' का जनसामान्य है। इसी का हिन्दी रूप 'लोग' बन गया है। इसी अर्थ को प्रकाशित करने वाला 'लोक' शब्द साहित्य का विशेषण बन गया। परन्तु इससे वह अभिप्राय प्रकट नहीं हो पाता जो साहित्य के विशेषण के रूप में वह प्रकट करता है।

भाषा और स्थल की दृष्टि से हमें साहित्य के कई विशेषण मिलते हैं—हिन्दी साहित्य, गुजराती साहित्य, अंग्रेजी साहित्य, रूसी साहित्य, भारतीय साहित्य तथा यूरोपीय साहित्य आदि। परन्तु 'लोक साहित्य' के सम्बन्ध में एक शंका का उठना स्वाभाविक है। 'लोक' और 'वेद' के अन्तर से भी यह स्पष्ट होता है कि "जो वेद में स्पष्टत: नहीं है, वह यदि लोक में हो अथवा जो वेद में है, उसके अतिरिक्त लोक में हो वह लौकिक है। यहाँ साहित्य में लोक अथवा लौकिक किसी अवहेलना अथवा उपेक्षा का भाव प्रकट नहीं करता। यद्यपि लोक साहित्य का लोक वेद से एक भिन्नता का भाव तो प्रकट करता है, फिर भी उस समस्त अर्थ को प्रकट नहीं करता, जो ऊपर बताया गया है। यहाँ वैदिक से भिन्न शेष समस्त बातें लौकिक कहलाएँगी। वाल्मीकि की 'रामायण', कालिदास का 'शकुन्तला' नाटक, भारवि-माघ-भवभूति की रचनाएँ सभी लौकिक कोटि की होंगी, किन्तु लोक साहित्य के

---

१. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर—सं० रामचन्द्र वर्मा—पृ० ८७७।

के अन्तर्गत इनका समावेश नहीं हो सकता।[1] यहाँ एक बात ध्यान देनी है कि यह 'लोक साहित्य' शब्द अंग्रेजी का अनुवाद है और वह अंग्रेजी शब्द है—'फोक लिटरेचर'। इस सम्बन्ध में आगे विस्तार से विचार किया जाएगा।

सिद्धान्त कौमुदी के अनुसार 'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार सम्भव है—'लोक' शब्द संस्कृत के 'लोकृ दर्शने' धातु से बना है। इसमें 'घञ्' प्रत्यय लगने से ही 'लोक' शब्द निष्पन्न हुआ है। इस धातु का अर्थ है—देखना। इसका लट् लकार में अन्य पुरुष एक वचन का रूप 'लोकते' है। अतः 'लोक' शब्द का मूल अर्थ हुआ 'देखने वाला'। वह समस्त जन समुदाय जो इस कार्य को करता है 'लोक' कहलाएगा।[2]

'लोक' शब्द की प्राचीनता—

वास्तव में 'लोक' शब्द अत्यन्त प्राचीन है। परन्तु आधुनिक युग में अध्ययन की नई दिशाओं के कारण 'लोक' शब्द साहित्य में एक नए महत्त्वपूर्ण विशेषण के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है। फिर भी 'लोक' की सही-सही तथा पूर्ण व्याख्या न हो पाने के कारण इससे सम्बन्धित विषयों का शास्त्रीय एवं कलात्मक पक्ष भी अपूर्ण है।

'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चित मत उपलब्ध न होने के कारण विद्वानों (भारतीय तथा पाश्चात्य) में भी मतैक्य नहीं है। फिर भी इस शब्द की प्राचीनता के सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं। ऋग्वेद में 'लोक' शब्द का व्यवहार जीव तथा स्थान दोनों अर्थों में किया गया है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद पार्थिव और दिव्य दो प्रकार के लोक की स्थिति व्यक्त करते हैं परन्तु आगे चलकर ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों तथा संहिताओं में ऐसी भेदात्मक स्थिति का कोई उल्लेख नहीं मिलता। वहाँ तो लोक अनेक प्रकार से फैला है। वह प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है। उसे जान लेना सहज नहीं है।

आर्यों के आगमन पर आर्य तथा आर्येतर जातियों में जो सांस्कृतिक संघर्ष हुआ उसके फलस्वरूप 'वेद' तथा 'वेदेतर' संस्कृति का जन्म हुआ। इससे एक नवीन अर्थ की उद्भावना हुई। अब 'लोक' शब्द का अर्थ वेद-विरोधी हो गया। इससे वेद की प्रतिष्ठा के साथ-साथ 'लोक' का स्वतन्त्र महत्व भी हो गया। परन्तु आज 'लोक' शब्द अपने संकुचित अर्थ से बहुत ऊपर उठ गया है। वह परम्परा का सहेजक एवं अनुभूति की संवेदनापूर्ण अभिव्यक्ति का सतत् संवाहक बन गया है। अब उसके पास

---

१. हिन्दी साहित्य कोश (भाग १)—प्र० सं० धीरेन्द्र वर्मा—पृ० ७४७।

२. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (भाग १६) प्र० सं० महापंडित राहुल सांकृत्यायन—पृ० १ (प्रस्तावना)।

अपने शब्द, अपनी भाषा तथा अपनी लोक-ग्राही शैली भी है। जीवन से सम्बन्धित सभी उपकरणों को लिए हुए उसका अपना एक सामूहिक व्यक्तित्व है। वस्तुतः जिसे संस्कृति की संज्ञा दी जाती है वह 'लोक' से भिन्न नहीं है। उसका उत्स 'लोक' ही है। 'लोक' का महत्व सर्वकालीन है।[१]

पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'लोक' तथा 'सर्वलोक' शब्दों का प्रयोग 'लौकिक' तथा 'सार्वलौकिक' शब्दों की निष्पत्ति के सम्बन्ध में हुआ है। पाणिनि ने भी वेद से पृथक् 'लोक' की सत्ता को मान्यता दी है। इसी प्रकार वररुचि के वार्तिकों में तथा पतंजलि के महाभाष्य में भी 'लोक' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है।

भरत के नाट्यशास्त्र में लोक-धर्मी प्रवृत्तियों का उल्लेख है। महाभारत में 'लोक यात्रा' का उल्लेख है।[२] इसी के आगे महाभारतकार ने अपने ग्रन्थ की विशेषता का वर्णन करते हुए लिखा है—

अज्ञानतिमिरांधस्य लोकस्य तु विचेष्टतः।
ज्ञानांजनशलाकाभिर्नेत्रोन्मीलनकारकम् ॥[3]

अर्थात् (यह ग्रंथ महाभारत) अज्ञान के अंधकार से अंधे तथा दुखी लोक (साधारण जनता) के नेत्रों को ज्ञान रूपी अंजन की सलाई लगाकर खोल देता है।

इसी प्रकार भगवत्गीता में भी 'लोक' तथा 'लोक संग्रह' शब्दों का प्रयोग कई स्थानों पर किया गया है। 'गीता' में 'लोक संग्रह' का अर्थ साधारण जनता के आचरण तथा व्यवहार से लिया गया है।

हिन्दी के प्रसिद्ध महाकवि तुलसीदास ने 'लोक' तथा 'वेद' के मूल्यों को प्रेम के आधार पर समान मानते हुए लिखा है—

लोकहुं वेद सुसाहिब रीती।
विनय सुनत पहुँचानत प्रीती ॥[४]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने निबन्ध-संग्रह 'चिन्तामणि' में लोक

---

१. भारतीय लोक साहित्य—श्याम परमार पृ० १०।
२. महाभारत, आ० प० १/६६।
३. महाभारत, आ० प० १/८४।
४. श्री रामचरित मानस—बालकाण्ड—पृ० ५६ (गीता प्रेस, गोरखपुर का मझला साइज)।

सामान्य[1] लोक सत्ता,[2] लोक व्यवहार,[3] लोक धर्म[4] लोक मंगल,[5] आदि शब्दों का प्रयोग स्थान-स्थान पर किया है। शुक्ल जी ने ऐसे स्थानों पर समाज तथा संस्कृति को ध्यान में रख कर ही इन शब्दों का प्रयोग किया है। परन्तु आज 'लोक' शब्द ने अपना पारिभाषिक रूप ले लिया है।

'लोक' शब्द की परिभाषा एवं लोकतत्त्व :—

'लोक' शब्द पर विचार करते हुए डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है— "लोक हमारे जीवन का महा समुद्र है; उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है, लोक कृत्स्न ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है। अर्वाचीन मानव के लिये लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धात्री सर्वभूतमाता पृथिवी और लोक का व्यक्त रूप मानव, यही हमारे नये जीवन का अध्यात्म शास्त्र है। इसका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार, और निर्माण का नवीन रूप है। लोक-पृथिवी-मानव, इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याण-तम रूप है।[6]

डा० कुंजबिहारीदास ने 'लोक गीत' की परिभाषा देते हुए 'लोक' शब्द पर भी प्रकाश डाला है। उनका कथन है—"लोक गीत उन लोगों के जीवन की अनायास प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति हैं जो सुसंस्कृत तथा सुसभ्य प्रभावों से बाहर रह कर कम या अधिक रूप में आदिम अवस्था में निवास करते हैं।"[7]

अर्थात् वे लोग जो सुसंस्कृत एवं परिष्कृत रुचि वाले लोगों के प्रभाव से अलग रहकर अपनी आदिम स्थिति में जिन्दा रहते हैं, 'लोक' शब्द से विभूषित किए जाते हैं।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'लोक' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है— "लोक शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम्य' नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि-सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले

---

१. चिन्तामणि (पहला भाग) पृ० ११३।
२. चिन्तामणि (पहला भाग) पृ० ११३।
३. वही—पृ० १६१।
४. वही—पृ० १६७।
५. वही—पृ० १६३, १७२।
६. सम्मेलन पत्रिका (लोक संस्कृति-विशेषांक) सं० २०१०, पृ० ६५।
७. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षोडश भाग) प्र० सं०—म० प० रा० सांकृत्यायन— पृ० ३-४;

लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिये जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं उनको उत्पन्न करते हैं।"[१]

वास्तव में हिन्दी का 'लोक' शब्द अंग्रेजी के 'फोक' (Folk) का पर्यायवाची है। लोक गीत संकलन के अग्रणी पं० रामनरेश त्रिपाठी ने 'फोक' का अनुवाद 'ग्राम' किया है।[२] देवेन्द्र सत्यार्थी तथा 'सुधांशु' जी ने भी 'ग्राम' शब्द को ही उपयुक्त मानकर अपनाया।[3] डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी 'लोक' का 'ग्राम' अर्थ स्वीकार करते हुए लिखा है—"लोक वार्ता की सामग्री का संचय करने के लिए प्रत्येक गाँव को एक खुली हुई पुस्तक समझना चाहिए।[४] डा० मोतीचन्द ने 'फोक' के लिये 'जन' शब्द का प्रयोग किया है।

परन्तु 'ग्राम' तथा 'जन' शब्द को 'फोक' का पर्याय नहीं माना जा सकता। क्योंकि 'ग्राम' शब्द में व्यापकता का अभाव है। 'ग्राम' के अलावा भी एक विस्तृत समाज है। अत: सीमित अर्थ का बोधक होने के कारण इसे 'फोक' का समानार्थी नहीं मानना चाहिए। उसी प्रकार 'जन' शब्द है। यद्यपि यह अत्यन्त प्राचीन शब्द है क्योंकि संस्कृत तथा प्राकृत ग्रंथों में मानव समाज के लिए 'जन' शब्द का ही प्रयोग किया जाता रहा है। ग्रामीण क्षेत्रों के लिए 'जनपद' तथा नगरों के लिए 'पुर' शब्द का प्रयोग प्राचीन लोग किया करते थे। आज की पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में 'जन' शब्द औद्योगिक क्षेत्र के श्रमिकों का पर्याय बन गया है। अत: 'ग्राम' शब्द में जहाँ संकीर्णता है वहाँ 'जन' शब्द में अति-व्याप्ति है। 'लोक' की सीमा बड़ी व्यापक है। उसमें ग्राम और नगर का समन्वय अटूट है। इसके अतिरिक्त इस शब्द के पीछे एक सुदृढ़ आधार भूमि भी है। अत: प्रयोग और परम्परा की दृष्टि से लोक शब्द ही अधिक उपयुक्त एवं प्रतिबिम्बात्म है। बल्कि पूर्व संस्कारों के कारण वह "फोक" से अधिक विशाल अर्थ को स्पर्श करने वाला है।

श्याम परमार ने 'लोक' शब्द पर विचार करते हुए लिखा है— "'लोक' साधारण जन-समाज है, जिसमें भू-भाग पर फैले हुए समस्त प्रकार के मानव सम्मिलित हैं। यह शब्द वर्ग-भेद रहित, व्यापक, एवं प्राचीन परम्पराओं की श्रेष्ठ राशि सहित अर्वाचीन सभ्यता-संस्कृति के कल्याणमय विवेचन का द्योतक है। भारतीय समाज में नागरिक एवं ग्रामीण दो भिन्न संस्कृतियों का प्राय: उल्लेख किया जाता

---

१. जनपद—(अक्टूबर १९५२)—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का लेख—पृ० ६५।
२. कविता कौमुदी (भाग ५)—उपशीर्षक—ग्रामगीत—पं० रामनरेश त्रिपाठी।
३. (i) हंस—(फरवरी ३६) हमारे ग्रामगीत। (ii) जीवन के तत्व एवं काव्य सिद्धांत—'ग्राम गीत का मर्म' शीर्षक लेख।
४. पृथिवी पुत्र—पृ० ८५।

है, किन्तु 'लोक' दोनों संस्कृतियों में विद्यमान है । वही समाज का गतिशील अंग है" ।[१]

लोक साहित्य के मर्मज्ञ एवं मनीषी डा० सत्येन्द्र ने 'लोक' को 'फोक' का पर्याय स्वीकार करते हुए 'लोक' की परिभाषा इस प्रकार दी है—

" 'लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य चेतना और पांडित्य के अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है । ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्त्व मिलते हैं वे 'लोक तत्व' कहलाते हैं ।"[२]

डा० सत्येन्द्र की उपर्युक्त परिभाषा अधिक सार्थक प्रतीत होती है । वास्तव में 'लोक' में एक दृष्टि प्रधान है । 'लोक' एक ऐसा समुदाय है जो आधुनिक सभ्यता एवं शिक्षा से वंचित होते हुए प्राचीन विश्वासों तथा अनुष्ठानों को सुरक्षित रखे हुए है ।

मेरी दृष्टि में 'लोक' ज्ञानाहं, बौद्धिक चेतना, सुसंस्कृत तथा परिष्कृत रुचि वाले मनुष्यों के समुदाय से इतर अभिजात संस्कार एवं शिक्षा से हीन एक ऐसा समुदाय है जो आदिम प्रवृत्तियों तथा परम्पराओं की धारा में बहता हुआ अकृत्रिम जीवन जीने में विश्वास रखता है । ऐसे लोक की अभिव्यक्ति जिन तत्त्वों के माध्यम से होती है वे 'लोक तत्त्व' कहलाते हैं ।

लोकवार्ता तथा 'फ़ोकलोर'—

'लोकवार्ता' शब्द अंग्रेजी के 'फोक लोर' (Folk lore) शब्द का अनुवाद है । Folk शब्द की उत्पत्ति Folc से हुई है जो एँग्लोसेक्सन शब्द है । जर्मनी में यह Volk रूप में प्रचलित है । यह शब्द असंस्कृत तथा अशिक्षित जाति एवं समाज का द्योतक है । डा० बार्कर ने लिखा है कि Folk से सभ्यता से दूर रहने वाली किसी पूरी जाति का बोध होता है परन्तु इसका यदि विस्तृत अर्थ लिया जाय तो किसी सुसंस्कृत राष्ट्र के सभी लोगों के लिए इसका प्रयोग होता है । Lore शब्द एँग्लोसेक्सन Lar से निकला है जिसका अर्थ है— जो सीखा जाय अर्थात् ज्ञान । अतः Folk lore शब्द का अर्थ हुआ—असंस्कृत लोगों का ज्ञान ।

पाश्चात्य यूरोपीय विद्वान् जान आब्रे ने सन् १६८७ ई० में अपनी पुस्तक 'रिमेंस आव जेंटिलिज्म एण्ड जुडाइज्म' में सर्व प्रथम साधारण जनता के रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार, रहन-सहन, धर्म और अन्धविश्वास, आदि का अध्ययन किया । इसके दो सौ वर्ष बाद जे० ब्रैंड ने अपनी पुस्तक 'आब्जरवेशन आन पापुलर एंटिक्विटीज' सन् १८७७ ई० में प्रकाशित की । एन्साइक्लोपीडिया ऑव सोशल

१. भारतीय लोक साहित्य—श्याम परमार—पृ० १० ।
२. लोक साहित्य विज्ञान—डा० सत्येन्द्र पृ० ३० ।

साइन्सेज[1] तथा डिक्शनरी ऑव फोकलोर[2] के अनुसार सन् १८४६ ई० में प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता विलियम जान थामस ने प्रथम बार 'फोकलोर' शब्द का निर्माण किया।[3] उन्होंने यह शब्द सभ्य जातियों में मिलने वाले असंस्कृत समुदाय की प्रथाओं, रीति-रिवाजों तथा मूढ़ ग्रहों को अभिव्यक्त करने के लिए गढ़ा था। फ्रेजर ने 'गोल्डेन बाउ' तथा टेलर ने 'प्रिमिटिव कल्चर' नामक पुस्तक में आदिम सभ्यता के उद्भव और विकास पर पर्याप्त प्रकाश डाला। जर्मन के ग्रिम बन्धुओं (विलियम ग्रिम और जेकब ग्रिम) का 'ग्रिम्स फेयरी टेल्स' के नाम से जर्मनी की लोक-कथाओं को एकत्र कर उनका वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करना एक अभूतपूर्व कार्य था। इसके अतिरिक्त इंगलैंड तथा अमेरिका में 'फोकलोर सोसायटी' का निर्माण भी किया गया।

'फोकलोर' का हिन्दी में पर्याय लोक ज्ञान तथा लोक विद्या ढूँढा गया। परन्तु 'लोकवार्ता' शब्द ही अधिक प्रचलित हुआ। सन् १९३० में श्री म० म० पोतदार ने मराठी में 'फोक लोर' के लिए 'लोक विद्या' शब्द सुझाया था जो अधिक प्रचार में न आ सका। श्री गो० म० कालेलकर ने 'लौकिक दन्त-कथा' का प्रयोग किया। मराठी के पारिभाषिक शब्द कोश में 'जनश्रुति' शब्द उपलब्ध है। 'फोकलोर' के लिये 'लोकवाङ्गमय' तथा 'लोक साहित्य' शब्द का भ्रमवश प्रयोग किया जाता रहा है।[4]

हिन्दी में लोकवार्ता शब्द को प्रचलित करने का श्रेय श्री कृष्णानंद गुप्त तथा डा० वासुदेवशरण अग्रवाल को है। डा० कृष्णानन्द गुप्त ने बुन्देलखण्ड के लोक वार्ता-पत्र के निवेदन में लिखा है—लोक वार्ता को अंग्रेजी में फोक् लोर कहते हैं। अथवा यह कहिए कि फोकलोर के लिए हमने 'लोकवार्ता' शब्द का प्रयोग किया है। 'फोकलोर' का प्रचलित अर्थ है जनता का साहित्य, ग्रामीण कहानी आदि।" डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने भी 'फोकलोर' का हिन्दी पर्याय 'लोक वार्ता' ही बताया है। उन्होंने इस शब्द का चयन 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' आदि वार्ता-ग्रंथों से किया है। डा० सत्येन्द्र ने भी 'लोकवार्ता' शब्द को स्वीकार करते हुए लिखा है—"लोक वार्ता शब्द विशद अर्थ रखता है। इसके अन्तर्गत वह समस्त आचार-विचार की सम्पत्ति आ जाती है, जिसमें मानव का परम्परित रूप प्रत्यक्ष हो उठता है और

---

१. एन्साइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइंसेज—पृ० २८८ (जिल्द ५)।
२. डिक्शनरी ऑव फोकलोर (भाग १) मेरिया लीच—पृ० ४०३।
३. लन्दन से प्रकाशित एक मासिक पत्रिका ATHENAEUM के सम्पादक के नाम एक पत्र में थामस ने 'फोकलोर' शब्द का प्रयोग २२ अगस्त १८४६ को किया। उन्होंने उस पत्र में लिखा, "इस बात का स्मरण रखिए कि 'फोकलोर' पारिभाषिक शब्द से प्रथम परिचय कराने का श्रेय मुझे उसी भाँति है जिस भाँति कि इस देश के साहित्य में 'फादर लैंड' (पितृ भूमि) शब्द के प्रचलन के लिए डिजरेली को।"
४. भारतीय लोक साहित्य—श्याम परमार—पृ० १४ से उद्धृत।

जिसके स्रोत लोक मानस होते हैं, वे लोक मानस जिनमें परिमार्जन अथवा संस्कार की चेतना काम नहीं करती होती। लौकिक, धार्मिक, विश्वास, धर्म गाथाएँ तथा कथाएँ, लौकिक गाथाएँ तथा कथाएँ, कहावतें, पहेलियाँ आदि सभी लोक वार्ता के अंग हैं।[१]

डा० भोलानाथ तिवारी[२] तथा कृष्णदेव उपाध्याय[३] ने लोक वार्ता शब्द को अवाचक तथा अव्याप्ति दोष के कारण ग्रहण नहीं किया। उनका कथन है कि लोक वार्ता शब्द में केवल लोक कथा या लोक चर्या का भाव वहन करने की क्षमता है। अतः डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने 'फोक लोर' का पर्याय 'लोक संस्कृति' शब्द को स्वीकार किया है। उनके अनुसार 'लोक संस्कृति' के अन्तर्गत जन जीवन से सम्बन्धित जितने आचार-विचार, विधि-निषेध, विश्वास, प्रथा, परम्परा, धर्म, मूढ़ाग्रह, अनुष्ठान आदि हैं, वे सभी आते हैं।—……अतः 'लोक संस्कृति' शब्द 'फोक लोर' के व्यापक तथा विस्तृत अर्थ को प्रकाशित करने में सर्वथा समर्थ है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी 'लोक संस्कृति' शब्द के पक्ष में हीं अपना मत दिया है।

डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने 'फोकलोर' के लिए 'लोकयान' शब्द को चुना है।[४] जो हीनयान, महायान आदि शब्दों के अनुकरण पर है। इस शब्द से धर्म का तो बोध हो जाता है परन्तु रीति-रिवाज, अन्ध-विश्वास, परम्परा एवं प्रथा का कोई बोध नहीं होता। कुछ विद्वानों ने 'लोकायन' शब्द की ओर भी संकेत किया है[५] परन्तु ये शब्द 'फोकलोर' के विस्तृत एवं व्यापक अर्थ को प्रकाशित करने में नितांत असमर्थ हैं।

'फोकलोर' के पर्याय के रूप में हिन्दी में दो ही शब्द अधिक प्रचलित हैं। १. लोक वार्ता और २. लोक संस्कृति। 'लोक संस्कृति' से 'लोक वार्ता' शब्द और अधिक प्रचलित है। वास्तव में 'लोक वार्ता, शब्द में दम भी है। यह सही है कि वार्ता शब्द के कई अर्थ प्राचीन काल में प्रचलित रहे हैं जैसा कि डा० श्रीकृष्णदेव उपाध्याय ने कहा है। परन्तु उपाध्याय जी जिस 'लोक सस्कृति' शब्द को महत्त्व देते हुए उसका जो अर्थ करते हैं उसी अर्थ में आज 'लोक वार्ता' का अर्थ रूढ़ हो गया है। वास्तव में 'लोक संस्कृति' शब्द मूलतः 'फोक कल्चर' का विशुद्ध पर्याय है।

---

१. ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन—विषय प्रवेश—पृ० २।
२. सम्मेलन पत्रिका—लोक संस्कृति विशेषांक (चैत्र आषाढ़ सं० २०१०) पृ० ४३६।
३. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षोडश भाग)—प्र० सं० राहुल जी—पृ० ११।
४. वही—पृ० ११।
५. राजस्थानी कहावतें (भाग १) २००६, भूमिका पृ० ११, कलकत्ता।
६. 'जनपद'—(खंड १) अंक १ पृ० ६६।

डा० उपाध्याय इसे इसलिए महत्त्व देते हैं कि यह शब्द हिन्दी में चिरपरिचित है और हिन्दी में पहले से विद्यमान है। परन्तु डा० उपाध्याय यह भी जानते हैं कि यह उस अर्थ में प्रचलित नहीं था जिस अर्थ में आज वे ले रहे हैं। 'लोक' भी हमारे यहाँ पहले से था परन्तु आज उसका वह अर्थ नहीं जो पहले था। इसलिए 'लोकसंस्कृति' को ही समीचीन मानना समीचीन नहीं।[1] डा० उपाध्याय अंग्रेजी में Folk lore और Folk Culture में 'विशेष' अन्तर नहीं मानते परन्तु उसके 'साधारण' अन्तर को नकार नहीं सके। इसलिए हम तो 'लोकवार्ता' को ही महत्त्व देकर Folk lore और Folk Culture के स्पष्ट अन्तर को देखना चाहते हैं।

Folk lore का प्रचलित अर्थ है जनता का साहित्य या ग्रामीण कहानी। "हम उसका अर्थ करते हैं जनता की वार्ता। जनता जो कुछ कहती और सुनती अथवा उसके विषय में जो कुछ कहा और सुना जाता है वह सब लोकवार्ता है। जिस प्रकार प्रत्येक देश की अपनी एक भाषा होती है उसी प्रकार अपनी एक लोकवार्ता भी होती है। जनता के मानस में लोकवार्ता का जन्म होता है। अतएव किसी एक देश की लोकवार्ता को पूरा और विधिवत् संग्रह किया जाए तो वहाँ के निवासियों की अतीत से लेकर अब तक की बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक अवस्था का एक सम्पूर्ण चित्र हमारे समक्ष उपस्थित हो जाएगा।"[2]

अतः हमने 'फोकलोर' का पर्याय 'लोकवार्ता' ग्रहण किया है और हमारे इस मत को श्री कृष्णानन्द गुप्त, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, डा० सत्येन्द्र, डा० श्याम परमार आदि विद्वानों का आधार प्राप्त है।

वास्तव में 'लोकवार्ता' शब्द हिन्दी में अपना दृढ़ स्थान निश्चित कर चुका है। सन् १९४५-४६ ई० में 'लोकवार्ता-परिषद' टीकमगढ़ से हिन्दी में 'लोकवार्ता' नाम की एक पत्रिका निकाली गई थी। तभी से हिन्दी जनता इस शब्द से परिचित है। अतः नवीन शब्दों का सुझाव और आग्रह 'लोकवार्ता' की दृढ़ आस्था को कम नहीं कर सकता। हमारी समझ में लोकवार्ता शब्द 'फोकलोर' से अधिक विस्तृत भावों को ध्वनित करने की शक्ति रखता है।

---

१. यहाँ तक कि डा० उपाध्याय ने डा० सत्येन्द्र के ही उद्धरणों में आए (ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन विषय प्रवेश पृ० ५ पर) 'लोकवार्ता' शब्द के स्थान पर हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास—षोडश भाग—पृ० १३) पर 'लोक संस्कृति' शब्द का प्रयोग किया है। जब कि वे डा० सत्येन्द्र के कथनों को उद्धृत कर रहे हैं। उसमें उनका इस प्रकार का परिवर्तन आश्चर्यजनक है।

२. श्री कृष्णानंद गुप्त का मत—ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन—डा० सत्येन्द्र—पृ० २ (विषय प्रवेश) से उद्धृत।

लोकवार्ता की परिभाषा—

श्री जे० एल० मिश ने लोकवार्ता (फोकलोर) की परिभाषा इस प्रकार दी है—"ऐसे सभी प्राचीन विश्वासों, प्रथाओं और परम्पराओं का सम्पूर्ण योग, जो सभ्य समाज के अल्प शिक्षित लोगों के बीच आज तक प्रचलित है, 'फोकलोर' है। इसकी परिधि में परियों की कहानियाँ, लोकानुभूतियाँ, पुराण गाथाएँ, अन्धविश्वास, उत्सव-रीतियाँ, परम्परागत खेल या मनोरंजन, लोकगीत, प्रचलित कहावतें, कला, कौशल, लोकनृत्य और ऐसी अन्य सभी बातें सम्मिलित की जा सकती हैं।"[1]

'फोकलोर' की व्यापक और वैज्ञानिक परिभाषा श्रीमती शार्लट सोफिया बर्न ने अपनी पुस्तक 'द हैंड बुक आव फोकलोर' में दी है। डा० सत्येन्द्र ने श्रीमती बर्न की परिभाषा को अधिक महत्त्व देते हुए उसे अपने शब्दों में इस प्रकार उद्धृत किया है।

"यह एक जातिबोधक शब्द की भाँति प्रतिष्ठित हो गया है। जिसके अन्तर्गत पिछड़ी जातियों में प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत समुन्नत जातियों के असंस्कृत समुदायों में अवशिष्ट विश्वास, रीतिरिवाज, कहानियाँ, गीत तथा कहावतें आती हैं।.........
लोकवार्ता वस्तुतः आदिम मानव की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है, वह चाहे दर्शन, धर्म, विज्ञान तथा औषध के क्षेत्र में हुई हो, चाहे सामाजिक संगठन तथा अनुष्ठानों में, अथवा विशेषतः इतिहास, काव्य और साहित्य के अपेक्षाकृत बौद्धिक प्रदेश में!"[2]

श्रीमती वायोलट एलफोर्ड के अनुसार, " 'फोकलोर' एक मिला जुला-शब्द है जिसका अभिप्राय होता है 'जनसाधारण का ज्ञान वैभव'।"[3]

मेक् एडवर्ड लोच के मत में—"लोकवार्ता एक संज्ञात्मक शब्द है जो किसी भी एक जातीय, कृत्रिमता-वियुक्त जनसमूह के समग्र संचित ज्ञान-भांडार अर्थात् उसके रीति-रिवाज, लोक-विश्वास, लोक-परम्पराओं, लोक-कथाओं, जादू-टोने की क्रियाओं, लोकोक्तियों, लोकगीत इत्यादि का परिचायक है, जो कि न केवल उसे साधारण भौतिक बन्धनों से परस्पर आबद्ध रखता है, बल्कि जिसके बीच भावात्मक एकता के सूत्र भी हैं, जो उनकी हर अभिव्यंजना को न केवल अपने रंग में अनुरंजित कर लेते हैं, बल्कि उन्हें निराली और निजी विशिष्टता भी प्रदान करते हैं।"[4]

---

१. स्टैन्डर्ड डिक्शनरी आव फोकलोर माइथोलोजी एन्ड लीजेन्ड—(भाग १) पृ० ४०१।
२. ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन—(विषय प्रवेश)—पृ० ४-५ तथा विस्तार के लिए देखिए बर्न की हैन्डबुक आव फोकलोर—पृ० ४, ५।
३. इन्ट्रोडक्शन टु इंगलिश फोकलोर—पृ० १।
४. स्टैन्डर्ड डिक्शनरी आव फोकलोर माइथोलोजी एन्ड लीजेन्ड—(भाग १) पृ० ४०१।

इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि 'फोकलोर' राष्ट्र की एकता तथा एक जातीयता का मूल आधार है। साथ ही वह जातीय लोक-मानस का प्रतिनिधित्व भी करता हैं।

प्रसिद्ध नृतत्व-शास्त्री एम० डब्ल्यू० स्मिथ के अनुसार 'फोकलोर' की परिभाषा देना अत्यन्त कठिन है। उनका कथन है—"सबसे अधिक बुद्धिमानी की बात यह होगी कि हम 'फोकलोर' की परिभाषा केवल उस मौखिक सामग्री के अध्ययन को मान लें, जो कि किसी भी विधा में, जनसमुदाय में पाई जाती है।"[१]

फोकलोर सोसायटी की प्रथम बैठक में बोलते हुए श्री एन्ड्रयूलैंग ने कहा कि लोकवार्ता को संस्कृति के अवशिष्टों का अध्ययन मानना चाहिए। संस्कृति के अवशिष्टों से उनका तात्पर्य उन विश्वास आदि सांस्कृतिक तत्वों से है जो आदिम सभ्यता के चिन्ह स्वरूप आज की शिष्ट सभ्यता से चिपके रह गए हैं। अथवा वे तत्व जो आज भी आदिम, अविकसित जातियों में सजीव रूप से विद्यमान हैं।[२]

अपने प्रबल तर्कों तथा ओजस्वी शब्दों से 'लोकवार्ता' को विज्ञान का स्थान देने वाले विद्वान गाम्मे महोदय ने 'फोकलोर' की परिभाषा इस प्रकार दी—"लोक-वार्ता के अन्तर्गत वह समस्त संस्कृति आ जाती है जो 'जन' से सम्बन्ध रखती है और जो शास्त्रीय धर्म तथा इतिहास में परिणत नहीं हो गई है और जो सदा अपने आप बढ़ती रही है। सभ्य समाज में इस संस्कृति का प्रतिनिधित्व परम्परा से चले आते हुए अपरिमार्जित विश्वास तथा प्रथाएँ करती हैं। असभ्यों में यह सस्कृति उनके जीवन का अंग बनी होती है। इन्हीं की शोध और इन्हीं का संग्रह लोकवार्ता में होता है।

ई० बी० टेलर ने अपनी पुस्तक 'प्रिमिटिव कल्चर' (१८७१-प्रथम संस्करण) में लोकवार्ता के सम्बन्ध में लिखा है कि लोकवार्ता के अन्तर्गत अवशिष्टों का अध्ययन किया जाता है। अवशिष्ट उन तथ्यों के समूह का नाम है जो प्रगति, प्रथा और सम्मति से बने हों और जो अपने उत्पत्ति-स्थान (असभ्य अवस्था) से चलकर समाज में प्रविष्ट हो गए हैं।[3]

बोटकिन ने अपनी पुस्तक 'अमेरिकन फोकलोर' की भूमिका में लिखा है—लोकवार्ता अत्यधिक दूर और अत्यन्त प्राचीन कोई वस्तु नहीं है वह तो हमारे मध्य सत्य और जीवित है क्योंकि यहाँ भूतकाल को वर्तमान से और पुस्तकहीन समाज को उस समाज से कुछ कहना है जो अपने ही विषय में पढ़ना चाहता है, जिसका सम्बन्ध हमारे

---

१. स्टैन्डर्ड डिक्शनरी आव फोकलोर-माइथोलोजी एन्ड लीजेन्ड—पृ० ४०२।
२. रामचरित मानस में लोकवार्ता—चन्द्रभान—पृ० ७ से उद्धृत।
३, वही, पृ० ८ से उद्धृत।

मौखिक और लोकतांत्रिक संस्कृति की मूल कलाओं के प्रारम्भिक रूपों और इतिहास के एक अंग के प्रकाश से है।

लेनिन ने भी कहा—लोकवार्ता जन की आशाओं और आत्मभावों (स्नेह-सम्बन्धों) से सम्बन्धित सामग्री है।

महात्मा गांधी ने लोकवार्ता को लोगों का साहित्य बताते हुए लिखा है—"लोकवार्ता लोगों का साहित्य है, पर वह लुप्त होती हुई सामग्री, यदि अब तक नष्ट न हो चुकी हो, से सम्बन्धित है।"[1]

प्रसिद्ध लोकवार्ता-शास्त्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के मत में—"लोकवार्ता एक जीवित शास्त्र है—लोक का जितना जीवन है उतना ही लोकवार्ता का विस्तार है। लोक में बसने वाला जन, जन की भूमि और भौतिक जीवन तथा तीसरे स्थान में उस जन की संस्कृति—इन तीन क्षेत्रों में लोक के पूरे ज्ञान का अन्तर्भाव होता है, और लोकवार्ता का सम्बन्ध भी उन्हीं के साथ है।"[2]

श्याम परमार के शब्दों में—" 'लोक' की अपरिमित शक्ति, साहस, मनोभाव, मान्यताएँ, विश्वास, रागद्वेष, परम्पराएँ, अड़ाके, टोने-टोटके, अनुष्ठान, रीतिरिवाज, परम्पराएँ, गीत-कथाएँ, वेशभूषा आदि संयुक्त रूप से लोकवार्ता के चेतन अस्तित्व की घोषणा करते हैं।" आगे उन्होंने लिखा है कि "लोकवार्ता केवल प्राचीन अवशेष मात्र रूढ़ियों का अध्ययन ही प्रस्तुत नहीं करता वरन् जीवित लोकभावों, लोकाभिव्यक्तियों एवं उनकी प्रवहमान प्रक्रियाओं का भी अध्ययन करता है।"[3]

अतः लोकवार्ता लोकमानस की आधार भूमि पर प्रतिष्ठित है और यह लोकमानस किसी जातीय विशिष्टताओं से युक्त होकर धार्मिक, भौगोलिक तथा ऐतिहासिक तत्वों के साथ अभिजात समाज में अपनी इस संस्कृति का परम्परागत प्रथा एवं विश्वास के रूप में प्रतिनिधित्व करते हुए आज भी आदिम अविकसित मनुष्यों के समुदाय में सजीव रूप से विद्यमान है।

जातीय विशिष्टताओं से हमारा तात्पर्य लोकसमुदाय के जीवन एवं चिन्तन प्रणाली के विविध रूपों से है जैसे—रीतिरिवाज, धार्मिक संस्कार, उत्सव-त्यौहार, जादू-मंत्र, आचार-विचार, प्रथाएँ तथा अन्धविश्वास आदि। इस प्रकार लोकवार्ता किसी विशेष अंचल के जनजीवन तथा संस्कृति के स्वाभाविक प्रवाह से सम्बन्धित है। डा० सत्येन्द्र के शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि लोक की मानसिक सम्पन्नता के अन्तर्गत जो भी वस्तु आ सकती है वह इसके (लोकवार्ता के) क्षेत्र में है।[4]

---

१. भारतीय लोकसाहित्य—श्याम परमार पृ० १७-१६ से उद्धृत।
२. पृथिवी पुत्र—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—पृ० ८५।
३. भारतीय लोकसाहित्य—पृ० १७।
४. ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन (विषय प्रवेश) पृ० ५।

धर्मगाथा, लोकवार्ता तथा लोकसाहित्य—

किसी समाज की लोकसंस्कृति जब विश्वास, आचरण और रीतिरिवाज तथा कहानी, गीत एवं कहावतों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है तो लोकवार्ता का रूप धारण करती है। अतः लोकवार्ता एवं लोकसंस्कृति में अन्तर है।

अंग्रेजी के फोकलोर और फोकलिटरेचर में जो अन्तर है वही अन्तर लोकवार्ता और लोकसाहित्य में है। वास्तव में लोकवार्ता का एक अंग लोकसाहित्य है। "लोकवार्ता में केवल वही लोकसाहित्य समाविष्ट होता है जो लोक की आदिम परम्परा को किसी न किसी रूप में सुरक्षित रखता है। इस लोकवार्ता साहित्य का मूल्य केवल साहित्य की दृष्टि से उतना नहीं होता जितना उनमें सुरक्षित परम्पराओं की दृष्टि से होता है जो नृ-विज्ञान के किसी पहलू पर प्रकाश डालती हैं। इस साहित्य को हम आदिम मानव की आदिम प्रवृतियों का कोष कह सकते हैं। इस प्रकार के लोकसाहित्य की व्याख्या करने में जब यह विदित हो कि उनके मूल में किसी भौतिक तत्व का ही प्रतिबिम्ब है, कि आदिम मानव ने सूर्य और अन्धकार के संघर्ष को अथवा सूर्य और ऊषा के प्रेम को अथवा साहचर्य को ही विविध रूपकों द्वारा साहित्य का रूप प्रदान कर दिया है, तो उसका यह रूप धर्मगाथा का रूप ग्रहण कर लेता है। तात्पर्य यह है कि लोकसाहित्य का वह अंग जो रूप में प्रकटतः तो होता है कहानी पर जिसके द्वारा अभीष्ट होता है किसी ऐसे प्राकृतिक व्यापार का वर्णन जो साहित्य-सृष्टा ने आदिम काल में देखा था और जिसमें धार्मिक भावना का पुट भी है—वह धर्मगाथा कहलाता है। इसके अतिरिक्त समस्त प्राचीन मौखिक परम्परा से प्राप्त कथा तथा गीत साहित्य भी लोकसाहित्य कहलाता हैं। धर्मगाथाएँ भी हैं तो लोकसाहित्य ही, किन्तु विकास की विविध अवस्थाओं में से होती हुई ये गाथाएँ धार्मिक अभिप्राय से सम्बद्ध हो गई हैं। अतः लोकसाहित्य के साधारण क्षेत्र से इनका स्थान बाहर हो जाता है।"[1]

डा० सत्येन्द्र के उपर्युक्त कथन से पहली बात यह स्पष्ट हो जाती है कि लोकवार्ता का प्रमुख तत्व परम्परा है। परम्परा का तात्पर्य मौखिक तथा अलिखित परम्परा से है। परन्तु यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि इस प्रकार की समस्त परम्परा को लोकवार्ता नहीं माना जा सकता। परम्परा की वस्तु होते हुए भी यह कहना पूर्णतः ठीक नहीं कि लोकवार्ता सदा मौखिक तथा अलिखित होती है। कई लिखित ग्रन्थ (कथा सरित्सागर, आल्हा आदि) ऐसे हैं जिनमें लोकवार्ता के प्रचुर तत्व मिलते

---

१. ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन—पृ० ५-६. (विषय प्रवेश)

हैं। इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि लोकवार्ता का स्वरूप आरम्भ में मौखिक रहा होगा। इसका जन्म लिखे जाने के लिऐ नहीं होता वरन् यह मानव की सह-जात अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होता है। जैसे ही यह प्रकट होकर लोक ग्राह्य हो जाता है तब यह किसी व्यक्ति विशेष का न होकर लोकमात्र की वस्तु बन जाता हैं। इसलिए लोकवार्ता को केवल मौखिक बतलाना उसके क्षेत्र को सकुचित करना है।

दूसरी बात यह सामने आती है कि केवल आदिम कही जाने वाली जातियों की परम्पराओं को ही लोकवार्ता नहीं कहा जाता वरन् उस जैसी मनोवृति के परिणाम से उत्पन्न सभ्य से सभ्य समाज की परम्परा और अभिव्यक्ति भी इसके अन्तर्गत आएगी।

लोकवार्ता में जहाँ लोकगीत, लोककथाएँ, लोकोक्तियाँ, प्रहेलिकाएँ आदि आती हैं वहीं लोकविश्वास, जादूटोना, रीतिरिवाज, परम्परागत लोकनृत्य एवं कला आदि भी आजाते हैं।

तीसरी बात धर्मगाथा तथा लोकसाहित्य के सम्बन्ध की है। लोकवार्ता-साहित्य धर्मगाथा साहित्य से ही प्रेरणा प्राप्त कर उदित हुआ है। धर्मगाथा साहित्य ही उसका मूल आधार है।[१] एक स्थान पर डा० सत्येन्द्र ने इसी बात को और स्पष्ट करते हुए कहा है—"साधारण लोकसाहित्य में यद्यपि धर्मगाथा के समान समस्त रूप मिल सकता है पर उसमें उस विशिष्ट अर्थ की अन्तर्व्याप्ति नहीं मिलती जिससे उसका समस्त कथानक मूल बीज के रूप में प्राकृतिक व्यापार का कोई अंग बन सके। अत: लोकसाहित्य का यह धर्मगाथा सम्बन्धी अंश एक पृथक् ही अन्वेषण का विषय है।"

इस प्रकार डा० सत्येन्द्र ने लोकवार्ता का अत्यन्त ही वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। यों तो श्याम परमार[२] तथा डा० वासुदेवशरण अग्रवाल[३] ने भी लोकवार्ता को शास्त्र स्वीकार किया है परन्तु जो विवेचन एवं विश्लेषण की वैज्ञानिक पद्धति अपना कर डा० सत्येन्द्र ने लोकवार्ता का अध्ययन किया है वह निस्सन्देह अनुकरणीय है। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि लोकवार्ता विज्ञान है।[४]

लोकवार्ता के विषय—

डा० सत्येन्द्र ने सोफिया बर्न के आधार पर लोकवार्ता के विषय को तीन भागों में विभक्त किया है—

---

१. विस्तार के लिए देखिए 'ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन'—विषय प्रवेश—पृ० ७-१४
२. भारतीय लोकसाहित्य—पृ० १५-१६।
३. पृथिवी पुत्र पृ० ८५।
४. ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन—विषय प्रवेश—पृ० ३६।

१ – वे विश्वास और आचरण-अभ्यास जो सम्बन्धित हैं—

१. पृथ्वी और आकाश से
२. वनस्पति जगत से
३. पशु जगत से
४. मानव से
५. मनुष्य निर्मित वस्तुओं से
६. आत्मा तथा दूसरे जीवन से
७. परामानवी व्यक्तियों से (जैसे देवताओं, देवियों तथा ऐसे ही अन्यों से)
८. शकुनों-अपशकुनों, भविष्यवाणियों, आकाशवाणियों से
९. जादू टोनों से
१०. रोगों तथा स्थानों की कला से

२—रीति-रिवाज—

१. सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाएँ
२. व्यक्तिगत जीवन के अधिकार
३. व्यवसाय-धन्धे तथा उद्योग
४. तिथियाँ, व्रत तथा त्यौहार
५. खेलकूद तथा मनोरंजन

३—कहानियाँ, गीत तथा कहावतें—

१. कहानियाँ :
   (अ) जो सच्ची मानकर कही जाती हैं।
   (आ) जो मनोरंजन के लिए होती हैं।
२, गीत : सभी प्रकार के
३. कहावतें तथा पहेलियाँ
४. पद्यबद्ध कहावतें तथा स्थानीय कहावतें।[1]

श्याम परमार ने मोटे तौर पर लोकवार्ता के विषय को उपर्युक्त आधार पर निम्न रूप में वर्गीकृत किया है :—

१. लोकगीत, लोककथाएँ, कहावतें, पहेलियाँ आदि।
२. रीति-रिवाज, त्यौहार, पूजा-अनुष्ठान, व्रत आदि।
३. जादू-टोना, टोटके, भूत-प्रेत सम्बन्धी विश्वास आदि।
४. लोकनृत्य तथा नाट्य तथा आंकिक अभिव्यक्ति।
५. बालक-बालिकाओं के विभिन्न खेल, ग्रामीण एवं आदिवासियों के खेल आदि।[2]

---

१. ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन—विषय प्रवेश—पृ० ६-७।
२. भारतीय लोकसाहित्य—पृ० २०।

लोकवार्ता के सम्प्रदाय—

लोकवार्ता के तीन मुख्य सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। पहला, भारतिक सम्प्रदाय; दूसरा, मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय और तीसरा मानविक सम्प्रदाय।

१. भारतिक सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के विचारक संस्कृत के विद्वान् भाषा-वैज्ञानिक तथा मानविक रहे हैं। इस सम्प्रदाय के विद्वानों ने भारत की लोकवार्ता की मौलिक परम्पराओं को संस्कृत के तथा भाषाविज्ञान के सूत्रों के माध्यम से जानकर लोकवार्ता के अध्ययन की महत्वपूर्ण सामग्री एकत्र की है। "लोकवार्ता के विविध अभिप्राय अथवा रूढ़तन्तु कब-कब और कहाँ तक विद्यमान मिलते हैं और उनके तथा विविध तन्तुओं और मुहावरों के अर्थों में क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं।"[1] इस बात को इस सम्प्रदाय के विद्वानों ने बताने का प्रयास किया है क्योंकि इसके बिना लोकवार्ता का वैज्ञानिक अध्ययन असंभव है।

२. मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय—इसका संबन्ध समाजशास्त्रीयता से है। इस सम्प्रदाय के विद्वान भी भारतिक सम्प्रदाय की भाँति भाषाविज्ञान की सहायता अवश्य लेते हैं। भारतिक सम्प्रदाय लिखित भाषा के लोकवार्ता-तत्व को प्रधानता देता है और मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय मौखिक तत्व को प्राथमिकता देता है। यही कारण है कि इस सम्प्रदाय के अध्ययन का विषय वर्तमान भाषावर्गों से सम्बन्धित लोकवार्ता हो गया है। इस सम्प्रदाय ने नए-नए भाषावर्गों के क्षेत्रों का अनुसंधान कर लोकवार्ता विषयक मौलिक तत्वों का उद्घाटन किया है।

३. मानविक सम्प्रदाय—"यह लोककथाओं के संग्रह और विविध कथाओं के अधिकाधिक संस्करणों को प्राप्त करने तथा उनका वर्गीकरण कर लोकवार्ता के तुलनात्मक अध्ययन को महत्त्व देता है। यह लिखित अथवा मनीषी साहित्य की भाँति अलिखित लोकवार्ता की स्वतन्त्र स्थिति और विकास को मान्यता देता है।[2]

साहित्य और लोकतत्व—

लोकवार्ता तथा साहित्य में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। वास्तव में साहित्य के जो विविध रूप हैं वे जातीय विशिष्टताओं के ही परिणाम हैं और ये जातीय विशिष्टताएं प्रत्येक लोकसमुदाय के जीवन के विविध रूपों का समूह होती हैं। ये

---

१. हिन्दी साहित्य कोश (भाग १)—पृ० ७५३।

२. वही। (इसका अध्ययन आगे विस्तार से किया जाएगा।)

लोकमानस में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण तत्व रहे हैं। "साहित्य एक व्यापक तत्व है और लोकतत्त्व की परिव्याप्ति का विस्तार भी कम नहीं। यदि साहित्य को मानव-मन की अनुभुतियों का इन्द्रधनुषी प्रतिबिम्ब कहें तो उसमें परिव्याप्त लोकतत्व को, उसकी सूक्ष्मतम अन्तरंग सतरंगिणी आशा का मूल कहा जाना चाहिए। साहित्य में लोकतत्त्व की यह परिव्याप्ति इतनी अन्तरंगिणी और सूक्ष्म है कि उसमें सतत् विद्यमान रहने पर भी वह प्राय: अप्रतीत बनी रहती है।.........वस्तुत: साहित्य अपने आविर्भाव के आदिकाल में, लोकतत्व के अत्यन्त सान्निध्य में रहा था, या वैज्ञानिक दृष्टि से कहें तो उसमें तादात्म्य किए हुए था।.........साहित्य एवं लोकतत्व अविभाज्य तत्व हैं और साहित्य में लोकतत्त्व की परिव्याप्ति भी शाश्वत एवं चिरस्थायी सत्य है।"[1]

साहित्य की विविध विधाओं में भी लोकतत्व का स्वरूप सरलता से देखा जा सकता है। गीतकाव्य, नाट्य आदि विधाएँ लोक-मानस से गहरा सम्बन्ध स्थापित किए हुए हैं। जहाँ साहित्य को लोकवार्ता ने प्रभावित किया है वहाँ लोकवार्ता को साहित्य ने भी प्रभावित किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"भारतीय साहित्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण भाव, लोकसाहित्य पर आधारित था। कहना व्यर्थ है कि यहाँ के लोककथानकों का अध्ययन बहुत सहज नहीं है। न जाने कितनी बार वह साहित्य, उपरले स्तर के ग्रन्थों से प्रभावित हुआ है और कितनी बार उसने उसे प्रभावित भी किया है।"[2]

जब भी किसी साहित्यकार को जनता से निकट का सम्पर्क तथा सम्बन्ध स्थापित करना पड़ा है, निश्चय ही उसने लोकवार्ता के तत्वों से अपने साहित्य को सुसज्जित किया है। वास्तव में लोकतत्वों की सहायता से ही अभिजात साहित्य की रचना लोक संस्कृति का दर्शन कराने के लिए ही की गई है। यही कारण है कि कभी-कभी अभिजात साहित्य को लोकवार्ता के तत्वों ने ही पल्लवित किया है।

●

---

१. हिन्दी उपन्यासों में लोकतत्त्व—डा० इन्दिरा जोशी—पृ० ३।
२. विचार और वितर्क—आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—पृ० २०१ (द्वितीय संस्करण)

२ | लोकसाहित्य

लोकसाहित्य की परिभाषा—

डा० सत्येन्द्र ने लोकसाहित्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"लोकसाहित्य के अन्तर्गत वह समस्त बोली या भाषागत अभिव्यक्ति आती है जिसमें

(अ) आदिम मानस के अवशेष उपलब्ध हों,

(आ) परम्परागत मौखिक क्रम से उपलब्ध बोली या भाषागत अभिव्यक्ति हो जिसे किसी की कृति न कहा जा सके, जिसे श्रुति ही माना जाता हो, और जो लोकमानस की प्रवृत्ति में सामायी हुई हो;

(इ) कृतित्व हो किन्तु वह लोकमानस के सामान्य तत्वों से युक्त हो कि उसके किसी व्यक्तित्व के साथ सम्बद्ध रहते हुए भी, लोक उसे अपने ही व्यक्तित्व की कृति स्वीकार करे।"[१]

डा० सत्येन्द्र ने 'मानस' शब्द का प्रयोग सोकोलोव वाई० एम० की 'रशन फोकलोर' नामक पुस्तक में प्रयुक्त 'संस्कृति' शब्द के स्थान पर किया है। इस पुस्तक का अँग्रेजी अनुवाद न्यूयार्क से सन् १९५० ई० में प्रकाशित हुआ। इसके अनुवादक हैं--केथेराइन रूथ स्मिथ। सोकोलोव ने लोकवार्ता की प्रवृत्ति पर विचार करते हुए लिखा है कि "लोकवार्ता की वस्तु और रूप में प्राचीन संस्कृतियों के अवशेषों की उपस्थिति न मानना असम्भव हैं।" इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि लोकवार्ता में प्राचीन संस्कृतियों के अवशेष अवश्य होते हैं। यही लोकसाहित्य का प्रथम तत्व है। इसी 'संस्कृति' शब्द के स्थान पर डा० सत्येन्द्र ने 'मानस' शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द के प्रयोग का भी एक कारण है। डा० सत्येन्द्र ने लोकसाहित्य को वाणीगत अभिव्यक्ति माना है[२] और इस वाणीगत अभिव्यक्ति में संस्कृति की छाप को सुरक्षित रखने वाला तत्व यही है। इसी मानस के अनुकूल लोकसाहित्य की वस्तु और रूप प्रकट होते हैं। इसीलिए 'आदिम मानस' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'आदिम' शब्द अँग्रेजी के 'प्रिमिटिव'

---

१. लोकसाहित्य विज्ञान—डा० सत्येन्द्र—पृ० ४-५।
२. वही—पृ० ४।

का पर्याय है। ऐतिहासिक दृष्टि से 'आदिमानव' में जो गुण, धर्म एवं विशेषताएँ होंगी उसी का द्योतक यह शब्द है। ये गुण, धर्म तथा विशेषताएँ आदिम जातियों में तो प्रत्यक्ष रूप से होंगी ही परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से अत्यन्त सभ्य जातियों में भी होंगी। कितना ही सभ्य से सभ्य व्यक्ति क्यों न हो उसके भीतर कहीं न कहीं आदिम संस्कार अवश्य मिलेंगे। इसी आदिम मानस से लोकवार्ता तथा लोकसाहित्य का घनिष्ट सम्बन्ध है।

अतः आदिम मानव के मस्तिष्क की सीधी तथा सच्ची अभिव्यक्ति ही लोकवार्ता तथा लोकसाहित्य है। हमारे विचार में लोकसाहित्य लोकसमूह द्वारा स्वीकृत व्यक्ति की परम्परागत मौखिक क्रम से प्राप्त वह वाणी है जिसमें लोकमानस संगृहीत रहता है।

लोकसाहित्य का क्षेत्र—

लोकसाहित्य का क्षेत्र अत्यन्त ही व्यापक तथा विस्तृत है। साधारण जनता का हँसना, रोना, गाना, खेलना, कूदना सभी लोकसाहित्य के अन्तर्गत आ जाता है। पुत्रोत्पत्ति से लेकर मरणपर्यन्त तक माने हुए सोलह संस्कारों के अवसरों पर गाए जाने वाले गीत लोकसाहित्य की अमूल्य निधि ही है। लोकसाहित्य जनता की गोद में पलकर ही बड़ा होता है। एक समय था जब जनता की सरलता, स्वाभाविकता तथा स्वच्छन्दता से यह साहित्य विभूषित रहता था। वह आडम्बर और कृत्रिमता से कोसों दूर था। "वह साहित्य उतना ही स्वाभाविक था जितना जंगल में खिलने वाला फूल, उतना ही स्वच्छन्द था जितना आकाश में विचरने वाली चिड़िया, उतना ही सरल तथा पवित्र था जितना गंगा की निर्मल धारा। उस समय के साहित्य का जो अंश आज अवशिष्ट तथा सुरक्षित रह गया है वही हमें लोकसाहित्य के रूप में उपलब्ध होता है।

सभ्यता के प्रभाव से दूर रहने वाली, अपनी सहजावस्था में वतमान जो निरक्षर जनता है उसकी आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, जीवन-मरण, लाभ-हानि, सुख-दुख आदि की अभिव्यंजना जिस साहित्य में होती है उसी को लोकसाहित्य कहते हैं। इस प्रकार लोकसाहित्य जनता का वह साहित्य है जो जनता द्वारा, जनता के लिए लिखा गया हो।"[१]

इस प्रकार लोकसाहित्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाता है। अभिजात साहित्य तो लिपिबद्ध हो चुका है। उसे ही अब तक आदर की दृष्टि से देखा जाता था। विशाल विश्व की परम्परा को देखते हुए यह साहित्य लोकसाहित्य की तुलना में अत्यन्त ही सीमित है।

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षोडश भाग) प्र० सं० राहुल सांकृत्यायन—पृ० १५-१६

लोकसाहित्य के लिए ग्रामसाहित्य तथा जनसाहित्य शब्द का भी प्रयोग किया गया है। लोकसाहित्य और ग्रामसाहित्य में अन्तर है। जहाँ ग्रामसाहित्य केवल ग्रामों का साहित्य है वहाँ लोकसाहित्य ग्रामों के साथ-साथ शहर और नगर का भी साहित्य है। ग्राम रुचि के अनुसार किसी ग्रामवासी द्वारा रचित साहित्य ही ग्राम-साहित्य कहलाता है। अधिकांश ग्रामसाहित्य लोकसाहित्य की श्रेणी में नहीं आता और अधिकांश लोकसाहित्य ग्रामसाहित्य की श्रेणी में नहीं आता। जनसाहित्य जन साधारण का साहित्य है। जनसाहित्य जन कल्याण के भाव से ही लिखा जाता है। जनसाहित्य का अर्थ कुछ लोग प्रगतिशील साहित्य से भी लेते हैं। अतः यह शब्द भ्रमात्मक है। जनपदीय साहित्य क्षेत्रीय विशेषताओं को लेकर चलता है। परन्तु लोकसाहित्य से अभिहित व्यापक सामान्यता का बोध नहीं कराता।

लोकसाहित्य के भेद—

डा० सत्येन्द्र ने लोकसाहित्य के दो प्रमुख भेद किए हैं :—[1]
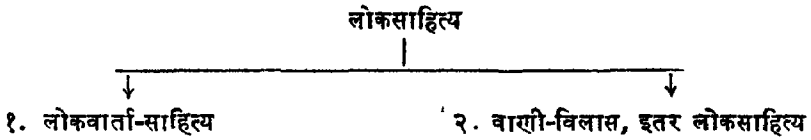
लोकवार्ता-साहित्य वह साहित्य है, जिसमें किसी समुदाय की लोकवार्ता अभिव्यक्त हुई है अथवा जो स्वयं लोकवार्ता का एक आनुष्ठानिक अंग है। इस क्षेत्र से बाहर का समस्त लोकसाहित्य इतर लोकसाहित्य है।

यह समस्त लोकसाहित्य सामान्यतः निम्नलिखित भेदों में विभक्त किया जा सकता है—

---

१. हिन्दी साहित्य कोश (भाग २) प्र० सं० धीरेन्द्र वर्मा—पृ० ७५४।
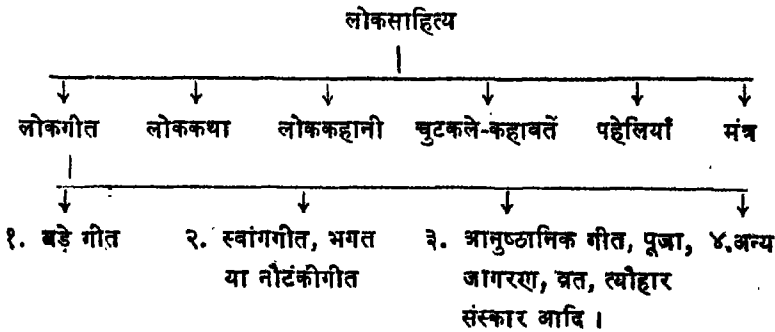
लोकसाहित्य का अन्य दृष्टियों से भी भेद किया जा सकता है। उदाहरणार्थ–
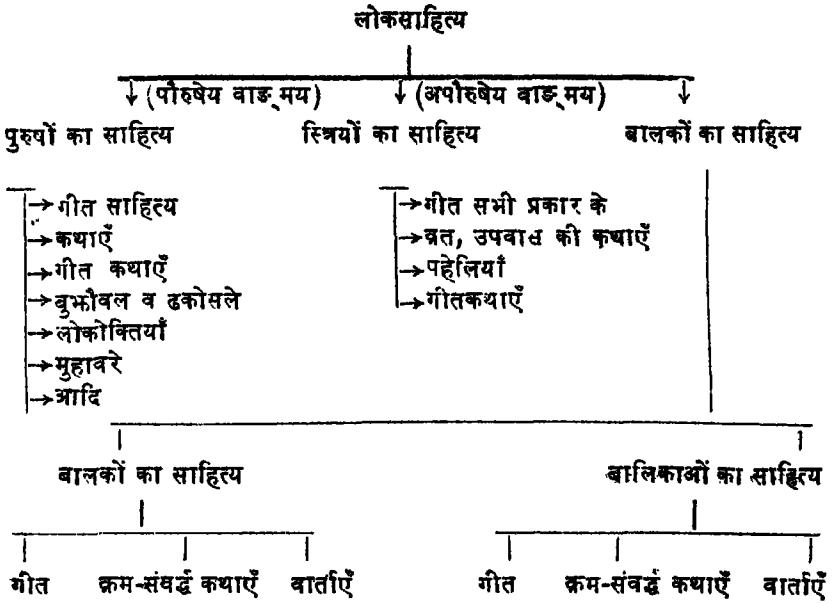
मौखिक होने के कारण कुछ विद्वानों का मत है कि इसे साहित्य न कहकर वाङ्मय कहना चाहिए। साहित्य की अपेक्षा वाङ्मय को विस्तृत ठहराया गया है। वि० ग० राजवाडे ने ज्ञानेश्वरी की टीका करते हुए वाङ्मय शब्द को ही अधिक महत्त्व दिया है।[1]

लोकाभिव्यक्ति के भेद—

लोकसाहित्य में ही लोकाभिव्यक्ति होती है। इसके तीन प्रमुख भेद हैं—
१. शरीरतोषिणी २. मनस्तोषिणी और ३. मनोमोदिनी

१. **शरीरतोषिणी**—इसे व्यवसाय प्रधान अभिव्यक्ति भी कहते हैं। भोजन, शरण, भोग आदि सम्बन्धी ऐसी अभिव्यक्ति जो जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयोग की जाती है–शरीरतोषिणी अभिव्यक्ति कहलाती है।

२. **मनस्तोषिणी**—मन को तोष प्रदान करने वाली अभिव्यक्ति को मनस्तोषिणी अभिव्यक्ति कहते हैं। मन के दो मौलिक भाव हैं–(१) आश्चर्य और (२) भय।

---

१. ज्ञानेश्वरी—पृ० १४।

इसके अतिरिक्त एक मौलिक भाव और है जो सहज है– वह है 'रति'। आश्चर्य और भय सम्पर्कजात हैं, पर प्रकृति-विषयक। इन प्रकृति-सम्पर्कजात भावों में आश्चर्य का साधन उत्साह है जो वीर भाव ही है और परिणाम ज्ञान है। भय अज्ञान पर आधारित था। इस भय को दूर करने तथा समाप्त करने के लिए जिस अभिव्यक्ति का प्रयोग किया जाता है उसे मनस्तोषिणी अभिव्यक्ति कहते हैं। यही 'अनुष्ठान' का रूप धारण करती है। आज भी टोटका-टोना, लोकविधि आदि इसी अभिव्यक्ति के रूप हैं।

३. **मनोमोदिनी**—मनुष्य के 'मोद' वृति से सम्बन्ध रखने वाली अभिव्यक्ति को मनोमोदिनी अभिव्यक्ति कहते हैं। मनुष्य की तीन प्रधान वृत्तियों–पोषण, तोषण, मोदन—की लोक अभिव्यक्तियों का मौखिक रूप (वाणीरूप) लोकवार्ता साहित्य (लोकसाहित्य के भी) अन्तर्गत आता है। आदिम युग में भी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शाब्दिक अभिव्यक्तियाँ होती थीं। ऐसा लोकविश्वास था कि इनके उच्चारण मात्र से मनवांछित वस्तु प्राप्त हो सकती है। बस, यहीं से जादू-टोना और मंत्र का विश्वास हुआ। आज भी ये जादू-टोने समाज में आतंक जमाए हुए हैं।

"आज का मानव-समाज केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही भूत से सुसम्बद्ध नहीं, उसका आज का विश्वास भी भूत को वर्तमान किए हुए है। मनुष्य का इतिहास उसके स्थापत्य तथा शिल्प तत्त्वों में ही निहित नहीं, जंगली मानवों से शिष्ट मानवों तक में विद्यमान मौखिक अभिव्यक्तियों की परम्पराओं में भी है। जहाँ इस परम्परा के प्रवाह को छोड़कर पूर्ण अहंचैतन्य से मुक्त होकर कोई साहित्य निर्मित किया जाता है, वही लोकसाहित्य से भिन्न कोटि का होता है।"[1] निर्माता में निर्माण के अहं का चैतन्य जब जाग्रत रहता है तभी वह साहित्य शिष्ट साहित्य की सीमा में आ जाता है। हीन मेधा द्वारा रचित अहंचैतन्य से निर्मित रचनाएँ लोकसाहित्य के अन्तर्गत नहीं आ सकेंगी, जैसे 'चन्द्रकान्ता' के अनुकरण पर रचित 'सूर्यकान्ता'।

अहंचैतन्य और लोकसाहित्य-रूप—

जैसा ऊपर कहा गया है कि निर्माता में निर्माण के अहं का चैतन्य जब जाग्रत रहता है तब ही वह साहित्य शिष्ट साहित्य की सीमा में आता है। समाज में अहंचैतन्य का एक क्रम विद्यमान है जो निर्माता में सहसा उत्पन्न नहीं होता। आदिम अवस्था में यह नितान्त शून्य होता है। जैसे-जैसे अवस्था सभ्य होती जाती है यह चैतन्य चरम सीमा पर पहुँच जाता है। ऐसा लगता है जैसे इस चैतन्य का सम्बन्ध

---

१. लोकसाहित्य विज्ञान—डा॰ सत्येन्द्र—पृ॰ ६-७।

जीविका साधन से भी है। सभ्यता का विकास उत्पादन के साधनों के विकास से सम्बद्ध है। इस दृष्टि से समाज का एक ऐसा वर्ग जो विशिष्ट साधनों से जीविका का उपार्जन करता है वह एक विशिष्ट अहंचैतन्य का प्रतिनिधि माना जाता है। मानव विकास के क्रम को जब हम इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो विदित होता है कि मानव प्रारम्भ में शिकार पर ही निर्भर रहता था। वह फल खाकर ही अपना जीवन पालन करता था परन्तु इसे उद्योग नहीं कहा जा सकता। शिकार के बाद पशुपालन, कृषि तथा इसके पश्चात मशीन उद्योग के द्वारा जीविकोपार्जन करने लगा। प्रसिद्ध नृतत्त्वशास्त्री बोआज ने कृषि का सम्बन्ध स्त्रियों से तथा पशुपालन का पुरुषों से दिखाया है।[1] परन्तु बोआज जिस कृषि की चर्चा कर रहे हैं उसका अर्थ केवल फल-सग्रह से ही हो सकता है कृषि से नहीं। क्योंकि कृषि एक कठिन कार्य है जब कि पशुपालन सरल। अत: पहले पशुपालन की स्थिति रही होगी बाद में कृषि की। आज भी जंगलों में शिकार खेलने वाली जातियाँ मौजूद हैं। परन्तु पशुपालन और कृषि का सम्बन्ध तो देहातों से है और मशीन का नगरों से। अत: अहंचैतन्य की तीन अवस्थाएँ हुई—जंगली, ग्रामीण तथा शहरी या नागरिक। इस बीच में कितनी ही और स्थितियाँ स्वाभाविक रूप से आगई हैं—
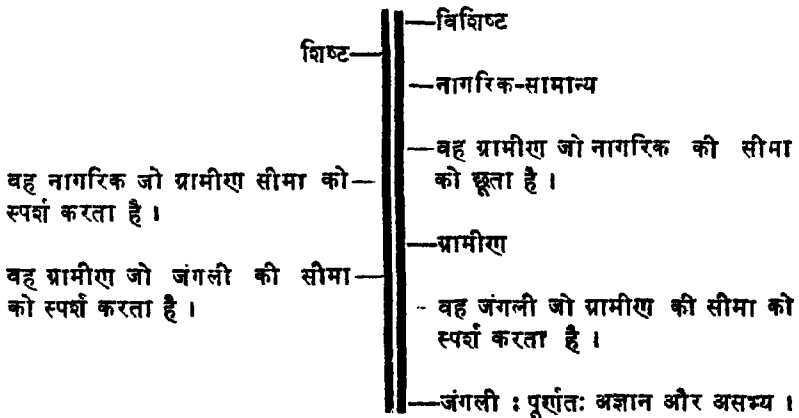
उपर्युक्त सभी स्थितियाँ आज के जटिल समाज में किसी न किसी रूप में पृथक्-पृथक् वर्गों में ही नहीं एक ही वर्ग में एक साथ स्थित मिल जाती हैं।[1] शिकारी जंगली जातियाँ घने जंगलों एवं पहाड़ों में मिल जाएँगी। पशुपालन करने

1. The mind of Primitive Man—Franz Boas--Page 179-180 (1955).

वाली जातियाँ शहरों और गाँवों के संधिस्थलों पर मिल जाएँगी। अनेक घुमक्कड़ जातियों के दर्शन भी आज के जटिल समाज में देखने को मिल जाएँगे। इसके अतिरिक्त आज के इस जटिल समाज में अत्यधिक जटिलता वहाँ देखने को मिलेगी जहाँ एक ही वर्ग में अनेक स्थितियाँ एक साथ दिखाई पड़ती हैं। अतः भारतवर्ष के घर-घर में होने वाले संस्कारों तथा कृत्यों में अद्भुत वैविध्य के दर्शन होते हैं।

लोकसाहित्य का कोटिक्रम—

वास्तव में भारतीय घर लोकसंस्कृति का घर है। प्रत्येक घर में ध्यानपूर्वक दृष्टि डालने पर अनेक संस्कारों का विधान देखने को मिलेगा। इनमें पहला स्तर टोने-टोटके का मिलेगा। किसी भी संस्कार, उत्सव तथा अनुष्ठान में उसके साथ किसी न किसी प्रकार का टोना या टोटका लगा हुआ है। दूसरा स्तर दई-देवताओं का मिलेगा। इनमें भूत-प्रेत, मृतात्माओं (पितरों की) संत-फकीर, मसान तथा अनेक देवी देवताओं का स्थान है। इन्हीं स्तरों के अनुकूल चित्ररचना, मूर्तिविधान, कथा-कहानी, संगीत, नृत्य, पूजापाठ, भोजन-वस्त्र तथा गृह आदि की साज-सज्जा मिलेगी। इनमें आदिम कला के प्रतीक मिलेंगे। गीतों में भी इसी प्रकार के प्रतीकों का रूप मिलेगा। भारतीय घर के सोलह संस्कारों में से तीन संस्कार प्रमुख हैं। जन्म, विवाह तथा मृत्यु। इन्हीं से सम्बन्धित अनेक अनुष्ठान भारतीय घर में जीवन के प्रत्येक क्षण में देखने को मिलेंगे। इन अनुष्ठानों को विधि-पूर्वक अपनाने तथा करने में किसी प्रकार की श्रद्धा की भावना नहीं है वरन् भय की भावना व्याप्त रहती है। भय यह है कि किसी अनुष्ठान की विधियों में किसी प्रकार की विधि न छूट जाए अन्यथा अशुभ होगा। जीवन-मंगल के त्योहार एवं उत्सव भी—जिनमें की आदिम भावना कार्य करती है—भारतीय-घर में देखने को मिलेंगे। इन अनुष्ठानों में गणेशपूजा, सकट, नागपूजा, अनन्तपूजा, बड़मावस, मिट्टीपूजा आदि के साथ-साथ जुआ खेलना (दिवाली पर), जागरण तथा मदिरा सेवन तक हैं।

इस प्रकार भारतीय घर में इन अनुष्ठानों के साथ-साथ जीवन के शोधन की कई नई प्रणालियाँ भी मिलती हैं। प्रत्येक घर में इस प्रकार के विचित्र वैविध्य के दर्शन होंगे जो सांस्कृतिक हैं और जिनमें लोकतत्त्व निश्चत रूप से विद्यमान हैं। इनके अनुसन्धान की आवश्यकता है। और यह अनुसन्धान तलगामी होना चाहिए विस्तार-व्यापी नहीं।

इस विवेचन से एक समस्या सामने आती है। आज भी जब आदिम से लेकर सूक्ष्मतम मनोवृत्ति तक से निसृत साहित्य एक साथ प्राप्त है तब किस साहित्य को

---

१. लोकसाहित्य विज्ञान—डा० सत्येन्द्र—पृ० ८-६।

क्यों लोकसाहित्य कहा जाए ? इस समस्या का वैज्ञानिक हल डा० सत्येन्द्र ने प्रस्तुत किया है। उनका कथन है—"साहित्य में अहंचैतन्य के इस कोटिक्रम पर दृष्टि डालने से एक आंशिक अहंचैतन्य की अवस्थिति का पता चलता है। इस अहंचैतन्य में चैतन्य का कोई न कोई प्रकार रहता है। किन्तु वह पूर्ण अहंचैतन्य तक अवैज्ञानिक रहता है। अवैज्ञानिक अहंचैतन्य में लोकतत्त्व किसी न किसी रूप में अवश्य समाविष्ट हो जाता है। लोकतत्त्व जहाँ-जहाँ प्रधानता से विद्यमान है वहाँ लोकसाहित्य स्वीकार करना होगा। यों भी देखा जाए तो लोकतत्त्व किसी न किसी मात्रा में प्रत्येक युग के उच्च साहित्य में भी मिलता ही है। भारत में तो इसकी और भी प्रबलता है। किन्तु ऐसे उच्च शिष्टसाहित्य में लोकतत्त्व प्रेरणा अथवा आधार का काम देता है, प्रधानता ग्रहण नहीं करता। क्योंकि यदि साहित्य की अभिव्यक्ति के समस्त अंगों का विश्लेषण करके देखा जाए तो विदित होगा कि कुछ विशिष्ट अंग ही अहंचैतन्य से संपृक्त होते हैं।"[1]

अभिव्यक्ति के अंग—

डा० सत्येन्द्र के अनुसार किसी भी अभिव्यक्ति के निम्नलिखित प्रमुख अंग होते हैं—(१) सामग्री (२) सामग्री का विन्यास (३) विन्यास-शिल्प (४) अभिप्राय-ग्रथन (५) अर्थद्योतन (६) कथनशैली (प्रतिपादन-शैली, भाषा-शैली) (७) व्याप्त-मनोस्थिति।

इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। (१) कृष्ण एक चरित्र है। (२) कृष्ण के चरित्र का कलेवर कैसा हो, यह इसका विन्यास है। (३) उस कलेवर को किस प्रकार सुष्ठु बनाया जाय, यह उसका शिल्प-विन्यास है। (४) इस कलेवर में कौन-कौन सी घटनाओं, तत्वों तथा अभिप्रायों (motifs) को कैसे रखा जाए, यह अभिप्राय-ग्रथन है। (५) इसके द्वारा क्या अर्थ प्रकट करना है, यह अर्थद्योतन है। (६) इस सम्पूर्ण सामग्री को किस प्रकार अधिक प्रेषणीय तथा समृद्ध बनाया जाय, यह कथनशैली का धर्म है। (७) इस प्रकार अभिव्यक्ति के इस क्रम में एक विशेष मनोस्थिति का व्याप्त रहना परमावश्यक है।

यह व्याप्त मनोस्थिति ही निश्चित रूप से सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं प्रधान तत्व है। इस तत्व के द्वारा साहित्य का प्रकार निर्धारित होता है न कि उसकी कला का रूप। इसी से अन्य समस्त अभिव्यक्ति के अंग प्रभावित होते हैं। किसी साहित्यिक-रचना का शिल्प-विन्यास, अर्थद्योतन तथा कथन-शैली लोकसाहित्य से भिन्न होती है। अहंचैतन्य की पूर्णता इसी में है। शेष अंगों यथा—सामग्री, विन्यास, अभिप्राय-ग्रथन

---

१. लोकसाहित्य विज्ञान—डा० सत्येन्द्र—पृ० १२-१३ के आधार पर।

में लोकसाहित्य की सामग्री का उपयोग किया जाता है। वास्तव में साहित्य के प्रकार को निर्धारित करने के लिए इसी व्याप्त मनोस्थिति को देखना पड़ेगा। लोकसाहित्य में व्याप्त मनोस्थिति को ही लोकमानस कहा जाता है। लोकवार्ता में भी लोकमानस की ही व्याप्ति रहती है।

लोकसाहित्य अथवा लोकवार्ता का अन्य समाज-विज्ञान से सम्बन्ध—

लोकवार्ता अथवा लोकसाहित्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। आज लोकसाहित्य के अध्ययन एवं अध्यापन की प्रवृत्ति भी जनता में बढ़ती चली जारही है। अतएव लोकसाहित्य का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता अनुभव की जारही है। इसके अतिरिक्त आज लोकसाहित्य का विज्ञान एक समुन्नत समाज विज्ञान के रूप में स्थान पा चुका है। अत: इसके शास्त्रीय क्षेत्र का जहाँ तक सम्बन्ध है यह अन्य समाज-विज्ञान से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है।

मानव-विज्ञान—लोकवार्ता का मानव-विज्ञान के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। लोकवार्ता को मानव-विज्ञान का एक महत्वपूर्ण अंग स्वीकार किया गया है। लोकवार्ता की व्याख्या के लिए मानवविज्ञान के विद्वान् टेलर तथा फ्रेजर आदि ने तो एक एन्थ्रापोलोजिकल सम्प्रदाय खड़ा किया। इससे लोकवार्ता के अध्ययन में मानवविज्ञान की सहायता का श्रेय अत्यधिक महत्वपूर्ण है। जहाँ मानवविज्ञान मानव के शरीर और रक्त की परम्परा का अध्ययन करता हैं वहाँ लोकवार्ता उस मानव की वाणी का। इस प्रकार मानवविज्ञान की सहायता लोकवार्ता-विज्ञान भी करता है। अत: लोकवार्ता का कार्य बिना मानवविज्ञान के नहीं चल सकता और न ही मानवविज्ञान का लोकवार्ता-विज्ञान के।

धर्मतत्व (धर्मगाथा-शास्त्र)—लोकवार्ता का धर्म-तत्व से घनिष्ट सम्बन्ध है। लोकवार्ता के प्रमुख लोकतत्व–ऐनीमिज्म, एन्सेस्टर वरशिप तथा मैजिक आदि आदिम मूल विश्वास–धर्म की भी मूल प्रवृतियाँ हैं। लोकवार्ता के द्वारा ही धर्म को सरलता से समझा जा सकता है। धर्म में प्रचलित विधियों के प्रमुख रूपों को भी लोकवार्ता के द्वारा ही समझा जा सकता है। इसका कारण है। लोकवार्ता में आदिम युग के अवशेष परम्परा के रूप में चले आरहे हैं। इसके अतिरिक्त धर्मगाथाओं के वास्तविक ज्ञान के लिए लोकवार्ता का उपयोग आज अनिवार्य रूप से किया जारहा है। उसी प्रकार धर्मगाथा के द्वारा भी लोकवार्ता के स्वरूप का भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। लोकसाहित्य के अनेक अभिप्रायों का ज्ञान धर्मगाथा के द्वारा स्पष्ट हो जाता है। धर्मशास्त्र तथा दर्शन के ऐतिहासिक स्वरूप और उसके मूल को समझने के लिए भी लोकवार्ता-विज्ञान (Folkloristics) की आवश्यकता है। दार्शनिक सिद्धान्तों के मूल

में कहीं न कहीं लोकबीज अवश्य विद्यमान है। धर्म-तत्वविदों तथा लोकवार्ताविदों ने धर्म के मूल पर समान रूप से विचार किया है।[1]

पुरातत्व—सन् १८४६ ई० में स्व० श्री डब्ल्यू०जे० थॉमस से पहले लोकवार्ता के लिए 'पापूलर एन्टीक्विटीज' शब्द प्रचलित था। इसे उस समय पुरातत्व का एक लोक-प्रचलित रूप माना जाता था। इस प्रकार लोकसाहित्य पुरातत्व का एक अंग माना जाता है। लोकवार्ता की कई कथाएँ जिन्हें प्रारम्भ में असत्य या गप्प कहकर त्याग दिया जाता था अब ऐतिहासिक प्रमाण मिलने पर सत्य साबित हो रही हैं। कई ऐतिहासिक रहस्यों का उद्घाटन भी लोकवार्ता से प्रेरित एवं प्रभावित होकर किया जारहा है। जिन तथ्यों को इतिहास तक अस्वीकार करता था, आधुनिक शोधों के द्वारा, उन तथ्यों को अब इतिहास के विद्वान् प्रामाणिक मानने लगे हैं। इन तथ्यों का चित्रण जब कि लोकवार्ता में पहले से ही चला आ रहा था। मुहम्मद गोरी पर पृथ्वीराज की विजयों का उल्लेख, चौरासी सिद्धों की कथा, वामन वीर किस प्रकार पंचपीर बन गए आदि—जिसे इतिहास पहले स्वीकार नहीं करता था, उन लोकवार्ता तत्वों की पुष्टि आज ऐतिहासिक शोधों ने कर दी है। परन्तु यह सोचना कि ये कथाएँ पूर्ण सत्य होंगी ऐसी बात नहीं, वरन् पुरातत्व को तो केवल लोकवार्ता से संकेत ही प्राप्त हो सकते हैं और उपलब्ध सामग्री से ऐतिहासिक संधि बैठाकर एक टूटी कड़ी जोड़ी जा सकती है। इसी प्रकार लोकवार्ता सांस्कृतिक खोज एवं अनुसंधान में भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है।

लोकवार्ता को भी पुरातत्व से अधिक सहायता मिलती है। पुरातत्व कई लुप्त सामग्री देकर लोकवार्ता को प्रामाणिकता प्रदान करता है। लोकवार्ता में प्राप्त अनेक सूचनाओं को पुरातत्व ही उनका उद्घाटन कर पुष्ट करता है। अतः दोनों का सम्बन्ध महत्वपूर्ण है।

इतिहास—जो सम्बन्ध पुरातत्व और लोकवार्ता का है, उससे अधिक घनिष्ट सम्बन्ध इतिहास और लोकवार्ता का है। लोकवार्ता को ऐतिहासिक प्रमाणों से परख कर ही इतिहास प्रस्तुत किया जाता है। टॉड का 'एनल्स आव राजस्थान' लोक-वार्ताओं के आधार पर ही लिखा गया है। वेद और पुराणों को भी—जिनमें ऐति-हासिक तथ्य निहित हैं—लोकवार्ता का संकलन स्वीकार किया गया है। अतः लोक-वार्ता इतिहास को कई रूपों में सहायता देता है। कुछ लोकवार्ताओं को कच्चे माल की तरह इतिहासकार उपयोग में लाता है और कुछ को लोकजीवन के ऐतिहासिक स्वरूप को निखरने-परखने के लिए। कई स्थानों पर तो इतिहास और लोकवार्ता में अन्तर करना कठिन हो जाता है। कई इतिहासों में भी लोकवार्ता के सुन्दर संग्रह

---

१. विस्तार के लिए देखिए—लोकसाहित्य विज्ञान—डा० सत्येन्द्र—पृ० ७२-७७।

मिल जाते हैं। कुछ लोककथाएँ एवं गाथाएँ सत्य घटना पर आधारित होने के कारण ऐतिहासिक महत्व की हो जाती हैं। अतः लोकवार्ता के अध्ययन के लिए इतिहास परम सहायक सिद्ध होता है।

भाषा-विज्ञान—जैसा कि ऊपर बताया गया है कि भाषा-विज्ञान और लोकवार्ता मानवशास्त्र (ऐन्थ्रापोलोजी) के क्षेत्र हैं। इसके अतिरिक्त मैक्समूलर के विचार में धर्मगाथा भाषा का विकार ही है। इस आधार पर लोकवार्ताविदों को 'माइथोलोजिकल थियरी' को मानने वाला दल भाषा-विज्ञानियों का ही था। अतः भाषाविज्ञान और लोकवार्ता में गहरा सम्बन्ध है। भाषा के अर्थ-विकार के रूपों का अध्ययन करने में लोकवार्ता अधिक सहायक है। लोकवार्ता साहित्य में ऐसे अनेकों शब्द हैं जो भाषा-विज्ञान के लिए अत्यन्त ही उपयोगी एवं लाभप्रद हैं। जहाँ लोकवार्ता से भाषा-विज्ञान को सहायता मिलती है वहाँ भाषा-विज्ञान से लोकवार्ता को भी सहायता मिलती है। कई स्थानों पर लोकवार्ता को भाषा-विज्ञान का आश्रय लेना पड़ता है। शब्द में मूल तथा यथार्थ अर्थ के लिए जिन परिस्थितियों का ज्ञान आवश्यक है वे भाषा-विज्ञान को लोकवार्ता से ही प्राप्त होती हैं। "जैसे ब्रज में जखैया की पूजा होती है। यह जखैया क्या है ? इसके लिए भाषा-विज्ञान को लोकवार्ता का आश्रय लेना पड़ेगा कि लोकवार्ता 'जखैया देव' के सम्बन्ध में क्या सूचना प्रदान करती है, दूसरी ओर उसे धर्म की शरण में भी जाना होगा और धार्मिक साहित्य की शरण में भी, तब इतिहास की शरण में। इसी प्रकार लोकवार्ता के जखैया को भाषा-विज्ञान से ज्ञान होगा कि यक्ष का स्थान ही जखैया है जो जैन ग्रन्थों मे महावीर के ठहरने का स्थान 'जक्खचेइय' या 'जक्खायतन' से उद्भूत है।"[१] इस प्रकार भाषा-विज्ञान और लोकवार्ता का परस्पर अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है।

मनोविज्ञान—'माइथालोजिकल सम्प्रदाय' तथा 'एन्थ्रापोलोजिकल सम्प्रदाय' की भाँति ही विल्हेल्म वुंट ने लोकवार्ता की व्याख्या के लिए 'मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय' की स्थापना की। इसके साथ ही उन्होंने राष्ट्रों के मनोविज्ञान में लोकवार्ता के मनोवैज्ञानिक स्रोत पर पर्याप्त बल दिया। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रॉयड ने भी लोकवार्ता के मूल की व्याख्या 'काम प्रकृति' से की। लोकमनोविज्ञान, आदिममनोविज्ञान आदि का मूल तो लोकवार्ता ही है। लोकवार्ता के अन्तर्गत जनजीवन के विश्वासों का अध्ययन किया जाता है। इन विश्वासों की व्याख्या मनोविज्ञान का एक अंग है। इन विश्वासों के मानसिक मूर्त-रूपों का अध्ययन करना भी मनोविज्ञान का विषय है। मनोविज्ञान की सहायता से ही लोकमानस तथा उसके ऐतिहासिक स्तरों का अध्ययन

---

१. लोकसाहित्य विज्ञान—डा० सत्येन्द्र—पृ० ७७।

लोकवार्ता करता है। इस प्रकार लोकवार्ता एवं मनोविज्ञान का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है।

चिकित्सा-विज्ञान—डा० सत्येन्द्र ने लोकवार्ता का चिकित्सा-विज्ञान से अन्तर बताते हुए लिखा है—"इस विज्ञान (चिकित्सा-विज्ञान) का वास्तविक मूल लोकवार्ता में ही है। प्रत्येक क्षेत्र के विविध रोगों को दूर करने की एक लोकवार्ता तो होती ही है जिसमें झाड़-फूंक, टोने-टमने, टोटके सम्मिलित हैं, वरन् वैद्य और डाक्टर जिन औषधियों आदि का उपयोग करते हैं, उनकी भी एक वार्ता खड़ी हो जाती है। वस्तुत; लोकवार्ता चिकित्सा-विज्ञान की पूर्वज मानी जा सकती है।"[१]

समाजशास्त्र—लोकवार्ता का समाजशास्त्र से उतना ही प्रगाढ़ सम्बन्ध है जितना मानवशास्त्र से। लोकवार्ता जिस प्रकार मानवशास्त्र के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता उसी प्रकार समाजशास्त्र के बिना भी वह एक कदम आगे नहीं बढ़ सकता। समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र तो जुड़वां बहनें हैं ही। मानवशास्त्र समाज की भूतकाल की सम्यता एवं संस्कृति को लेकर चलता है तो समाजशास्त्र हमारे वर्तमान समाज की सभ्यता एवं संस्कृति का विश्लेषण करता है। लोकवार्ता दोनों ही के अध्ययन का एक अंग बन जाता है। समाजशास्त्र के एक विषय 'सामाजिक मानवशास्त्र' में लोकवार्ता का अध्ययन भी प्रमुख रूप से किया जाता है। आदिकालीन मौखिक साहित्य का अध्ययन करते समय समाजशास्त्री लोककथाओं का अध्ययन किए बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार समाजशास्त्र का भी लोकवार्ता से घनिष्ट सम्बन्ध है।

---

१. लोकसाहित्य विज्ञान—डा० सत्येन्द्र-पृ० ७६।

३ | लोकसाहित्य के सम्प्रदाय

लोकसाहित्य का अध्ययन आज तक अनेक विद्वानों ने अपने विभिन्न दृष्टि-कोणों के आधार पर किया है। इसी दृष्टिकोण की विभिन्नता के कारण लोकसाहित्य विषयक अनेक सम्प्रदाय खड़े हुए। इन सम्प्रदायों में कुछ प्रमुख सम्प्रदाय इस प्रकार हैं—

भारतीय सम्प्रदाय—

भारतीय सम्प्रदाय के विद्वानों का मत यह रहा है कि धर्मगाथाओं का उदय भारत में हुआ और यहीं से गाथाएँ विश्व में चारों ओर फैलीं। इन विचारकों ने भाषा-विज्ञान के आधार पर लोकतत्व को समझने का प्रयास किया। उनका विचार है कि लोककथा और धर्मगाथाओं के उदय और रूपान्तरण का कारण शब्द-विकार है। अतः उन्होंने ऐतिहासिक-तुलनात्मक प्रणाली के आधार को अपने अध्ययन का विषय बनाया। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि भारतीय सम्प्रदाय का आरम्भ भाषावैज्ञानिक सम्प्रदाय तथा धर्मगाथा सम्प्रदाय से हुआ।

भाषावैज्ञानिक तथा धर्मगाथा सम्प्रदाय—प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी ग्रिम बन्धुओं (जेकबग्रिम तथा विलहैल्म ग्रिम) ने लोकतत्व का अध्ययन करते समय धर्मगाथाओं पर विशेष ध्यान दिया। इसी कारण इसे धर्मगाथा सम्प्रदाय भी कहते हैं। ग्रिम-बन्धुओं के अतिरिक्त मैक्समूलर, ओ०एफ० मिलर, मनहाट, अदालवर्त कुन्ह, बुस्लमेव, स्क्वार्ज आदि इस सम्प्रदाय के प्रमुख विचारक हैं। इस सम्प्रदाय की स्थापना यह है कि संसार की सभी समान गाथाओं का उद्गम स्थल एक ही है। इन समान गाथाओं का प्रचलन जहाँ-जहाँ हुआ है वहाँ की जातियों का भी उद्गम स्थल एक ही है। वे सभी जातियाँ भारोपीय परिवार की हैं। इन गाथाओं की उत्पत्ति का कारण भाषा (शब्द) विकार है और इनके मूल में कोई प्राकृतिक व्यापार है। इस सम्प्रदाय के एक विद्वान स्क्वार्ज विविध देवी-देवताओं का मूल तूफान में प्राकृतिक व्यापार से मानते हैं जब कि मैक्समूलर इन देवी-देवताओं का प्रादुर्भाव सूर्य से मानते हैं। स्क्वार्ज के सिद्धान्त को 'स्टार्म थियरी' (Storm Theory) और मैक्समूलर के सिद्धान्त को

'सौर-सिद्धान्त' (Solar Theory) कहा जाता है। तुलनात्मक प्रणाली के आधार पर इस सम्प्रदाय ने गाथा, अभिप्रायों (Motif) तथा नामों और शब्दों की तुलना की।

प्रसारवादी सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के अनुसार विविध देशों की लोककहानियों (Folk tales) में एक समानता पाई जाती है जिसका मूल कारण 'प्रसार' है। इनकी स्थापना है कि ये धर्मगाथाएँ तथा कहानियाँ एक स्थान से प्रसारित होकर दूसरे स्थानों पर पहुँची हैं।

बेन्फे का सिद्धान्त—भारतीय सम्प्रदाय के अन्तर्गत बेन्फे का सिद्धान्त 'थियरी आफ बोरोइंग' (Theory of Borrowing) विशेष महत्व का है। बेन्फे के अनुसार ये धर्मगाथाएँ तथा लोककहानियाँ एक मूल स्थान पर जन्मीं तत्पश्चात ये वहाँ से दूसरे देशों में फैलती चली गईं। बेन्फे ने भाषा-वैज्ञानिक सम्प्रदाय के इस मत का खन्डन किया कि समान धर्मगाथाओं वाली जातियाँ भी एक ही परिवार की हैं। बेन्फे के अनुसार वे अलग-अलग परिवार की भी हो सकती हैं। परन्तु उनमें जो समानता मिलती है उसका कारण है कि वे एक मूल स्रोत से उधार ली गई हैं। बेन्फे ने भारत को ही इन धर्मगाथाओं का मूल उद्गम स्वीकार किया है। भारत से ही ये कथाएँ विश्व में चारों ओर फैलीं। इसी स्थापना के कारण बेन्फे के सिद्धान्त को भारतीय सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखा गया है।

बेन्फे के इस सिद्धान्त का विरोध भी खूब हुआ। जोसेफ बेडियर के अनुसार ऐसी भी कहानियाँ हो सकती हैं जो विभिन्न क्षेत्रों में उत्पन्न हुईं परन्तु समानता में वे भारत की कथाओं से मिलती जुलती रही हों। कुछ लोगों का यह भी विचार है कि ये कहानियाँ मौखिक रूप से अन्य देशों में प्रचलित रही हैं परन्तु भारत में आकर ये लिपिबद्ध हुई हैं।

इन **उधारवादी** (प्रसारवादी) सम्प्रदायों में से एक सम्प्रदाय ऐसा भी है जो समस्त धर्मगाथाओं का उद्गम क्षेत्र फरात को स्वीकार करता है। इसे **फरातवादी सम्प्रदाय** कहा जाता है।

एन्थ्रापोलोजिकल सम्प्रदाय—

इस सम्प्रदाय के विचारकों ने उधारवादी सम्प्रदाय की त्रुटियों पर प्रकाश डाला। अंग्रेज विद्वान टेलर ने अपनी पुस्तक 'प्रिमिटिव कल्चर' में उधारवादी सम्प्रदाय की बड़ी कटु आलोचना की। उसका कथन है कि जिन लोककथाओं तथा धर्मगाथाओं में सभी जातियों के रीति-रिवाज, उनकी धार्मिक प्रवृत्तियाँ तथा जीवन-प्रणाली में जो विलक्षण साम्य देखने को मिलता है उसका मूल कारण एक स्थान से अन्य स्थानों पर उनका प्रसरण नहीं है। प्रत्येक जाति अपने लोकतत्वों का निर्माण

अपने यहाँ स्वतन्त्र रूप से करती है। वे किसी से उधार नहीं लेती हैं और न ही किसी एक मूल से उत्पन्न होकर वे आई हैं। यह तो मानवीय स्वभाव, विचार-पद्धति और विकास क्रम के स्वाभाविक साम्य के कारण हैं।

हमारी संस्कृति के मूल बीज का निर्माण आदिम मानव ने ही किया और उनके अवशेष आज भी हमें देखने को मिलते हैं। पिछड़े वर्ग के लोगों में तो इस प्रवृत्ति के अधिक दर्शन होते हैं। भूतात्मवाद को टेलर ने आदिम धर्म का मूल बताया।

एन्ड्रू लैंग का विचार है कि इन लोककथाओं या धर्मगाथाओं के विकास के कई सोपान हैं। ये मूल कथा कई अभिप्रायों (Motif) से युक्त हब्शियों के द्वारा निर्मित हुई और यहीं विकसित होकर किसानों की लोककहानियाँ बनीं। आगे चलकर इस कहानी के दो रूप हो जाते हैं—एक अर्द्धवास्तविक वीर की कहानी के रूप में परिणत हो जाती है तथा दूसरी कोई साहित्यिक रूप धारण कर लेती है।

वास्तव में उधारवादी तथा प्रसारवादी सम्प्रदाय की अपेक्षा इस सम्प्रदाय का दृष्टिकोण अधिक वैज्ञानिक है। "इस सम्प्रदाय ने मनुष्य और उसके स्वभाव को एक निरपेक्ष तत्व के रूप में स्वीकार कर उसकी सर्वत्र सम्भावना स्थापित की थी। यह संस्कृतियों के भेदों और उनके प्रभावों की उपेक्षा कर गया। यह उन तत्वों तक नहीं पहुँचा था जो मानव स्वभाव के निर्माता माने जा सकते हैं।"[1]

मनोविज्ञानवादी सम्प्रदाय—जर्मन विचारक विलहेल्म वुंट ने अपनी पुस्तक 'साइकोलोजी आफ नेशंस' में लोकमानस को महत्व देते हुए यह लिखा कि धर्म तथा काव्य के विविध विचार-विन्दु विशेष परिस्थितियों में मनुष्य के मानस में स्वप्न या भ्रम-दृश्यों (Hallucination) में उत्पन्न हुए हैं। फ्रॉयड ने भी अपनी मनोविश्लेषण-प्रणाली द्वारा यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया कि लोककथाओं के अभिप्रायों का निर्माण दमित काम-वासना का ही परिणाम है। एन्थ्रापोलोजिकल सम्प्रदाय के इस मनोविज्ञानवाद को पूर्ण ग्राह्यता आगे चलकर नहीं मिली।

टोनावाद—प्रसिद्ध नृतत्वशास्त्री जेम्स फ्रेजर ने अपनी पुस्तक 'द गोल्डन बाउ' (The Golden Bough) में टेलर तथा लैंग की भाँति मानवीय समानता का प्रतिपादन कर भूतात्मवाद (एनीमिज्म) को स्वीकार किया है। इसके साथ ही उसने यह भी बताया कि इससे पूर्व भी लोकसंस्कृति की एक स्थिति होती है जिसमें मैजिक या टोनावाद का महत्त्व होता है। इसी मैजिक भाव से धार्मिक भाव भी सम्बद्ध रहते हैं।

ऐतिहासिक सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय का जन्म भी रूस में हुआ। इस सम्प्रदाय के विद्वानों ने इस बात का अध्ययन करने की कोशिश की कि लोकवार्ता साहित्य

---

१. लोकसाहित्य विज्ञान—डा० सत्येन्द्र—पृ० १०३ से उद्धृत।

का जन्म कब, कहाँ, किन ऐतिहासिक तथ्यों पर तथा किन काव्य-स्रोतों के सहयोग से निर्मित हुआ। इस सम्प्रदाय ने रूसी लोकसाहित्य का ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर अध्ययन किया। इतिहास और लोकसाहित्य के सम्बंधों को भी स्पष्ट करने की चेष्टा इन विद्वानों ने की।

लोकसाहित्यवादी—

अमरीकी लोकवार्ता-क्षेत्रों में इसे आर्ने टॉमसन सम्प्रदाय कहा जाता है। आर्ने फिनलैंड के विद्वान थे जिन्होंने सर्वप्रथम 'भौगोलिक-ऐतिहासिक लोकवार्तावाद' का आरम्भ किया। इसमें सहयोग देने वाले दूसरे अमरीकी विद्वान थे स्ट्थि टॉमसन। इन दोनों विद्वानों ने विश्व में लोककहानी और वार्ता की नई नींव डाली। "इस सम्प्रदाय का दृष्टिकोण न तो लोकसाहित्य के साथ धर्म के प्रश्न को ग्रहण करना है, न मानव के आदिम मानस और स्वभाव को, वह लोकसाहित्य के रूप, अभिप्राय, उसके साम्य, पारस्परिक आदान-प्रदान आदि का अध्ययन करता है। यह उनके अतीत आदि में प्रवेश करने की चेष्टा नहीं करता। इसकी स्थापना है कि प्रत्येक वार्ता का निजी इतिहास और विस्तार क्षेत्र होता है। अतः प्रत्येक वार्ता का स्वतंत्र रूप से पूर्णातिपूर्ण अध्ययन किया जाना चाहिए, उसके उपरांत धर्मगाथा आदि में उसका उपयोग किया जा सकता है।"[१]

जैसा पहले बताया जा चुका है कि इसका आरम्भ फिनलैंड में हुआ अतः इसे फिनीशियन स्कूल भी कहा जाता है। इस स्कूल ने अपने अध्ययन के लिए ऐतिहासिक एवं भौगोलिक पद्धति अपनाई। यह सम्प्रदाय—जिसमें आगे चलकर अन्य देशों के विद्वान भी सम्मिलित हो गए—विशेष रूप से लोककहानियों के अध्ययन के लिए ही अधिक प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय के मतानुसार लोककहानियों का अपना एक इतिहास है अतः इसी की पृष्ठभूमि में इसका अध्ययन होना चाहिए। विभिन्न स्थानों पर पाई जाने वाली लोककहानियों के विभिन्न रूपान्तरों के द्वारा भौगोलिक स्थान का पता लगाकर उसे ऐतिहासिक क्रम में सजाकर उनका अध्ययन करना इस सम्प्रदाय के अध्ययन की प्रमुख प्रणाली है। इस सम्प्रदाय ने धर्मगाथा सम्प्रदाय का विरोध तो किया परन्तु वे अपने दोषों से भी नहीं बच सके। क्योंकि इस सम्प्रदाय ने केवल स्थानीय स्रोतों तक जाने का प्रयास किया। इसने कहानियों के "शैलीगत अध्ययन" तथा "सामाजिक पृष्ठभूमि का व्यक्तिगत रूपान्तरों के साथ क्या सम्बन्ध है" इस विषय पर विचार नहीं किया!

---

१. लोकसाहित्य विज्ञान—डा० सत्येन्द्र—पृ० १०५-१०६ से उद्धृत।

इन उपर्युक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त दो सम्प्रदाय—**रूपकतत्वीय सम्प्रदाय तथा इह्युमेरीय**—और हैं जिन्होंने विशेष रूप से लोककहानियों के अस्तित्व के विषय में उल्लेखनीय कार्य किया है। उपर्युक्त सम्प्रदाय केवल विविध लोकवार्ताओं के स्रोतों पर प्रकाश डालते हैं परन्तु इन दो सम्प्रदायों ने लोककहानियों की रचना के मूल पर प्रकाश डालते हुए यह बताने की चेष्टा की कि लोककहानियाँ कैसे अस्तित्व में आईं।

(**अ**) **रूपकतत्वीय सम्प्रदाय**—इस सम्प्रदाय की स्थापना है कि धर्मगाथाओं तथा संस्कृतियों में आने वाले देवतागण प्राकृतिक या अलौकिक तत्व के रूपक हैं। जैसे हमारे यहाँ राम को या विष्णु को सूर्य का तथा हनुमान को पवन का रूपक ठहराया गया है। लोककहानियों में आए विभिन्न व्यापारों को भी प्रकृति के व्यापारों का प्रतीक माना गया है। इस सम्प्रदाय का सुत्रंग रूप धर्मगाथावादी सम्प्रदाय है।

(**आ**) **इह्युमेरीय सम्प्रदाय**—इस सम्प्रदाय की स्थापना है कि प्रत्येक धर्मगाथा तथा लोकगाथा में किसी न किसी ऐतिहासिक तथ्य को कल्पना की सहायता से तोड़-मरोड़ कर रखा जाता है।

लोक साहित्य विज्ञान की स्थापना से सैकड़ों वर्ष पूर्व ही इन दोनों सम्प्रदायों का चलन हो चुका था। इस युग में आकर इनका सुधार अवश्य हुआ।

इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त डा० सत्येन्द्र ने कुछ और सम्प्रदायों का उल्लेख भी किया है—

धर्मगाथावादी सम्प्रदाय, अवशेषवादी सम्प्रदाय, मनोविश्लेषणवादी, हेतुकथावादी, व्यक्तिवादी, लोकवादी—इनमें धर्मगाथावादी सम्प्रदाय का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। अवशेषवादी सम्प्रदाय के अनुसार धर्मगाथा तथा लोकगाथा आदिम मानवों से बनी तथा उनके अवशेष आज भी लोककहानियों में मिलते हैं। मनोविश्लेषणवादी रूपकतत्ववादी हैं। इनके अनुसार धर्मगाथाएँ दमित-प्रवृत्तियों के रूपक हैं जो लोककथाओं में मिलते हैं। अग्नि यौन-प्रक्रिया का, जल जन्म का तथा सर्प पुरुष लिंग का प्रतीक है। इस प्रकार के अनेक प्रतीक हैं। मनोविश्लेषण के आधार पर ये लोककथाओं का जन्म स्वप्नों से स्वीकार करते हैं। मूल मानसवादी भी लोककथाओं के अभिप्रायों के जन्म को मूल स्थापत (Archtype) के द्वारा आदिसृष्टिमूलक तथा आदिमानवमूलक प्रथम अनुभूतियों से उत्पन्न मानते हैं। इनका कथन है कि लोककथाओं की समान बातें जो बार बार आती हैं और जिनकी अभिव्यक्ति कला और साहित्य के माध्यम से होती है उनका समाधान अवचेतन के बहुत निचले भाग में है। यह भाग प्रत्येक मानव के पास समान है। यह आदि सृष्टि या आदिमानव की प्रथम अनुभूतियों की देन है। हेतुकथावादी सम्प्रदाय के अनुसार

धर्मगाथाएँ हेतुकथाएँ ही हैं। जब मनुष्य ने इस संसार को देखा और उसने उसके व्यापारों को पशुओं और मनुष्यों के व्यापारों में ढाल कर समझना और समझाना चाहा। इस प्रकार उन्होंने इन व्याख्याओं को कथाओं का रूप दिया। अतः स्पष्ट है कि किसी व्यापार की व्याख्या करने के लिए ही हेतुकथाओं का जन्म होता है। इन कथाओं से हम तत्कालीन सांस्कृतिक मानसिकता का अध्ययन कर सकते हैं।

परन्तु एक मूल तथा प्रमुख प्रश्न का उत्तर किसी सम्प्रदाय ने नहीं दिया। प्रश्न है—लोकवर्ताओं का निर्माण किसने किया? किसी व्यक्ति ने या लोक ने। उसी आधार पर **व्यक्तिवादी तथा लोकवादी सम्प्रदाय** उठ खड़े हुए। एक का विचार है कि लोक उतरनों को ही ग्रहण करता है। उसमें निर्माण करने की क्षमता नहीं होती। लोक पुरानी चीजों को ही ग्रहण करता है जिसे अभिजात वर्ग की प्रतिभा उत्पन्न करती है। दूसरा वर्ग लोक की उद्‌भाविनी शक्ति पर विश्वास करता है। लोक की इन्हीं उद्‌भावनाओं को व्यक्तिनिष्ट प्रतिभाएँ ग्रहण कर नवीन रूप देती हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त सम्प्रदायों के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि लोक-साहित्य पर विभिन्न दृष्टियों से कई वर्षों से अध्ययन किया जा रहा है। उपर्युक्त सम्प्रदायों ने लोकसाहित्य की परम्परा को ठीक-ठीक समझने का प्रयास किया है! इसके अतिरिक्त लोकवार्ता विषयक समस्याओं को समझने और विविध समाधानों का मार्ग ढूँढने की भी चेष्टा की है। लोकवार्ता की पृष्ठभूमि, पद्धति, विकास तथा उपलब्धि का भी अध्ययन इन्हीं सम्प्रदायों ने किया। अतः लोकवार्ता-साहित्य के अध्ययन में इन सम्प्रदायों का दाय उल्लेखनीय है।

४ | लोकसाहित्य के भेद

लोकवार्ता के अध्ययन की प्रमुख दिशाएं—

लोकवार्ता के अध्ययन की दो प्रमुख दिशाएँ हैं:—

(अ) लोकवार्ता का ऐतिहासिक अध्ययन तथा

(आ) वर्तमान लोकवार्ता का विवरणात्मक अध्ययन।

(अ) लोकवार्ता का ऐतिहासिक अध्ययन—इस अध्ययन के अन्तर्गत लोक की अभिव्यक्ति की वह सम्पूर्ण सामग्री आ जाती है जो साहित्य तथा कला की दृष्टि से इतिहास में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है। उदाहरणस्वरूप—

(१) अत्यन्त प्राचीन चित्र—इस कला के भव्य रूप फ्रांस तथा स्पेन की पुरातन गुफाओं में देखने को मिलते है। कहीं-कहीं यह चित्र दीवारों पर उत्कीर्ण भी हैं। इन चित्रों का घनिष्ट सम्बन्ध लोकवार्ता से है। इस प्रकार की कला का सम्बन्ध भोजन की उपलब्धि से था क्योंकि भोजन के लिए वांछित पशु का रेखांकन उसके पकड़ने में किसी न किसी प्रकार से सहायक था।

(२) मिट्टी की मूर्तियां—इस प्रकार की प्राचीन मूर्तियों में विशेषतः स्त्रियों के अंगों का विशदीकरण प्रस्तुत किया गया है जो निश्चित रूप से किसी जादू-टोने से ही सम्बन्धित रहा है। कलात्मक सौंदर्य की अभिव्यक्ति ही इसका मुख्य उद्देश्य नहीं हो सकता।

(३) स्थापत्यों में उत्कीर्ण अभिप्राय और उनके प्रसंग—इस प्रकार के स्थापत्यों में उत्कीर्ण अभिप्राय (motif) एवं प्रसंगों में पूर्णतः लोकमानस का कोई न कोई विश्वास अवश्य जुड़ा रहता है।

(४) प्राचीन आभूषण, कौडियां, सीपें तथा अस्त्र-शस्त्र एवं आन्तरिक वस्तुएँ—ये वस्तुएँ ऐतिहासिक ही नहीं लोकवार्ता सम्बन्धी महत्व भी रखती हैं।

(५) परम्परानुगत, साहित्य, नाट्य तथा नृत्य—इस प्रकार का प्राचीन साहित्य, नाट्य तथा नृत्य लोकवार्ता ही होती हैं। क्योंकि ऐसा साहित्य एवं नाट्य लोकमानस के स्तर से उत्पन्न भावों की ही अभिव्यक्ति करते हैं।

(आ) वर्तमान लोकवार्ता का विवरणात्मक अध्ययन—वर्तमान लोकवार्ता के अन्तर्गत भी लोकाभिव्यक्ति की वह सम्पूर्ण सामग्री आजाती है जो उपर्युक्त रूपों में आज विविध क्षेत्रों में विद्यमान हैं। डा० सत्येन्द्र ने इसे निम्न फलक द्वारा समझाने की चेष्टा की है[1] —
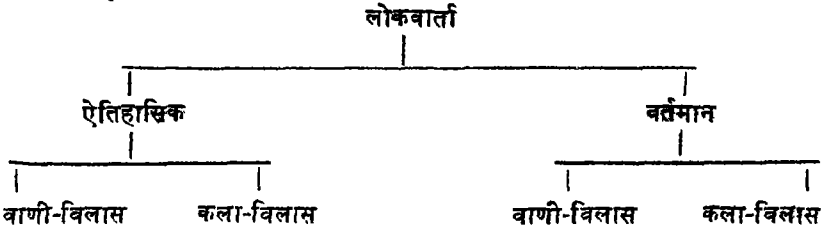
एक बात यहाँ ध्यातव्य है कि लोकवार्ता की अभिव्यक्ति में कला का जो स्वरूप प्रदर्शित होता है उसमें मात्र सौंदर्यानुभूति नहीं होती वरन्, उसका (कला का) सम्बन्ध जनजीवन और विश्वासों से होता है। इस प्रकार की कला का कोई भी रूप (चित्र, मूर्ति आदि) मनोरंजन तथा साजोसज्जा के लिए निर्मित नहीं किया जाता वरन् वह उन सभी लोकानुष्ठानों का अंग होता है जिसमें जादू-टोना, तन्त्र-मन्त्र तथा धर्म का आश्चर्यजनक मिश्रण होता है। आधुनिक लोक-परम्परा में भी जब कोई इस प्रकार की कला (चित्र) का रूप चित्रित किया जाता है तो वह भी सम्पूर्ण अनुष्ठान का एक अंग ही होता है और उनके अभिप्राय के अनुकूल ही होता है। आज अनु-संधानों द्वारा प्राचीन चित्रांकन में जो अभिप्राय सिद्ध होता था प्रायः उसी प्रकार का अभिप्राय आधुनिक लोकवार्ता के चित्रांकनों में प्राप्त होता है। अन्तर केवल इतना है कि आधुनिक लोकवार्ता के चित्रांकन में भावपरकता अधिक है जबकि प्राचीन चित्रांकन में वस्तुपरकता अधिक थी। आधुनिक लोकवार्ता के चित्रांकनों में अत्यन्त स्थूल भावों का आश्रय लिया गया है यथा—संकट से रक्षा, कल्याण-कामना, समृद्धि आदि। इस प्रकार लोकवार्ता के कला-विलास का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया है। डा० सत्येन्द्र ने वाणी की अभिव्यक्ति के रूपों के अतिरिक्त शेष सभी लोकोद्योग को लोककला-विलास में रखकर उन्हें इस प्रकार विभाजित किया है—
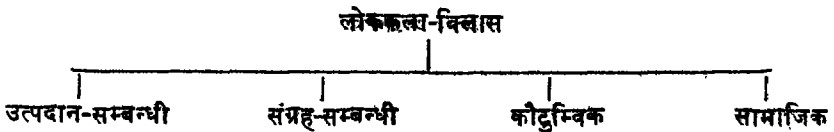
१. **उत्पादन-सम्बन्धी**—आज भी गाँवों में जब खेती की जाती है तो उससे पहले हल, बैल तथा भूमि की पूजा की जाती है। यह आधुनिक लोकवार्ता का अंग

---

१. लोकसाहित्य विज्ञान—डा० सत्येन्द्र—पृ० ११४।

है। पुरातन युग में नरबलि की प्रथा थी। इसी प्रकार संतान-प्राप्ति के लिए भी न जाने कितनी मनौती, टोने-टमने किए जाते हैं।

२. **संग्रह-सम्बन्धी**—इस प्रकार का अनुष्ठान पहली कटाई से ही आरम्भ हो जाता है जिसे 'अर्वन' कहा जाता है। इसी के अन्तर्गत बढ़ावन, चॉक, अथवा छत्तूर आते हैं।

३. **कौटुम्बिक**—कौटुम्बिक कला-विलास का रूप पुत्र-जन्म के अवसर पर गीत, नृत्य आदि तथा पूजन के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। ऐसा ही रूप विवाह, मृत्यु आदि अवसरों पर भी देखा जाता है।

४. **सामाजिक**—सामाजिक कला-विलास का रूप सामूहिक उत्सवों तथा मेलों में दिखाई देता है। इसका रूप पशुओं और खेतों में छूत के रोग फैलने पर भी देखा जाता है। होली आदि त्योहारों पर भी इसी प्रकार के सामूहिक कृत्य होते हैं।

इस प्रकार लोकजीवन के प्रत्येक कार्य और आचार के सम्बन्ध में लोकवार्ता मिलती है। इनमें उत्पादन-विषयक लोकवार्ताएँ अधिक हैं। उत्पादन और उपभोग मनुष्य के समस्त उद्योगों की दो दिशाएँ हैं। संग्रह भी उत्पादन का ही एक अंग है। वास्तव में उत्पादन का उपभोग एक महत्वपूर्ण कर्म है जिसे लोकजीवन में अधिक महानता प्रदान की गई है। उपभोग को तो मेलों के साथ ही सम्बन्धित कर दिया गया है। संग्रह के समय उसकी सुरक्षा और दीर्घकालीन उपयोगिता को अधिक महत्व दिया गया है। संग्रहीत वस्तुओं के उपयोग के भी विभिन्न अनुष्ठान हैं। इनमें कुछ व्यक्तिगत हैं और कुछ सामूहिक।

डा० सत्येन्द्र के अनुसार "उत्पादन और संग्रह तो वस्तु-पदार्थ विषयक होता है। ये जैसे मनुष्य के विधेय हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त मनुष्य का सम्बन्ध जहाँ खड़ा होता है, वहाँ भी विशिष्ट लोकवार्ता जन्म लेती है। ऐसे सम्बन्ध का पहला रूप कौटुम्बिक है। पुरुष-स्त्री > यौन-आकर्षण > पति-पत्नित्व > यौन-संयोग > सहवास-सहकार > संतान-जन्म > मातृत्व-पितृत्व > पोषण-रक्षण = कुटुम्ब। इस कुटुम्ब में प्रत्येक प्रक्रिया और स्थिति के लिए कुछ विशेष आनुष्ठानिक प्रक्रियाएँ होने लगती हैं। कुटुम्ब-कुटुम्ब मिलते हैं अथवा मानव-समूह मिलकर विविध सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो सामाजिक संस्कृति का जन्म होता है। इस सामूहिक स्थिति का अपनी एक विशेष प्रकार की जीवन यात्रा होती है, जिसे परिस्थितियों से, प्रकृति से, अपने ही कौटुम्बिक अवयवों से, बाहरी दलों से संघर्ष करना पड़ता है। इन सबके साथ एक लोकवार्ता और अनुष्ठान प्रस्तुत हो जाता है।"

अनुष्ठान—अनुष्ठानों को निम्नलिखित फलक द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है—

वाणीविलास का भी जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है। इसके भी कई रूप मिलते हैं—

१. लोकसाहित्य विज्ञान—डा० सत्येन्द्र—पृ० ११७ के आधार पर।
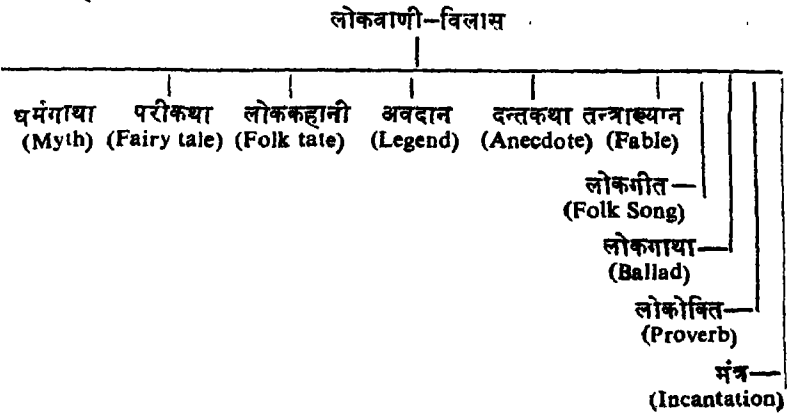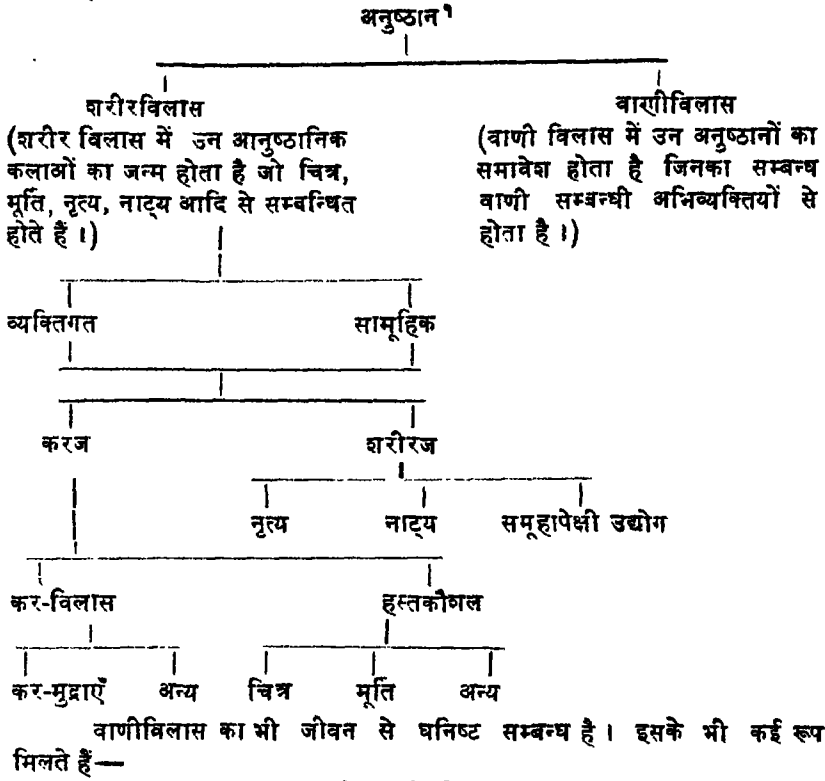
लोकवाणी-विलास के इन रूपों को तीन प्रकार का माना गया है—
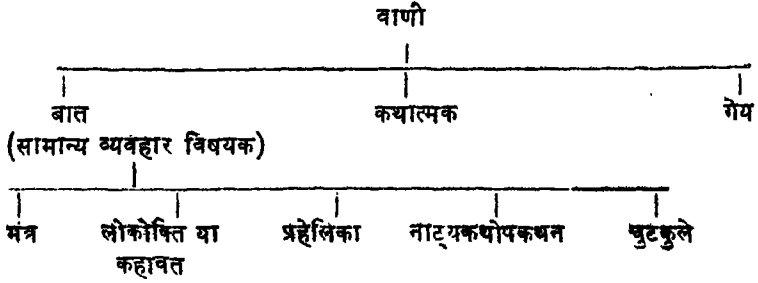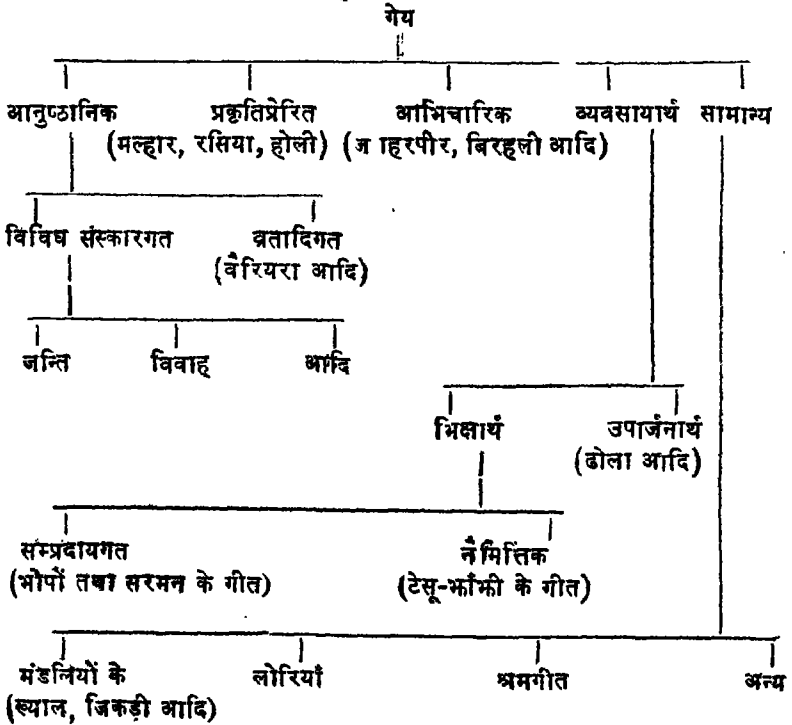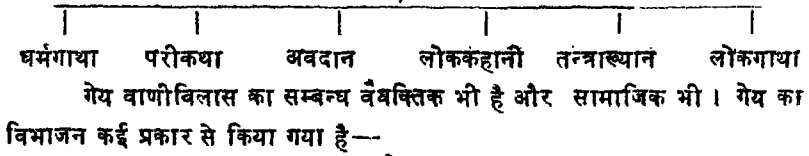
(१) **आनुष्ठानिक गीत**—इस प्रकार के गीतों का सम्बन्ध विभिन्न प्रकार के अनुष्ठानों से है। ऐसे गीत किसी विशेष अनुष्ठानों पर ही गाए जाते हैं।

(२) **प्रकृतिप्रेरित**—इन गीतों का सम्बन्ध विभिन्न ऋतुओं और महीनों से है। ऐसे गीत विभिन्न उत्सवों पर उल्लास तथा आनन्द से गाए जाते हैं।

(३) **आभिचारिक गीत**—इन गीतों का सम्बन्ध बड़े देवी-देवता अथवा सर्प आदि का आह्वान करने तथा खोरादि उतारने के उपक्रम से है।

(४) **व्यवसायार्थ गीत**—इस प्रकार के गीत धनोपार्जन की दृष्टि से गाए जाते हैं।

(५) **सामान्य**—इन गीतों में वे शेष सभी गीत आते हैं जो पुरुषों, स्त्रियों, बालक, बालिकाओं तथा एक व्यक्ति के द्वारा गाए जाते हैं। इनमें कुछ समूह-गीत भी होते हैं जो किसी मंडली, सम्प्रदाय तथा कुछ वर्गों या जातियों द्वारा गाए जाते हैं। इनमें कुछ गीत मंत्रों का कार्य करते हैं तथा कुछ टोने के अभिप्राय से सम्बन्धित रहते हैं। इनमें कथा-कहानी युक्त गीत भी रहते हैं।

उपर्युक्त लोकसाहित्य के भेदों में पाठ्य अथवा अर्द्धगेय नामक एक और भेद भी स्वीकार किया गया है जिसका विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—
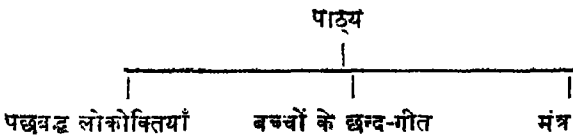
लोकसाहित्य संगीत या गीति प्रधान होने के कारण जनता के हृदय का उद्गार है जिसके सुनने से मन के तार बज उठते हैं। इसी गेयतत्व की प्रधानता मानकर लोकसाहित्य को दो मुख्य वर्गों में भी बाँट सकते हैं:—(१) गेय तथा (२) अगेय। अगेय वर्ग के अन्तर्गत कहानियाँ, धार्मिक उपाख्यान एवं कहावतें आती हैं। इस वर्गीकरण का फलक इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—
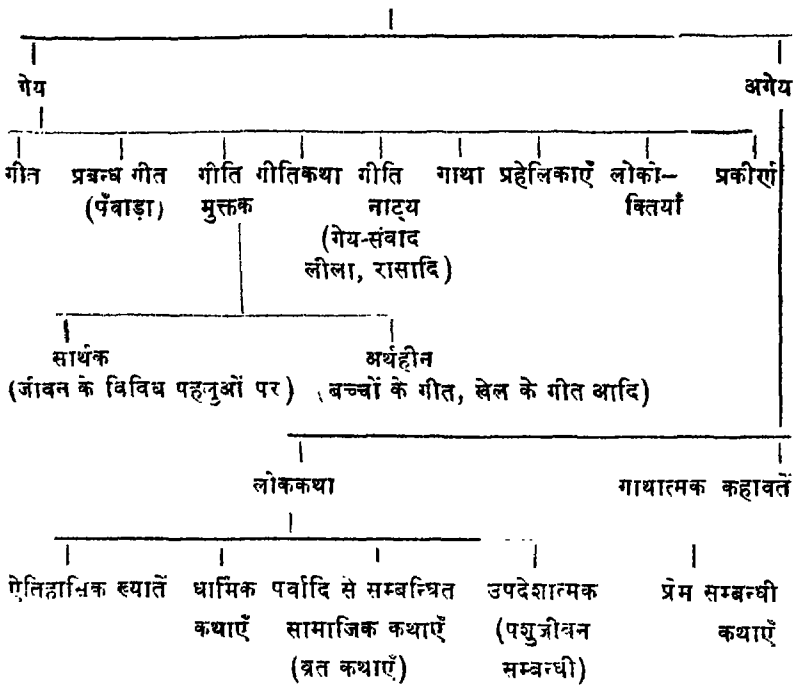
प्रधानतया लोकसाहित्य को हम पाँच भागों में बाँट सकते हैं—

(१) लोकगीत (Folk-lyrics)

(२) लोकगाथा (Folk-ballads)

(३) लोककथा (Folk-tales)

(४) लोकनाट्य (Folk-drama)

(५) प्रकीर्ण साहित्य (Miscellaneous Literature)

प्रकीर्ण साहित्य के अन्तर्गत लोकोक्तियाँ, मुहावरे, सूक्तियाँ, बच्चों के गीत, पालने के गीत, खेल के गीत इत्यादि आते हैं जिनका व्यवहार गाँव के लोग अपने प्रतिदिन के व्यवहार में किया करते हैं।

इसी वर्गीकरण को ही हमने अपने अध्ययन का आधार बनाया है।

५ | लोकगीत

लोकगीतों का उद्गम, परिभाषा एवं महत्व—

गीत की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए महादेवी वर्मा ने लिखा है—"सुख-दुख की भावावेशमयी अवस्था का विशेषकर गिने-चुने शब्दों में स्वरसाधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।"[१] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि जब मानव कभी भी स्वानुभूति से प्रेरित होकर दुख तथा सुख संवेदना से आन्दोलित हुआ होगा तभी गीतों के अजान स्वर उसके अधरों पर लरज उठे होंगे ! मानव के हृदय में चाहे वह सभ्य हो या असभ्य अपनी स्वानुभूति को अभिव्यक्त करने की इच्छा और क्षमता अवश्य रहती है और जब उसकी रागात्मक प्रवृत्ति लयबद्ध होकर निकलती है तभी गीत का रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार जब समस्त जन-समाज में चेतन-अचेतन रूप में जो भावनाएँ गीतबद्ध होकर अभिव्यक्त होती हैं, उन्हें लोकगीत कहते हैं। आदि मानव के हृदय मे जो विकृत भावनाएँ निसृत हुई थीं वे ही आगे चलकर लोकगीत के रूप में परिवर्तित हो गईं। जब जन-जीवन के भाव अभिव्यक्त होकर अंकित हो जाते हैं तो उनमें वहाँ की मिट्टी बोलने लगती है, खेत गुनगुनाने लगते हैं और गलियारे तथा आँगन नाच उठते हैं। इस "गीतों के प्रारम्भ के प्रति एक सम्भावना हमारे पास है, पर उसके अन्त की कोई कल्पना नहीं। यह वह बड़ी धारा है, जिसमें अनेक छोटी-मोटी धाराओं ने मिल कर उसे सागर की तरह गम्भीर बना दिया है। सदियों के घात-प्रतिघातों ने उसमें आश्रय पाया है। मन की विभिन्न स्थितियों ने उसमें अपने मन के ताने-बाने बुने हैं। स्त्री-पुरुष ने थक कर इसके माधुर्य में अपनी थकान मिटाई है। इसकी ध्वनि में बालक सोये हैं, जवानों में प्रेम की मस्ती आई है, बूढ़ों ने मन बहलाए हैं, वैरागियों ने उपदेशों का पान कराया है, विरही युवकों ने मन की कसक मिटाई है, विधवाओं ने अपने एकांगी जीवन में रस पाया है, पथिकों ने थकावटें दूर की हैं, किसानों ने अपने बड़े-बड़े खेत जोते हैं, मजदूरों ने विशाल भवनों पर पत्थर चढ़ाये हैं और मौजियों ने चुटकुले छोड़े हैं।"[२]

---

१. विवेचनात्मक गद्य—महादेवी वर्मा—पृ० १४१।
२. भारतीय लोकसाहित्य—डा० श्याम परमार—पृ० ५३।

ये गीत किसी व्यक्ति द्वारा रचित नहीं होते और न ही ये सामान्य जन-मानस की अज्ञात सृष्टि हैं। फिर ये गीत कहाँ से आते हैं। इस पर श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का विचार द्रष्टव्य है—

कहाँ से आते हैं इतने गीत ? स्मरण-विस्मरण की आँख-मिचौनी से। कुछ अट्टहास से। कुछ उदास हृदय से। कहाँ से आते हैं इतने गीत ? जीवन के खेत में उगते हैं ये सब गीत। कल्पना भी अपना काम करती है, रसवृत्ति और भावना भी, नृत्य का हिलोरा भी—पर ये सब हैं खाद। जीवन के सुख, जीवन के दुःख, ये हैं लोकगीत के बीज।"[१]

आदिकाल में जब सामाजिक चेतना का विकास हो रहा था ऐसे गीतों का जन्म हुआ जिसका सम्बन्ध जीवन से था। धीरे-धीरे मानव प्रकृति पर विजय पाने लगा अतः उसके गीतों में विजय का उल्लास अभिव्यक्त होने लगा। परन्तु मानव प्रकृति के विकराल रूप से परास्त हुआ और उसका सामना करने का साहस उसमें कालान्तर में उत्पन्न हुआ। तब उसने संगठन का मूल्य जाना और सामाजिकता की आवश्यकता समझी। यही कारण है कि आदिकाल के गीतों में मानव की सामूहिक भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। विभिन्न ऋतुएँ एवं उत्सवों पर गाए जाने वाले गीत मानव के सामूहिक श्रम, उल्लास एवं संघर्ष की कथाएँ ही हैं।

लोकगीत : परिभाषा—

लोकवार्ता-साहित्य के पाश्चात्य तथा भारतीय विवेचनकर्त्ताओं ने लोकगीत की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। **पाश्चात्य विचारकों** की परिभाषाएँ इस प्रकार हैं :—

१. "A folksong composes itself"—Grimm.[२]
(लोकगीत तो स्वतःजन्मा है।)

२. 'This primitive spontaneous music has been called folk-song."
—Percy.[3]

(आदिमानव के उल्लासमय संगीत को ही लोकगीत कहते हैं।)

३. "A folk song is neither new nor old, it is like a forest tree with its roots deeply burried in the past, but which continually puts forth new branches, new leaves, new fruits."—Ralph, V. Williams.[४]

---

१. धरती गाती है—देवेन्द्र सत्यार्थी—पृ० १७८।
२, Encyclopaedia Britanica—Vol. IX Page 448.
३. वही—पृ० ४४७।
४. वही—पृ० ४४८।

(लोकगीत न तो नया होता है और न पुराना। वह तो जंगल के एक वृक्ष के समान है जिसकी जड़ें भूतकाल की जमीन में गहरी धँसी हुई हैं, परन्तु जिसमें निरन्तर नई-नई डालियाँ, पल्लव और फल उगते रहते हैं।)

भारतीय विचारकों की परिभाषाएँ—

१. "Its seed lies in community singing"

—Davendra Satyarthi.[१]

(लोकगीतों का मूल जातीय संगीत में है।)

२. "A folk-song is a spontaneous out-flow of the life of the people who live in a more or less primitive conditions."

—K. B. Dass.[२]

(लोकगीत उन लोगों के जीवन का स्वतोद्गीर्ण प्रवाह है जो आदिम अवस्था में जीवन बिताते हैं।)

३. "लोकगीत किसी संस्कृति के मुँह बोलते चित्र हैं।"

—वासुदेवशरण अग्रवाल।[३]

४. "लोकगीत विद्यादेवी के बौद्धिक उद्यान के कृत्रिम फूल नहीं। वे मानो अकृत्रिम निसर्ग के श्वास-प्रश्वास हैं। सहजानन्द में से उत्पन्न होने वाली श्रुति मनोहरत्व से सच्चिदानन्द में विलीन हो जाने वाली आनन्दमयी गुफाएँ हैं।"

—डा० सदाशिवकृष्ण फडके।[४]

५. "आदिम मनुष्य-हृदय के ज्ञानों का नाम लोकगीत है। मानव-जीवन की, उसके उल्लास की, उसकी उमंगों की, उसकी करुणा की, उसके रुदन की, उसके समस्त सुख-दुःख की..................कहानी इनमें चित्रित है।"

—सूर्यकिरण पारीक व नरोत्तम स्वामी।[५]

६. "ग्रामगीत प्रकृति के उद्गार हैं। इनमें अलंकार नहीं, केवल रस है! छन्द नहीं, केवल लय है!! लालित्य नहीं, केवल माधुर्य है!!! ग्रामीण मनुष्य के, स्त्री-पुरुषों के मध्य में हृदय नामक आसन पर बैठकर प्रकृति गान करती है। प्रकृति के वे ही गान ग्रामगीत हैं।"

—रामनरेश त्रिपाठी।[६]

---

१. Meet my people, Page 194.
२. A study in Orrison Folk-lore —Introduction-page 1.
३. आजकल—नवम्बर, १९५१।
४. हिन्दी साहित्य सम्मेलन-पत्रिका—लोकसंस्कृति अंक—पृ० २५०-५१ (सं० २०१०)।
५. राजस्थान के लोकगीत (पूर्वार्द्ध) प्रस्तावना—पृ० १-२।
६. कविता-कौमुदी—भाग ५—प्रस्तावना—पृ० १—२।

७. "लोकगीतों के निर्माता प्रायः अपना नाम अव्यक्त रखते हैं और कुछ में वह व्यक्त भी रखता है। वे लोकभावना में अपने भाव मिला देते हैं। लोकगीतों में होता तो निजीपन ही है किन्तु उनमें साधारणीकरण एवं सामान्यता कुछ अधिक रहती है।" —बाबू गुलाबराय।[१]

८. "सामान्य लोकजीवन की पार्श्वभूमि में अचिन्त्यरूप से अनायास ही फूट पड़ने वाले मनोभावों की लयात्मक अभिव्यक्ति लोकगीत कहलाती है।"

—डा० चिन्तामणि उपाध्याय।[२]

९. "ग्रामगीत सम्भवतः वह जातीय आशुकवित्व है, जो कर्म या क्रीड़ा के तालपर रचा गया है। गीत का उपयोग जीवन के महत्त्वपूर्ण समाधान के अतिरिक्त मनोरंजन भी है।" —सुधांशु।[३]

१०. "ग्रामगीत आर्येतर सभ्यता के वेद हैं।"[४]

११. "लोकगीत मानवीय कृतित्व की वह सामान्य धरोहर है जो विश्व-मानव की भूमि पर प्राप्त हुई है।" —डा० सत्येन्द्र।[५]

१२. "लोकगीतों में संगीत एवं काव्य का सम्मिश्रण होता है।"

कोमल कोठारी।[६]

१३. "लोकगीत हमारे जीवन-विकास के इतिहास हैं।"

—डा० तेजनारायणलाल।[७]

१४. "लोकगीत स्वतः स्फुरणा की देन हैं।" बद्रीप्रसाद पंचोली।[८]

१५. लोकगीत रस में सने हुए हैं। —मोहनकृष्ण दर।[९]

१६. "लोकगीत मानव-हृदय की प्रकृत भावनाओं की तन्मयता की तीव्रतम अवस्था की गति है, जो स्वर और ताल को प्रधानता न देकर लय या धुन-प्रधान होते हैं।" —शान्ति अवस्थी।[१०]

---

१. काव्य के रूप—पृ० १२३।
२. लोकायन—पृ० १६।
३. जीवन के तत्त्व और काव्य सिद्धान्त—पृ० १७५।
४. छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय—भूमिका—पृ० ५।
५. हाड़ौती लोकगीत—चन्द्रशेखर भट्ट—प्राक्कथन लेखक—डा० सत्येन्द्र।
६. लोकगीत और संगीत—परम्परा (जोधपुर।) सं० २०१३।
७. मैथिली लोकसाहित्य का अध्ययन...पृ० १६।
८. नवभारती—(श्री गंगानगर)—वर्ष ६ अंक १ पृ० ५६।
९. कश्मीर का लोकसाहित्य—पृ० ४७।
१० हिन्दी साहित्य सम्मेलन-पत्रिका—लोकसंस्कृति अंक सं० २०१०, पृ० ३७।

१७. "लोकगीत सर्व-सामान्य की बहुश्रुत परम्परा के स्वतः स्फूर्जित उद्गार हैं।" तथा "लोकगीत कवि की परोक्षानुभूतिपरक दृष्टिकोण से सहज रूप में उद्भूत संगीतात्मक शब्द-योजना को कहा जा सकता है।" —डा० चन्द्रशेखर भट्ट।[1]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं —

(१) लोकगीतों में लोकजीवन की विभिन्न रागात्मक वृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है।

(२) इस अभिव्यक्ति के लिए जिस शैली का आश्रय लिया जाता है वह लयात्मक होती है।

(३) लोकगीत मानव-सभ्यता और संस्कृति के विकास पर प्रकाश डालते हैं।

(४) लोकगीत स्वतः स्फूर्जित रससिक्त उद्गार हैं।

(५) लोकगीत अनादिकाल से सामूहिक भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति करता चला आ रहा है।

(६) इन गीतों में व्यक्ति-विशेष की रचनाएँ भी सामूहिक भावनाओं में ढलकर सामान्य हो जाती है अतः सामूहिक प्रवृति अधिक व्यापक है।

(७) लोकगीत लोकानुरंजन के साथ मानवीय कर्मों के प्रेरणा स्रोत हैं।

अतः हमारी दृष्टि से लोकसंस्कृति, लोकविश्वास एवं लोकपरम्परा की रक्षा एवं निर्वाह करते हुए लोकजीवन अपनी रागात्मक-प्रवृत्तियों की तत्स्फूर्त लयात्मक अभिव्यक्ति जिस माध्यम से करता है उसे लोकगीत कहते हैं।

लोकगीतों के लक्षण तथा उपलक्षण पर विचार करते हुए डा० तेजनारायण लाल ने इस प्रकार लिखा है [2]—

लोकगीतों के लक्षण : विशेषताएँ—

(१) लोकगीत का कोई विशेष गीतकार नहीं होता। वह सामूहिक रचना होती है। जब तक कोई रचना लिपिबद्ध नहीं होती तब तक लेखक का महत्त्व नहीं होता है और वह रचना परिवर्तित होती रहती है।

(२) लोकगीत का कोई परिणत स्वरूप नहीं है। कविता की भाँति वह ज्यों का त्यों नहीं रहता, बल्कि बदलता रहता है।

(३) प्रत्येक लोकगीत का ठीक रचनाकाल मालूम नहीं हो पाता है, बाद में पद भी उसमें जुड़ जाते हैं।

---

१. हाड़ौती लोकगीत—पृ० ३० ।

२. मैथिली लोकगीतों का अध्ययन—पृ० १७-१८ ।

(४) लोकगीतों का मौखिक प्रचार ही अधिकतर होता है। संभवतः वेद को लिखकर पढ़ते तो स्वरभंग हो जाता और अर्थभंग भी। इसी से उसे 'श्रुति' कहते हैं। वेदों और लोकगीतों में यह बड़ी समानता है। वेद भी लिखित नहीं आया और न लोकगीत ही।

(५) लोकगीतों की शैली सहज होनी है। सभी लोकगीत गाने योग्य होते हैं। कविता भी गेय होती है, लेकिन उसमें गेयता का तत्त्व प्रधान और अनिवार्य नहीं है। एक व्यक्ति उसे गा सकता है, लेकिन सामूहिक रूप से जब उसे गाते हैं तो गेयता का निर्वाह करना कठिन हो जाता है।

लोकगीतों के उपलक्षण—

(१) आशु रचना : लोकगीतों की रचना अति भावावेग में होती है। अपने आप मुंह से स्वर-लहरी फूट पड़ती है। जो गाया वही गीत बन गया।

(२) पुनरावृत्ति : लोकगीतों में कहीं न कहीं एक टेक होती है। एक पंक्ति जो पहले आती है वह प्रायः प्रत्येक कड़ी में दुहरायी जाती है।

(३) परिचित वस्तुओं का प्रयोग : तत्कालीन समाज में जिस विषय को प्रत्येक व्यक्ति जानता रहता है उसका ही विशेष उल्लेख लोकगीतों में होता है।

फ्रेंच विद्वान मोशिए ऑयरे के अनुसार लोकगीतों के लक्षण निम्नलिखित हैं—[1]

(१) अन्त्यानुप्रास के स्थान पर ध्वनिसाम्य का प्रयोग,

(२) पुनरुक्ति (कथोपकथन में),

(३) तीन, पाँच, सात आदि संख्याओं का बराबर प्रयोग तथा

(४) दैनिक व्यवहार की वस्तुओं को सोने-रूपे की कहना।

डा० यदुनाथ सरकार ने लोकगीत की विशेषताएँ निम्न शब्दों में व्यक्त की हैं—

"प्रबन्ध की द्रुतगति, शब्द-विन्यास की सादगी, विश्व-व्यापक मर्मस्पर्शी प्राकृतिक और आदिम मनोराग, सूक्ष्म किन्तु प्रभावोत्पादक चरित्र-चित्रण, क्रीड़ास्थली अथवा देशकाल का स्थूल अंकन, साहित्यिक कृत्रिमताओं का न्यूनातिन्यून प्रयोग या सर्वथा बहिष्कार—सच्चे लोकगीत की ये नितान्त आवश्यक विशेषताएँ हैं।"

लोकगीतों के प्रकृत स्वरूप एवं सामान्य लक्षणों पर विचार करते हुए डा० चिन्तामणि उपाध्याय ने उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ गिनाई हैं—[2]

(१) निरर्थक शब्दों का प्रयोग (२) पुनरावृत्तियाँ (३) प्रश्नोत्तर प्रणाली (४) टेक (गीत की आधार भूत लयबद्ध पंक्तियाँ)

---

१. भारतीय लोकसाहित्य—श्याम परमार—पृ० ५६ से उद्धृत।

२. मालवी लोकगीत—एक विवेचनात्मक अध्ययन—पृ० १२।

संक्षेप में लोकगीतों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) **गीतकार अज्ञात**—लोकगीत का कोई रचयिता नहीं होता। उसे किसी व्यक्ति की रचना नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त लिपिबद्ध होने पर तो लेखक का महत्व होता है परन्तु लोकगीत मौखिक होते हैं लिपिबद्ध नहीं होते। अतः इसमें परिवर्तन होता रहता है।

(२) **सामूहिक भावभूमि**—लोकगीतों को समूह द्वारा निर्मित माना जाता है। अतः इसमें एक सामूहिक भावभूमि तथा समूह के सामाजिक मूल्यों को अभिव्यक्त करने की शक्ति है। ये गीत सामूहिक रूप से ही गाए जाते हैं। परन्तु एक बात यहाँ कहनी है। जैसा माना जाता है कि लोकगीतों का निर्माण लोकसमूह द्वारा होता है—ऐसा नहीं होता। रचना तो व्यक्ति ही करता है परन्तु उसका तादात्म्य लोक से ऐसा हो जाता है कि न तो निर्माण के समय का पता लगता है और न उसके प्रचार एवं प्रसार का। होता यह है कि एक व्यक्ति आरम्भ करता है और दूसरा-तीसरा उसमें कोई न कोई कड़ी जोड़ता चला जाता है। ये कड़ियाँ ही मूल गीत बनकर लोक-परम्परा में चल पड़ती है।

(३) **सहजता एवं अकृत्रिमता**—लोकगीत सहज और अकृत्रिम होते हैं। ये गीत सामूहिक चेतना और लोकभावना पर आधारित होते हैं। इनकी अभिव्यक्ति का आधार सरलता और सहजता है। यहाँ किसी प्रकार के कृत्रिम बन्धनों के लिए कोई स्थान नहीं।

(४) **मौखिक परम्परा**—लोकगीतों की परम्परा मौखिक ही रही है। ये गीत ग्रामीणों के होठों पर बिखरे पड़े हैं। हर विषय, हर भाव तथा हर समय का गीत यहाँ उपलब्ध है। वास्तव में शिक्षा मौखिक साहित्य की शत्रु है। शिक्षा प्राप्त कर व्यक्ति अपनी परम्परा को हेय समझने लगता है। यही कारण है कि लोकगीत लुप्त होते जारहे हैं। इनके संरक्षण और प्रसार की ओर हमें ध्यान देना चाहिए।

(५) **नाम जोड़ने की प्रवृत्ति**—लोकगीतों में दैनिक व्यवहार की वस्तुओं के नाम बार-बार आते हैं। तत्कालीन समाज में, जिस विषय को प्रत्येक व्यक्ति जानता रहता है, तथा जिस क्षेत्र का वह है, उसका ही उल्लेख इन गीतों में आता है। परम्परागत गीतों में कुछ नाम बार-बार आते हैं। नए नामों का आना भी स्वाभाविक ही है।

(६) **प्रश्नोत्तर प्रवृत्ति**—सीधे प्रश्न-सीधे उत्तर ! यह सादगी सहज सामाजिक भावना से सम्बन्धित है।

(७) **संख्या**—लोकगीतों में संख्यापरक शब्दों का प्रयोग बार-बार होता है। तीन, पाँच, सात, आठ, नौ, छत्तीस, सौ आदि संख्याओं का उल्लेख इन गीतों में कई स्थानों पर हुआ है।

(८) **प्रतीक्षा करना**—जब लोग गाँव में रहते थे तो अपने प्रवासी प्रेमी की बाट अटारी पर चढ़ कर ही देखते थे। दूर की वस्तुओं को पेड़ पर, पहाड़ पर, अटारी पर चढ़कर देखा जा सकता है।

(९) **संगीत एवं लय**—लोकगीत गेय होते हैं। लय के साथ गाने योग्य होते है। लय और संगीत के बिना लोकगीत अधूरा है।

(१०) **पुनरावृत्ति**—लोकगीतों में टेक होती है। पहली पंक्ति प्रायः प्रत्येक कड़ी में दुहराई जाती है।

(११) **स्वच्छन्दता**—लोकगीत किसी निर्धारित बन्धन में बँधा नहीं होता। सामूहिक चेतना और लोकभावना पर आधारित गीतों में छन्दादि की रुढ़िगत परम्परा को लेकर चलना संभव नहीं। उन्मुक्त वातावरण लोकगीतों के लिए आवश्यक है। जहाँ लोकभावना सभ्यता के आडम्बरयुक्त बन्धनों को तोड़ देती है वहाँ अभिव्यक्ति स्वच्छन्द होती है। इस सम्बन्ध में डा० सदाशिव फडके का कथन सही है—"शास्त्रीय नियमों की विशेष परवाह न करके सामान्य लोकव्यवहार के उपयोग में लाने के लिए मानव अपने आनन्द-तरंग में जो छन्दोबद्ध वाणी सहज उद्भूत करता है, वही लोकगीत है।"[1]

(१२) **उपदेशात्मकता**—अधिकांश लोकगीतों के अन्त में एक उपदेश देने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

(१३) **रससृष्टि**—भारतीय लोकगीतों में अत्यधिक रसात्मकता पाई जाती है। यही कारण है कि आज के सभ्य समाज के हृदयों को कंपित करने की शक्ति उसमें है।

लोकगीतों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। मानव जीवन के मूल भावों को सरलतम रूप में अभिव्यक्त करने की शक्ति इन लोकगीतों में है। केवल दो पंक्तियों में जीवन के विविध पक्षों को कवित्वपूर्ण तथा आलंकारिक ढंग से कहने की शक्ति इन्हीं लोकगीतों में है। ये स्वतः स्फूर्त प्राकृतिक काव्य के अंग हैं। इनमें रसोद्बोधन की अपार शक्ति एवं सरल सौंदर्य को अभिव्यक्त करने की क्षमता है। इनमें लोकहृदय की अनुभूति अधिक खुलकर सामने आती है। गेयता इनका प्रधान गुण है। "अनुभूति की मार्मिकता तथा अभिव्यक्ति के सरल, स्पष्ट, किन्तु तीव्र होने के कारण अनेक गीतों में अंशतः काव्य के गुण स्वाभाविक रूप से इसमें आजाते हैं। किन्तु प्राथमिक संस्कृतियों के निम्न धरातल पर जीवन यापन करने वाले अनेक आदिवासी-समूहों के गीतों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। हैदराबाद दक्षिण की चेंचू आदि जाति के अध्ययन में क्रिस्टोफ फॉन फ्यूरर-हैमण्डार्फ ने बतलाया है कि

१. हिन्दी साहित्य सम्मेलन-पत्रिका—लोकसंस्कृति विशेषांक—पृ० २५०।

इन लोगों के गीत प्रायः अस्पष्ट उद्‌गार ही होते हैं। उनमें काव्यात्मक अभिव्यक्ति का अभाव रहता है। आसाम की कोन्यक नागा आदि जाति के गीत सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी कवित्व की दृष्टि से प्रायः उपेक्षणीय ही हैं * * * परन्तु अनेक भारतीय आदि जातियाँ ऐसी भी हैं जिनके लोकगीत कविता की दृष्टि से समृद्ध हैं। वैरियर एल्विन और शामराव हिवाले द्वारा संग्रहीत मध्यप्रदेश की आदि जातियों के गीत और आर्चर द्वारा एकत्र किये गए छोटा नागपुर के संथाल आदि-समूहों के अनेक गीत कविता के रूप में भी महत्त्वपूर्ण हैं।"[१]

लोकगीत : ग्रामगीत : जनगीत—

'लोक' शब्द के अर्थ पर प्रारम्भ में काफी विचार किया गया है। यह निस्संदेह अँग्रेजी के 'Folk' शब्द का पर्यायवाची है। अँग्रेजी में 'फोक' का अर्थ है—लोक, जाति, राष्ट्र या वर्ग-विशेष। सभ्य राष्ट्रों में बसने वाली असभ्य, आदिम तथा जंगली जाति की परम्परा, रीति तथा अन्धविश्वास के लिए W.J. Thoms ने 'फोकलोर' शब्द का प्रयोग किया।[२] उस समय की आदिम जातियों के गान तथा नृत्य के लिए 'Folk-Music' तथा 'Folk-Dance' शब्द का प्रयोग होने लगा। यही अँग्रेजी का 'Folk' शब्द जर्मन भाषा में 'Volkslied' शब्द के अर्थ में प्रयुक्त होता जान पड़ता है। परन्तु कुछ विद्वान इस शब्द को लोकगीत के अर्थ में ग्रहण करने में संकोच करने लगे। वे इसे अप्रिय एवं संकीर्ण अर्थ का द्योतक मानते हैं।[३] परन्तु यह निश्चित है कि अँग्रेजी के 'फोक' शब्द से ही 'फोकलिटरेचर', 'फोकटेल', 'फोकलोर', 'फोक-डांस', 'फोकसाँग', आदि शब्द गढ़े गए। इन्हीं के आधार पर हिन्दी में 'लोक-साहित्य', 'लोककथा', 'लोकसंस्कृति', 'लोकनृत्य', 'लोकगीत' आदि शब्दों का निर्माण हुआ। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने इसका अर्थ 'ग्रामगीत' किया है।[४] इसी आधार पर देवेन्द्र सत्यार्थी[५] तथा सुधांशु[६] ने भी 'ग्रामगीत' शब्द ही अपनाया है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक पत्र में 'रूरल सॉंग' शब्द का प्रयोग किया। त्रिपाठी जी को लिखित एक और पत्र में लाला लाजपतराय ने भी 'फोकलोर' के लिए 'ग्रामगीत' शब्द का ही प्रयोग किया है। डा० सत्येन्द्र ने भी एक स्थान पर[८] 'फोकलोर' के लिए 'गीतकथा'

१. मानव और संस्कृति—श्यामाचरण दुबे—पृ० १६६—१६७।
२. Encyclopaedia Britanica Vol. IX page 446.
३. Humour in American Songs-Preface-Arthur Loccessor-page 8.
४. कविता कौमुदी (५वाँ भाग)—उपशीर्षक ग्रामगीत।
५. हंस (फरवरी १९३६)—हमारे ग्रामगीत।
६. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त—आठवाँ अध्याय।
७. कविता कौमुदी (५वाँ भाग)—पृ० ७७—७८।
८. ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन—पृ० ४६।

और 'फोकसाँग' के लिए 'ग्रामगीत' शब्द प्रयुक्त किया है। 'ग्रामगीत' शब्द को अधिक उपयुक्त बताते हुए पं० रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है—"मैंने गीतों का नामकरण 'ग्रामगीत' शब्द से किया है, क्योंकि गीत तो ग्राम की सम्पत्ति हैं, शहरों में तो वे गए हैं, जन्मे नहीं; फिर ग्रामों का यह गौरव उनसे क्यों छीना जाय ? ग्रामगीत तो शहरों में भी प्रत्येक संस्कार में, जातीय त्योहारों और सार्वजनिक उत्सवों में गाये जाते हैं। इससे मैं उचित समझता हूँ कि गाँवों की यह यादगार 'ग्रामगीत' शब्द द्वारा स्थाई हो जाय।"[1]

डा० कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार, 'ग्रामगीत' और 'लोकगीत' भिन्न-भिन्न हैं। उनके अनुसार 'बेलेड' लोकगीत है और 'फोकसाँग' ग्रामगीत। उनका कहना है—"ग्रामगीत से मेरा आशय उन गीतों से है जो गेय हैं—लोकगीत वे हैं जो प्रबन्धात्मक हैं और इनमें कथा की प्रधानता है, गान नहीं।"[2]

उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई 'ग्रामगीत' की परिभाषाओं पर भी एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है—

१. 'ग्रामगीत' प्रकृति के उद्‌गार हैं।[3] —पं० रामनरेश त्रिपाठी

२. 'ग्रामगीत छोटे होते हैं और रचनाकाल की दृष्टि से आधुनिक भी हो सकते हैं।'[4] —कृष्णानन्द गुप्त

३. 'ग्रामगीत छोटा ही नहीं बड़ा भी हो सकता है।'[5] —डा० सत्येन्द्र

४. ग्रामगीत आर्येतर सभ्यता के वेद श्रुति) हैं।[6]
—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी

उपर्युक्त विवेचन एवं परिभाषाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पं० रामनरेश त्रिपाठी के अनुकरण पर ही अन्य विद्वानों ने भी 'ग्रामगीत' शब्द का प्रयोग 'फोकसाँग' (लोकगीत) के पर्याय के रूप में किया। " 'ग्राम' शब्द को अपनाने में जहाँ तक भावुकता का प्रश्न है उसका प्रयोग करना व्यक्ति-विशेष के अपने दृष्टिकोण पर निर्भर है, किन्तु वैज्ञानिक अध्ययन एवं भाषा-विज्ञान की दृष्टि से किसी भी शब्द के प्रयोग में उनकी एकरूपता का रहना आवश्यक है। ग्रामगीत शब्द में लोकगीत

---

१. जनपद (त्रैमासिक) अंक १—पृ० ११।
२. जनपद (त्रैमासिक) अंक १—पृ० ३८।
३. कविता-कौमुदी (५वाँ भाग)—पृ० १।
४. ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन—पृ० ७५ से उद्धृत।
५. वही पृ० ७५।
६. छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय—पृ० ५।

शब्द की सी व्यापकता का अभाव है। ग्राम के अतिरिक्त ऐसा भी एक विस्तृत समाज है जिसकी अपनी धारणाएँ हैं, विश्वास हैं, गीत हैं। भारत की सम्पूर्ण मानवता को ग्राम और नगर की सीमा में बाँधना उचित नहीं है। क्योंकि साधारण जनता केवल ग्राम तक सीमित नहीं है। लोक की सीमा बड़ी व्यापक है, व उसमें ग्राम और नगर का समन्वय अविच्छिन्न है।"[१]

सर्वप्रथम श्री सूर्यकरण पारीक ने 'ग्रामगीत' शब्द का विरोध कर 'लोकगीत' को उपयुक्त स्वीकार किया।[२] इसके पश्चात पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'लोक' शब्द की स्थिरता पर प्रकाश डाला। द्विवेदी जी ने लोकसंस्कृति, लोककला, लोकसाहित्य आदि शब्दों का प्रयोग कर ग्राम और नगर के भेद को अस्वीकार कर दिया।[3] स्व० झवेरचन्द्र मेघाणी ने त्रिपाठी जी से पूर्व ही 'लोकगीत' शब्द का प्रयोग गुजराती में किया।[४]

निस्संदेह 'लोकगीत' शब्द अत्यन्त व्यापक एवं विशदार्थी है। 'लोक' का प्रयोग वस्तुतः ग्रामीण और नागरिक जन के अर्थ में सदा से ही व्यवहार में आता रहा है। अतः लोकगीत का प्रयोग सामान्य जनता द्वारा उद्भूत 'मौखिक गीत' के अर्थ में ही ग्रहण किया जाना चाहिए। क्योंकि लोकभावना का प्रतिबिम्ब केवल ग्राम की जनता से नहीं हो सकता। ग्राम और नगर के भेद को मिटाने वाला शब्द लोक ही है। "लोकगीत लोकसाहित्य का ही गीत-प्रधान अंग है जिसका उद्भव नगर और ग्राम के संयुक्त साधारणजन के मध्य होता है। वही वर्ग 'लोक' है। किन्हीं अंशों में लोकोन्मुखी-प्रवृत्ति का संस्कृतजन भी इस 'लोक' का अंश बन जाता है। अतः ग्राम-गीत इस दृष्टि से लोकगीत के पूरक ही हैं। एक 'ग्रामगीत' 'लोकगीत' हो सकता है, किन्तु 'लोकगीत' 'ग्रामगीत' नहीं हो सकता।"[५] इसके अतिरिक्त 'लोक' शब्द अधिक प्रचलित भी होगया है। इस शब्द ने अपना स्थिर रूप धारण कर लिया है यथा— लोकसंस्कृति, लोकसाहित्य, लोकगाथा, लोककथा, लोकनृत्य, लोकनाट्य, लोककला, लोकगीत, लोकपरम्परा, लोकरीति, लोकविश्वास, लोकमानस आदि। ऐसी स्थिति में इस शब्द के स्थान किसी अन्य पर शब्द का प्रयोग करना इस शब्द के साथ अन्याय करना है।

आजकल साहित्य में 'लोकगीत' के लिए 'जनगीत' शब्द का प्रयोग भी किया जाने लगा है। डा० मोतीचन्द ने 'फोक' के लिए 'जन' शब्द का प्रयोग किया।

---

१. मालवी लोकगीत—एक विवेचनात्मक अध्ययन—डा० चिन्तामणि उपाध्याय—पृ० ६।
२. राजस्थानी लोकगीत—पृ० १।
३. जनपद (अंक १)—पृ० ६६।
४. रढियाली रात (भाग १)—परिचय—पृ० ५-६।
५. भारतीय लोकसाहित्य—श्याम परमार—पृ० ७३।

प्राचीनकाल में प्रदेश-विशेष के लिए 'जनपद' शब्द का प्रयोग होता रहा है। आजकल हिन्दी-साहित्य में जनगीत तथा जनवादी साहित्य की बड़ी चर्चा है। डा० नामवरसिंह ने जनवादी स.हित्य पर विचार करते हुए लिखा है—"जनसाहित्य औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न समाज-व्यवस्था की भूमिका में प्रवेश करने वाले सामान्य जन का साहित्य है और इसीलिए जनसाहित्य, लोकसाहित्य से इसी अर्थ में भिन्न है कि लोकसाहित्य जहाँ जनता के लिए जनता ही द्वारा रचित साहित्य है, वहाँ जनसाहित्य जनता के लिए व्यक्ति द्वारा रचित साहित्य है।"[१] यही बात लोकगीत और जनगीत पर लागू होती है।

लोकसाहित्य का रचयिता लोकभावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम है। वह अपने व्यक्तित्व को लोकभावों में डुबोकर लोकस्वरूपी हो जाता है। जनसाहित्य के रचयिता का व्यक्तित्व अपना वैशिष्ट्य नहीं खोता। उसका साहित्य लोकसाहित्य के समान मौखिक न होकर मुद्रित होता है। जनसाहित्य शिष्ट व्यक्ति का साहित्य है। वास्तव में यही भेद लोकगीत और जनगीत में है।

अत: स्पष्ट है कि 'जन' शब्द में व्यापकता नहीं है। वह 'फोक' शब्द की वांछनीय अर्थसत्ता से शून्य है।

लोकगीतों के प्रकार—

लोकगीत कई प्रकार के होते हैं। इसको समझने के लिए कई दृष्टियों से लोकगीतों के प्रकारों पर विचार करना आवश्यक है। अत: इनका विवेचन एक सामान्य दृष्टि से असम्भव है। डा० सत्येन्द्र ने कई दृष्टियों से लोकगीतों के प्रकारों पर विचार किया है। उनका कथन है कि जीवन के जटिल रूप के अनुरूप जटिल उद्देश्यों की परिपूर्ति के प्रयत्न में लोकगीतों के भी जटिल प्रकार प्रस्तुत हुए। अत: कई दृष्टियों से लोकगीतों के प्रकार को समझना आवश्यक होगा।[२]

उपयोगिता की दृष्टि से—

लोकगीतों का मोटे तौर पर वर्गीकरण उपयोगिता को दृष्टि में रखकर किया जाता है। कौनसा गीत किस अवसर पर गाया जाता है, इस आधार पर इनका विभाजन इस प्रकार किया गया है—

लोकगीत
- आनुष्ठानिक
- उद्योग-सम्पर्कित
- तिथिवारक

---

१. जनपद (त्रैमासिक) खंड १, अंक २. पृ० ६३-६४।
२. लोकसाहित्य विज्ञान—पृ० ३६३।

आनुष्ठानिक लोकगीत जन्म, विवाह, मरण तथा अन्य संस्कारों के अवसर पर गाए जाते हैं। इन अवसरों पर विशेष अनुष्ठानों का आयोजन किया जाता है जिनमें ये लोकगीत गाए जाते हैं। विविध पूजा-पाठ पर गाए जाने वाले गीत भी इन्हीं आनुष्ठानिक गीतों में ही सम्मिलित किए जाएँगे।

उद्योग-सम्पर्कित (Functional) गीत उन लोकगीतों को कहते हैं जो किसी काम को करते समय गाए जाते हैं। चक्की चलाते समय, पानी भरते समय, यात्रा करते समय इन्हीं गीतों को आनन्द से श्रमपरिहरण तथा मनोरंजन के लिए गाया जाता है।

तिथिवारक (Calenderic) गीत किसी तिथि, त्यौहार, पर्व, मास, ऋतु आदि से सम्बन्धित होते हैं। जैसे फागुन में होली और सावन में मल्हार।

क्षेत्र की दृष्टि से—

लोकगीत लोकसंस्कृति का ही एक अंश है। यह संस्कृति नगर संस्कृति से भिन्न ग्रामीण संस्कृति है। श्री रामनरेश त्रिपाठी, देवेन्द्र सत्यार्थी आदि विद्वानों ने लोकगीतों को इसी आधार पर ग्रामीणगीत (ग्रामगीत) कहा है। वास्तव में, आदिम युग में, आदिम जातियों में इस प्रकार का (नगर और ग्राम) भेद नहीं मिलता। यही कारण है कि उनके सम्पूर्ण क्षेत्र में लोकगीत की प्रधानता रही होगी। अतः प्रारम्भ में इन गीतों को 'ग्रामगीत' ही कहा गया होगा। बाद में अध्ययन को वैज्ञानिक आधार मिल जाने के कारण इन्हें 'ग्रामगीत' के स्थान पर लोकगीत कहा गया।

इसी प्रकार प्रारम्भ में 'फोक' शब्द को 'ग्रामीण जनों' के अर्थ के रूप में ही स्वीकार किया गया होगा। इससे आदिम जंगली जातियों का भी अर्थ लगाया गया। अतः लोकसाहित्य में आदिम जाति के गीत तथा कथाएँ संग्रहीत की गईं। बाद में चलकर उन पर विशेष बल दिया जाने लगा। यह तभी संभव हुआ होगा जब लोक-वार्ता को नृतत्व-विज्ञान की दृष्टि से महत्व दिया गया।

परन्तु जैसा कि ग्रामगीत और लोकगीत का अन्तर करते हुए पहले बताया गया कि लोकगीतों का अर्थ केवल 'ग्रामगीत' लेना 'लोक' शब्द की व्यापकता एवं वैज्ञानिकता पर कुठाराघात करना है। 'लोक' से तात्पर्य न गाँव है न आदिम जाति। 'लोक' शब्द की संकीर्ण व्याख्या कर ग्राम और नगर का भेद करना भी नितान्त अनुचित है। वैज्ञानिक दृष्टि से लोक-मानस तो सर्वत्र विद्यमान है। अतः लोकगीत प्रत्येक क्षेत्र में मिलेंगे। यह संभव है कि क्षेत्र की आवश्यकता एवं सुविधा के अनुसार उसके रूप भिन्न-भिन्न होंगे।

एक बात और द्रष्टव्य है। कुछ गीत ऐसे भी हैं जो नगर और ग्राम में समान होते हैं। इसका कारण है—ग्राम और नगरों में परस्पर का आदान-प्रदान।

अतः लोकसाहित्य ग्राम में भी मिलेगा और नगर में भी। इसी आधार पर क्षेत्र की दृष्टि से लोकगीतों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—
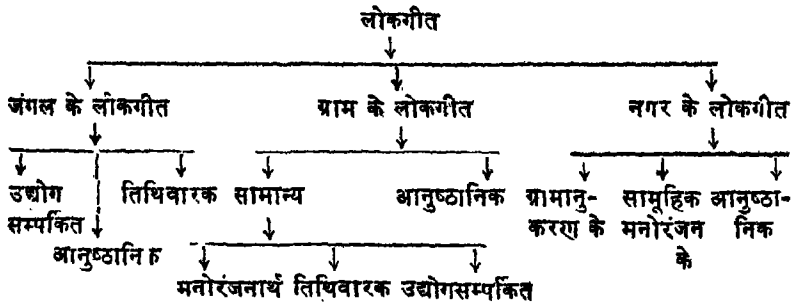
आनुष्ठानिक लोकगीत नगर और ग्रामों में समान होते हैं। डा० सत्येन्द्र के शब्दों में 'नगर की जन-संख्या विविध प्रदेशों और जातियों के संगम से बनती है, अतः इन आनुष्ठानिक गीतों में उनके उन निजी वैशिष्ट्यों का प्रभाव अवश्य रहता है। क्षेत्र की दृष्टि से भौगोलिक अथवा राजनीतिक इकाइयों में भी परस्पर यह मिलता है। कोई भौगोलिक प्रदेश किसी विशेष प्रकार को पसन्द करने लगता है।[1]

जातीय दृष्टि से—

क्षेत्र के समान ही जातीय दृष्टि से भी लोकगीतों के भेद किए गए हैं। भारत में असंख्य जातियाँ हैं और उनके स्वरूप भी अत्यन्त जटिल हैं। अतः भेद द्रष्टव्य है। उद्योगाधार वाली जातियों के गीतों में वैसा ही भेद मिलेगा जैसा वर्ण-विषयक जातियों के गीतों में मिलता है। निम्नवर्ग की काम करने वाली तथा घुमक्कड़ जातियों के गीतों में पर्याप्त भेद देखने को मिलता है।

योनि भेद से—

कुछ लोकगीत ऐसे भी हैं जिन्हें केवल स्त्रियाँ ही गाती हैं पुरुष नहीं। उसी प्रकार कुछ गीत केवल पुरुषों द्वारा गाये जाते हैं, स्त्रियाँ उन्हें नहीं गाती। जैसे सोहर या सार के गीत केवल स्त्रियाँ ही गाती हैं और ढोला केवल पुरुष।

लोकगीत

स्त्रियों द्वारा गेय (सोहर, सार आदि) | पुरुषों द्वारा गेय (ढोला आदि)
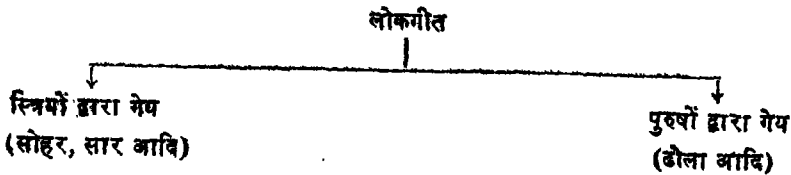
१. लोकसाहित्य विज्ञान—पृ० १६४।

अवस्था-भेद से—

कुछ लोकगीत इस प्रकार के भी हैं जिन्हें केवल बच्चे ही गाते हैं, बड़े-बूढ़े नहीं। जैसे टेसू के गीत। कुछ गीतों की प्रकृति ही ऐसी होती है जो नौजवानों के मुख से ही अच्छे लगते हैं, बूढ़ों या बच्चों के मुख से नहीं—जैसे रसिया। इस प्रकार अवस्था-भेद की दृष्टि से भी गीतों का संक्षिप्त विभाजन किया जा सकता है :—
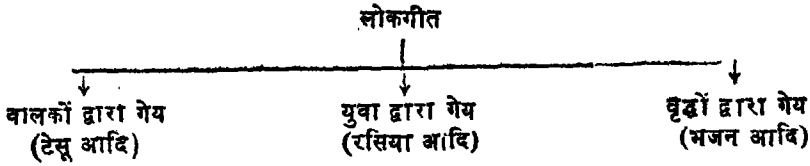
वस्तु-भेद से—

विभिन्न लोकगीतों में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं (विषयों) का वर्णन होता है। इसी आधार पर इन गीतों का विभाजन किया जाता है। 'सोहिले' छोटे-छोटे स्तुत्यात्मक (पूजा-प्रार्थना विषयक) गीत होते हैं। 'लोरी' बच्चों को सुलाने के समय गाई जाती हैं जिनमें बालकल्याण का भाव भी होता है। 'साके' या 'पँवारे' में वीरों के पराक्रम का वर्णन होता है। 'गाथागीत' या 'लोकगीत' या 'प्रेमगीत' में प्रेम की प्रधानता रहती है। अँग्रेजी में इन्हें 'बैलेड' कहा जाता है।
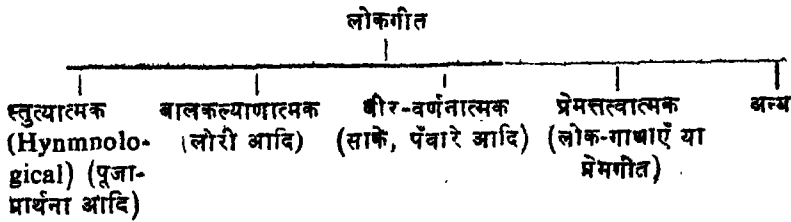
प्रकृति-भेद से—

लोकगीतों का विभाजन उनकी प्रकृति-भेद के आधार पर भी किया गया है। यथा—
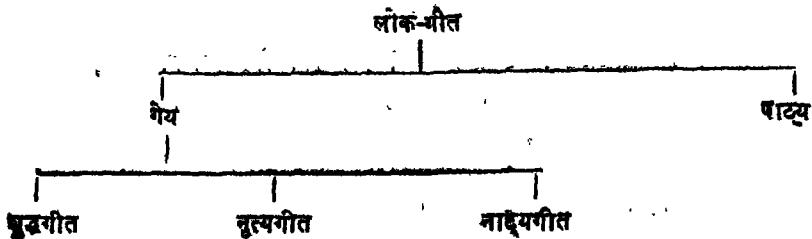
शुद्धगीत केवल गेय होते हैं। नृत्यगीत वे हैं जिन्हें नृत्य करते समय नृत्य के साथ गाया जाता है। नाट्य-गीत में नाट्य और अभिनय रहता है। लोकरंगमंच के गीत, भगत, रास, नौटंकी, भँड़ई आदि इसी प्रकार के नाट्य-गीत हैं।

रूप-भेद से—

रूपों के भेद की दृष्टि से भी लोकगीतों का विभाजन किया जा सकता है—
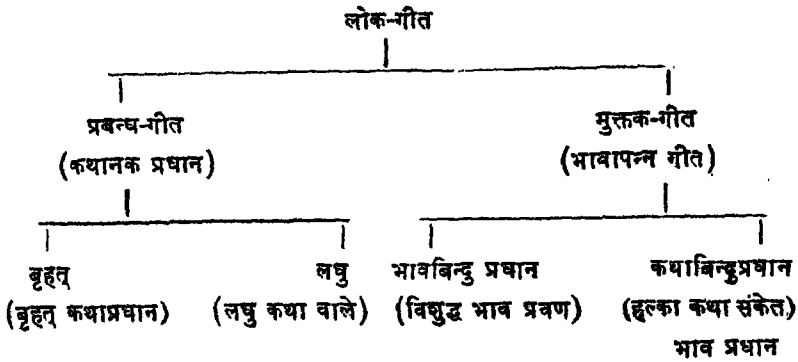
प्रबन्ध-गीतों में कथानक की प्रधानता रहती है। इसमें कथा विस्तृत भी होती है और लघु भी। इसी आधार पर इसके दो भेद दिए जा सकते हैं—बृहत् और लघु। मुक्तक-गीत भावप्रवण होते हैं। किन्हीं-किन्हीं गीतों में संक्षिप्त-कथा-संकेत भी मिलता है। अतः मुक्तक-गीत दो प्रकार के होते हैं—

१. भावबिन्दु प्रधान तथा २. कथाबिन्दु प्रधान !

लोकगीतों के वर्गीकरण की पद्धति एवं परम्परा :

त्रिपाठी जी का वर्गीकरण—

पं० रामनरेश त्रिपाठी ने ग्रामगीतों का वर्गीकरण निम्नलिखित ग्यारह श्रेणियां में किया है[१]—

(१) संस्कार-सम्बन्धी गीत,
(२) चक्की और चरखे के गीत,
(३) धर्मगीत—त्योहारों पर गाए जाने वाले गीत—भजन आदि,
(४) ऋतु-सम्बन्धी गीत—सावन, फागुन और चैत्र के गीत,
(५) खेती के गीत,

१. कविता-कौमुदी—भाग पाँच—पृ० ४५।

(६) भिखमंगों के गीत,

(७) मेले के गीत,

(८) भिन्न-भिन्न जातियों के गीत जैसे अहीर, चमार, धोबी, पासी, नाई, कुम्हार, भुजवा आदि।

(९) वीरगाथा—जैसे आल्हा, लोरिक, हीर-रांझा, ढोला-मारू आदि,

(१०) गीतकथा—छोटी-छोटी कहानियाँ जो गा-गाकर कही जाती हैं, और,

(११) अनुभव के वचन—जिन्हें घाघ, भड्डुरी आदि श्रेणियों में विभक्त किया है।

वास्तव में त्रिपाठी जी का उपर्युक्त विभाजन वैज्ञानिक नहीं है। डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने उसकी अवैज्ञानिकता पर प्रकाश डालते हुए अपना वर्गीकरण प्रस्तुत किया है जिसका विवेचन आगे किया जाएगा। उनके अनुसार त्रिपाठी जी द्वारा वर्गीकृत चरखे के गीतों का अन्तर्भाव क्रियासम्बन्धी गीतों में होजाता है। धर्मगीतों को उपाध्याय जी ने व्रतगीतों का पर्याय स्वीकार किया है। खेती, भिखमंगों आदि के गीतों की अलग श्रेणी उन्होंने स्वीकार नहीं की। वीरगाथा और गीतकथा को लोकगाथा के भीतर माना है। अनुभव के वचनों को सूक्ति कह सकते हैं, वे लोकगीत नहीं हैं। इस प्रकार त्रिपाठी जी के ग्यारह भेदों को उपाध्याय जी ने अपने छः भेदों में समेट लिया है।

श्री रामचन्द्र भालेराव का वर्गीकरण—

डा० श्याम परमार ने श्री भालेराव के वर्गीकरण को अपनी पुस्तक 'भारतीय लोकसाहित्य' में इस प्रकार प्रस्तुत किया है[१]—

श्री भालेराव ने लोकगीतों को चार बड़े समूहों में बाँटा है यथा—

ग्रामगीतों के प्रकार—

(अ) **संस्कार विषयक**—(१) पुत्र जन्म सोहर, (२) चरुवा के गीत, (३) चौक के गीत, (४) साध के गीत, (५) करोधनी-कंदोरा बाँधने के गीत, (६) मुंडन, (७) जनेऊ, (८) मामा के यहाँ पहली बार आने के गीत, (९) पहली बार बारात में जाने के गीत, (१०) टीका, (११) विवाह, (१२) द्विरागमन, (१३) तिरागमन, अर्थात् रोने के गीत, (१४) समधियों के आने के गीत, (१५) गोदान, देवस्थापन, पुराण बैठाने, कूप-खनन, गृहारम्भ के गीत, (१६) तीर्थ-यात्रा और गमन-आगमन के गीत, (१७) अन्न-प्राशन के गीत, (१८) पलने के गीत, (१९) अगरनी-गर्भवती स्त्री

१. भारतीय लोकसाहित्य—पृ० ६४—६५।

विषयक, (२०) माता कढ़ने के गीत-भेंट, (२१) जेबनार, (२२) पत्तल बाँधना व खोलना, (२३) भरनी या ढाक के गीत, (साँप काटने पर), (२४) मेले के गीत (२५) जन्म गाँठ के गीत, (२६) छत्री स्थापना के गीत।

(आ) माहवारी गीत—(१) बारहमासा, (२) नौरता-नौरात्र- चैत्र-आश्विन (३) रामनौमी, (४) आखातीज, (५) दसहरा (जेठ-आश्विन), (६) देवशयनी, देवउठान, (७) सावन-हिंडोला, (८) साँझी, (झेंझी हंडी के गीत), (६) झाँझी, (१०) वीजा-मिट्टी के गीत-टेसू, (११) कृष्ण जन्माष्टमी, (१२) करवाचौथ, (१३) महालक्ष्मी, (१४) बछवा छठ, (१५) मोरछठ, (१६) नौदुर्गा, (१७) गनगौर, (१८) कार्तिक और माघ स्नान के गीत, (१९) होली, (२०) अहोरी आठें—कार्तिक के गीत, (२१) कजरियां तीज, श्रावण, (२२) भुजरिया।

(इ) सामाजिक- ऐतिहासिक—(१) चन्द्रावल, (२) वेलासता, (३) ढोला-मारू (४) हरदौल, (५) बाबू के गीत, (६) कारसदेव के गीत, (७) कुंवर के गीत, (८) हीरामन, (६) नगरा, (१०) मन्नादेव, (११) पंडत मेहतर, (१२) जाहरपीर, (१३) अलख, (१४) हीलो के गूजरों के गीत, (१५) कन्हैया, (१६) सलगा सदावृक्ष, (१७) गोराबादल, (१८) बुलाकीदास, (१६) घासीराम पटेल, (२०) पापूजी के गीत, (२१) राजा केवट, (२२) ओखाजी, (२३) तेजाजी, (२४) गोरा जी (२५)भेरूजी।

(ई) विविध—(१) खेती की कहावतें, (२) ऊख की फसल खत्म होने के गीत, (३) बारी पूजने के गीत, (४) जात व चक्की के गीत,, (५) लावनी, (६) रसिया, (७) ख्याल, (८) छन्दरा, (६) दोहे-साखी, (१०) सोरठे, (११) सवैये, (१२) भजन, (१३) कवित्त, (१४) सिन्धु, (१५) धौल।

भालेराव का उपर्युक्त वर्गीकरण काफी विस्तृत है। मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त इसका क्षेत्र है। फिर भी इसमें कुछ गीतों क नाम छूट गए हैं। इसके अतिरिक्त यह वर्गीकरण पूर्ण वैज्ञानिक भी नहीं है।

पारीक का वर्गीकरण—

राजस्थानी लोकगीतों के विद्वान पं० सूर्यकरण पारीक ने राजस्थानी गीतों का क्षेत्र-विस्तार बताते हुए उन्हें उन्तीस भागों में बाँटा है जो इस प्रकार है—[१]

(१) देवी देवताओं और पितरों के गीत,

(२) ऋतुओं के गीत,

(३) तीर्थों के गीत,

(४) व्रत-उपवास और त्योहारों के गीत,

---

१. राजस्थानी लोकगीत—पृ० २२-२५

(५) संस्कारों के गीत,
(६) विवाह के गीत,
(७) भाई-बहन के प्रेम के गीत,
(८) साली-सालेल्यां (सरहज) के गीत,
(९) पति-पत्नी के प्रेम के गीत,
(१०) पणिहारियों के गीत,
(११) प्रेम के गीत,
(१२) चक्की पीसते समय के गीत,
(१३) बालिकाओं के गीत,
(१४) चरखे के गीत,
(१५) प्रभाती गीत,
(१६) हरजस-राधाकृष्ण के प्रेम के गीत,
(१७) धमालें-होली के अवसर पर पुरुषों द्वारा गेय गीत,
(१८) देश-प्रेम के गीत,
(१९) राजकीय गीत,
(२०) राज दरबार, मजलिस, शिकार, दारू के गीत,
(२१) जम्मे के गीत—वीरों, सिद्ध पुरुषों, महात्माओं की स्मृति में रखे गए जागरण को 'जम्मा' कहते हैं,
(२२) सिद्ध पुरुषों के गीत,
(२३) क—वीरों के गीत,
(२३) ख—ऐतिहासिक गीत,
(२४) क—गवालों के गीत,
(२४) ख—हास्यरस के गीत,
(२५) पशु-पक्षी सम्बन्धी गीत,
(२६) शान्त-रस के गीत,
(२७) गाँवों के गीत, (ग्रामगीत)
(२८) नाट्यगीत,
(२९) विविध—

वस्तुत: उपर्युक्त वर्गीकरण में किसी प्रकार का क्रम नहीं दिखलाई पड़ता। हास्य, शृंगार, वीररस के गीतों को एक ही श्रेणी में रखा जा सकता है। इसी प्रकार पति-पत्नी, भाई-बहिन के गीतों को संस्कार तथा ऋतु-सम्बंधी गीतों के भीतर रखा जा सकता है।

डा० सत्येन्द्र का वर्गीकरण—

डा० सत्येन्द्र ने 'ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन' में ब्रज के लोकगीतों का व्यापक एवं वैज्ञानिक अध्ययन किया है[१]। इन्होंने ब्रज लोकगीतों का विस्तृत वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, जिसका चित्रफलक उन्हीं के द्वारा लिखित अन्य पुस्तक 'लोकसाहित्य विज्ञान' में इस प्रकार दिया गया है[२]—

---

१. ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन पृ० ११८-१६१ तक।
२. लोकसाहित्य विज्ञान पृ० ४००-४०४ तक।

लोकगीत
पुरुषों के
स्त्रियों के
साधारण
अनुष्ठानों के
मांगने वालों के
खेल के
व्यक्ति द्वारा
(जाहरपीर)
सम्मिलित
देवी की भेंट
ब्याहुले
ज्वालाजी का जुज्म आदि
पेशेवरों के
१. सरमन (बिस्नोई)
२. भैरों (भोपों के)
बच्चों के
टेसू के
चट्टा के
ग्रामीण
नागरिक
ख्याल, स्वांग, भगत
जातियों के
प्रबन्ध
मुक्तक
(सोरठ, समादी भजन, रजपूती होली,
सडाके, रागिनी, रसिया, ख्याल आदि)
व्यक्ति द्वारा
(ढोला, आल्हा, हीररांझा, नरसी का भात)
समूह द्वारा
(जिकड़ी पँवारे, साके)
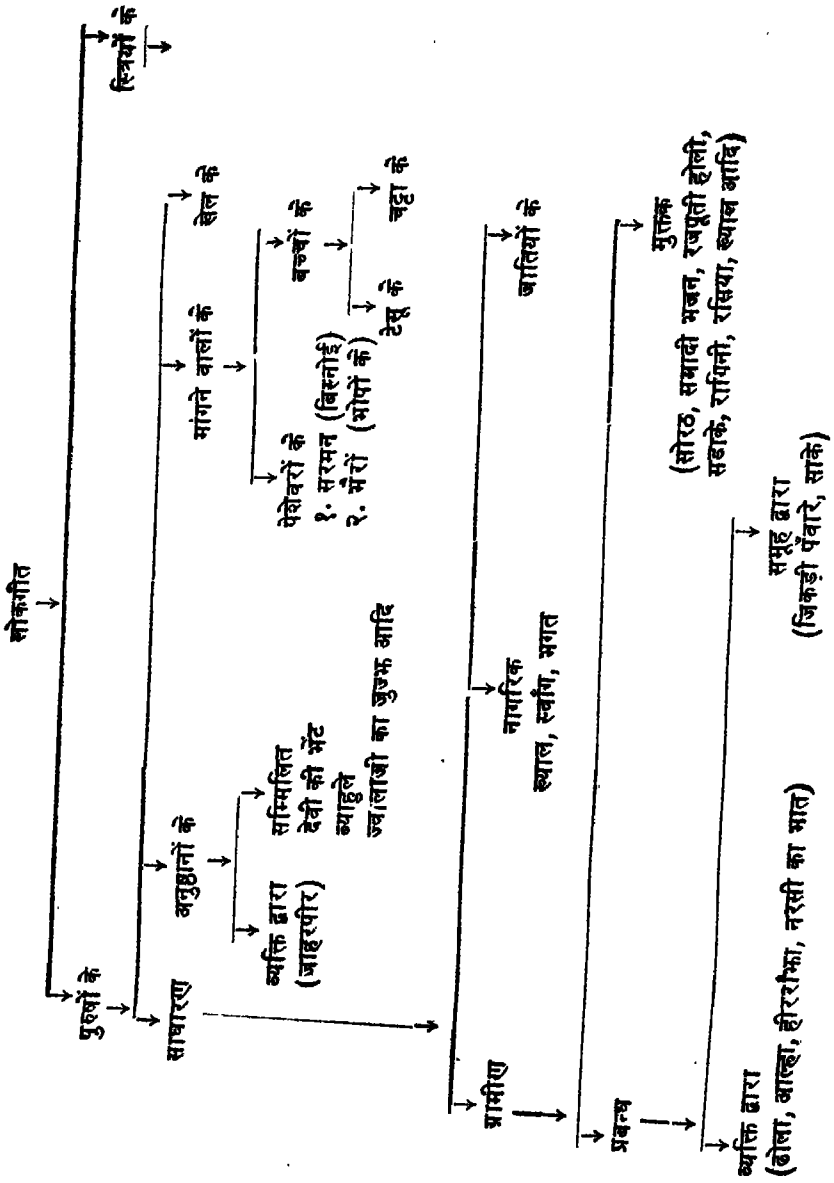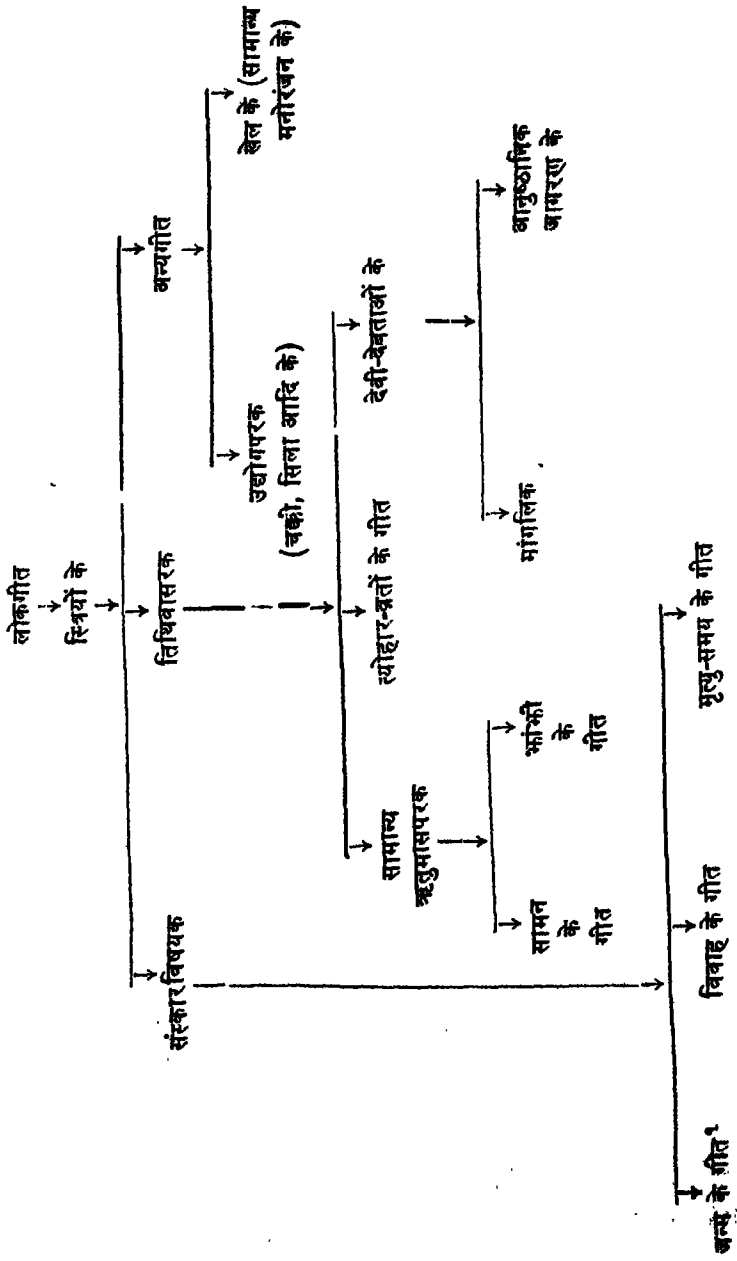
1. जन्म के गीतों का डा० सत्येन्द्र ने और भी अधिक विस्तार से वर्गीकरण किया है। विस्तार-भय से उसे यहाँ नहीं दिया जा रहा है। विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये—लोकसाहित्य विज्ञान—पृ० ४००-४०४।

डा० श्याम परमार का वर्गीकरण—

डा० श्याम परमार ने लोकगीतों का सामान्य वर्गीकरण इस प्रकार किया है—[1]

१. जातियों की दृष्टि से,

२. संस्कारों और प्रथाओं की दृष्टि से,

३. धार्मिक विश्वासों की दृष्टि से,

४. कार्य के सम्बंध की दृष्टि से, तथा

५. रस-सृष्टि की दृष्टि से।

परन्तु श्याम परमार ने उपर्युक्त वर्गीकरण का विवेचन न कर अध्याय के अन्त में वर्गीकरण को स्पष्ट करने के लिए एक सारणी नत्थी कर दी है जो इस प्रकार है—[2]

---

१. भारतीय लोकसाहित्य—पृ० ६४।

२. वही पृ० ६६ से संलग्न।

लोकगीत
मुक्तक गीत
प्रबन्ध गीत
धार्मिक
ऐतिहासिक
संस्कार विषयक गीत
माहवारी गीत
ऐतिहासिक एवं अर्द्धऐतिहासिक गीत
बच्चों के गीत
विविध गीत
बालक जन्म के गीत
मुण्डन अनेऊ के गीत
विवाह के गीत
पूर्व पुरुषों के गीत
मृत्यु-गीत
ऋतु गीत
बार-त्यौहारी गीत
परम्परागत
इतिहाससम्मत
वर पक्ष के
वधू पक्ष के
धार्मिक गीत

(शेष अगले पृष्ठ पर)

धार्मिक गीत
पंथी गीत
देवी देवताओं के गीत
देव चरित्र
देवी चरित्र
बच्चों के गीत
मुक्तक
क्रमसंबुद्ध (Drolls)
लड़कों के
लड़कियों के
विविध गीत
गृहस्थी के गीत
हास्यगीत (गाली)
अन्यगीन
दाम्पत्य जीवन के गीत
परिजनों से सम्बन्धित गीत
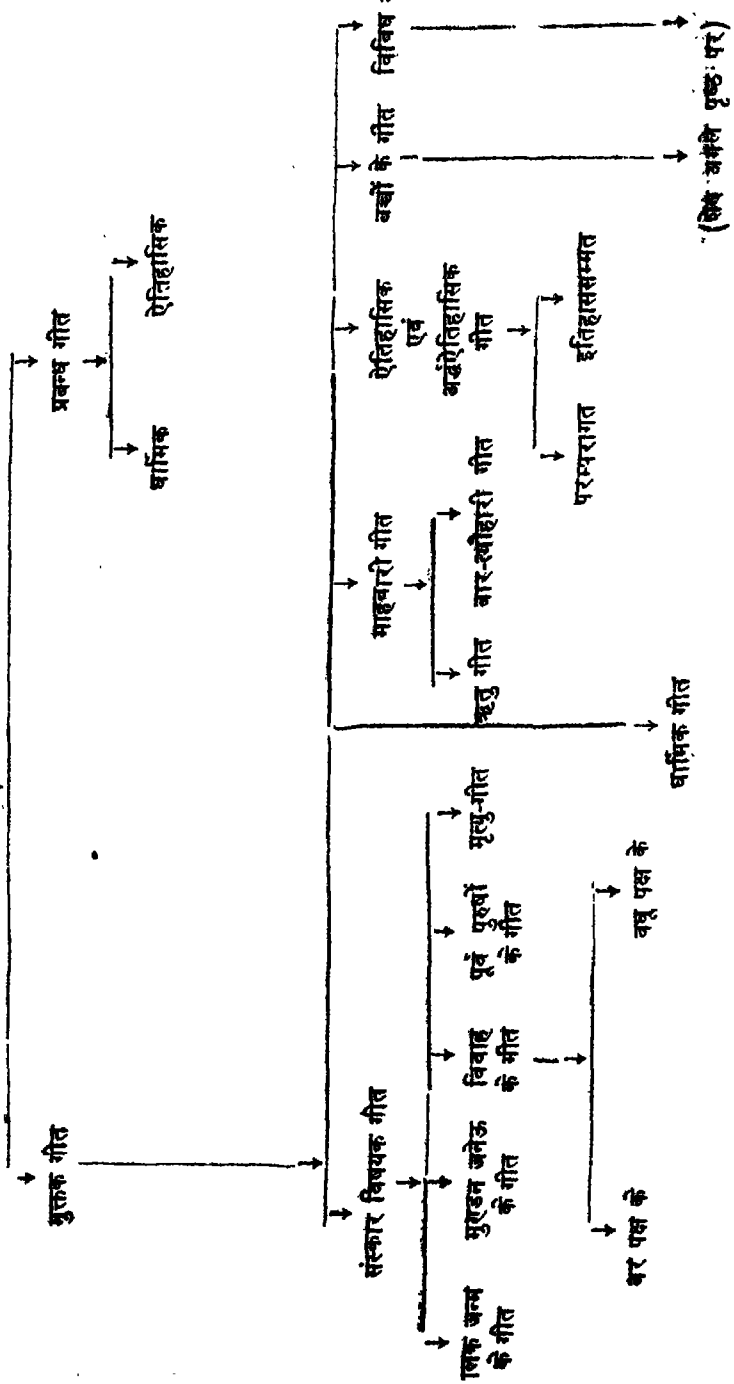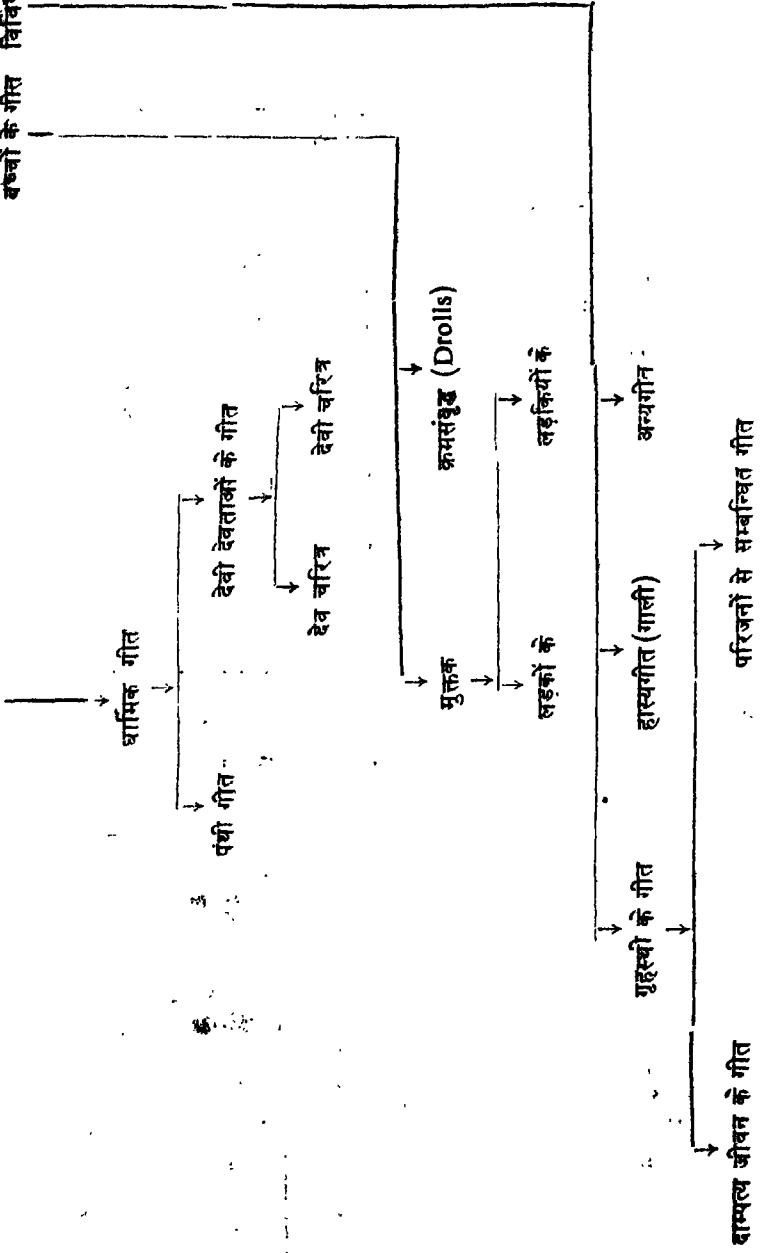
डा० कृष्णदेव उपाध्याय का वर्गीकरण—

डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने लोकगीतों का विभाजन प्रधानतया निम्नलिखित प्रकार से किया है[1] :—

१. संस्कारों की दृष्टि से।
२. रसानुभूति की प्रणाली से।
३. ऋतुओं और व्रतों के क्रम से।
४. विभिन्न जातियों के प्रकार से।
५. क्रिया-गीत की दृष्टि से।

उपर्युक्त वर्गीकरण को देखने से ज्ञात हो जाता है कि डा० उपाध्याय ने श्याम परमार के वर्गीकरण का ही अनुसरण किया है। केवल 'धार्मिक विश्वासों' वाले संख्या तीन के स्थान पर ऋतुओं और व्रतों को स्थान दिया है। वास्तव में यह संशोधन वैज्ञानिकता को ध्यान में रखकर ही किया है।

१. संस्कार की दृष्टि से—धर्म भारतीय लोगों का प्राण है। धर्म का उनके जीवन में प्रमुख स्थान है। भारतीय मानव जन्म से मृत्युपर्यन्त जीवन-संस्कारों से बंधा हुआ है। भारतीय धर्म में सोलह संस्कारों का विधान है। इन विभिन्न संस्कारों पर स्त्रियाँ गा-गाकर जन-मन का अनुरंजन किया करती हैं। मृत्यु के अवसर पर अत्यन्त हृदय-विदारक गीत गाया करती हैं। ऐसे गीत संख्या में अधिक नहीं हैं।

२. रसानुभूति की प्रणाली से—लोकगीतों में रस की अविरल धारा बहती है। इनमें सभी रसों का वर्णन मिलता है, परन्तु पाँच रसों की प्रधानता पाई जाती है।

१. श्रृंगार रस २. करुण रस ३. वीर रस ४. हास्य रस ६. शान्त रस।

सोहर, जनेऊ विवाह के परिहास गीत, प्रवास-गीत, श्रृंगार रस के अन्तर्गत आते हैं। गवना, जँतसार निर्गुन, पूरबी, रोपनी तथा सोहनी के गीतों की गणना करुण रस के अन्तर्गत की जाती है। गवना के गीतों में सर्वाधिक करुणा है अतः ये गीत श्रोताओं को द्रवित कर देते हैं। इनमें कुछ प्रबन्ध-गीत भी आते हैं जिन्हें 'लोकगाथा' नाम दिया गया है। जैसे आल्हा, विजयमल, लोरकी, सोरठी, नयकवा, बनजारा, गोपीचन्द-भरथरी और ढोला-मारू के गीत। आल्हा में वीर रस का सुन्दर परिपाक है। विजयमल भी वीर रसात्मक है। सोरठी में रहस्य एवं रोमांच है।

---

१. लोकसाहित्य की भूमिका—पृ० २६—११

लोकगीतों में हास्य रस की व्यंजना अपेक्षाकृत कम हुई है। वैवाहिक परिहास-गीतों में तथा झूमर में अवश्य हास्य की मधुर व्यंजना हुई है।

भजन, निर्गुन, तुलसी माता और गंगा मइया के गीतों में शान्त रस पाया जाता है। इन गीतों में (संझा और पराती में) भगवान की स्तुति है जिन्हें संध्या-समय गाया जाता है। इन गीतों में भक्ति का उद्रेक होता है।

३. **ऋतुओं और व्रतों के क्रम से**—लोकगीतों के अधिकांश गीत ऋतुओं और त्योहारों से सम्बन्धित हैं। आषाढ़ में आल्हा किसानवर्ग झूम-झूम कर गाता है। सावन में कजली खूब गाई जाती है। फागुन में होली और चैत में 'चैता' या 'घांटो' झूमझूम कर गाए जाते हैं। व्रतों के अवसर पर भी गीत गाए जाते हैं। नागपंचमी (श्रावण) पर नागदेवता सम्बन्धी गीत गाए जाते हैं। भाद्रमास के कृष्ण-पक्ष की चतुर्थी को 'बहुरा' का व्रत और कार्तिक शुक्ल द्वितीया को 'गोधन' की पूजा के अवसर पर स्त्रियां खूब गीत गाती हैं।

४. **विभिन्न जातियों के प्रकार से**—कुछ ऐसे भी गीत हैं जिन्हें कुछ विशेष जातियां ही गाती हैं। बिरहा अहीर लोग गाते हैं। यह इनका प्रिय जातीय गान है। दूसरा इन्हें इतनी सुन्दरता से नहीं गा सकता। इसी प्रकार से 'पचरा' दुःसाध जाति के लोग गाते हैं। साईं लोग गोपीचंद-भरथरी की कथा गाते फिरते हैं। यह इनकी उदरपूर्ति का साधन भी बन गया है। इसी प्रकार माली लोग माता के गीत गाते हैं।

५. **क्रिया के आधार पर**—काम से उत्पन्न थकावट को दूर करते (श्रम-परिहरण) के लिए भी कुछ लोकगीत गाए जाते हैं। विशेष कार्य के लिये विशेष गीत गाए जाते हैं। 'रोपनी के गीत' धान को रोपते समय स्त्रियां गाती हैं। 'निरवाही' या 'सोहनी' गीत खेत को निराते या सोहते समय गाए जाते हैं। 'जतंसार' स्त्रियां जांत पीसते समय गाती हैं। कोल्हू के गीत तेल पेरते समय गाए जाते हैं। इन गीतों को गाने से काम करने में मन लगा रहता है और थकावट दूर होती है।

उपर्युक्त वर्गीकरण को इस सारणी द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

लोक-गीत
१. संस्कार सम्बंधी गीत
२. ऋतु सम्बंधी गीत
३. व्रत सम्बंधी गीत
४. जाति सम्बंधी गीत
५. क्रिया सम्बंधी गीत
६. विविध गीत
पुत्रजन्म
मुंडन
यज्ञोपवीत
विवाह
गवना
मृत्यु
कजली
हिंडोला
होली
चैता
बारहमासा
नाग पंचमी
बहुरा
गोधन
पिंडिया
छठी माता

(शेष अगले पृष्ठ पर)

लोक-गीत
४ जाति सम्बधी गीत
५ क्रिया सम्बधी गीत
६. विविध गीत
अहीरों के गीत
दुसाधो के गीत
चमारो के गीत
गोडो के गीत
कहारो के गीत
धोबियो के गीत
रोपनी
सोहनी
जँतसार
चरखा
झूमर
बलचारी
पूर्वी
निर्गुन
भजन
खेल
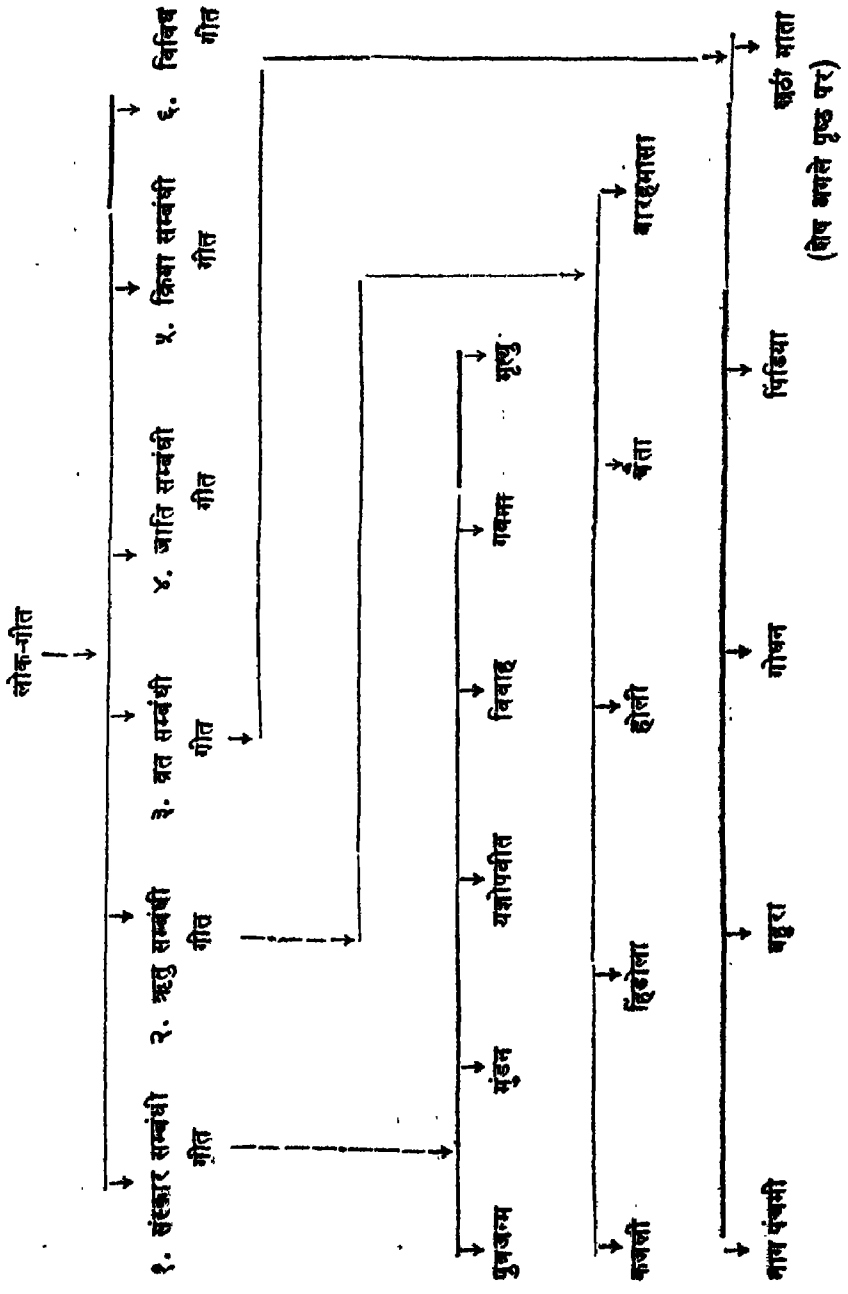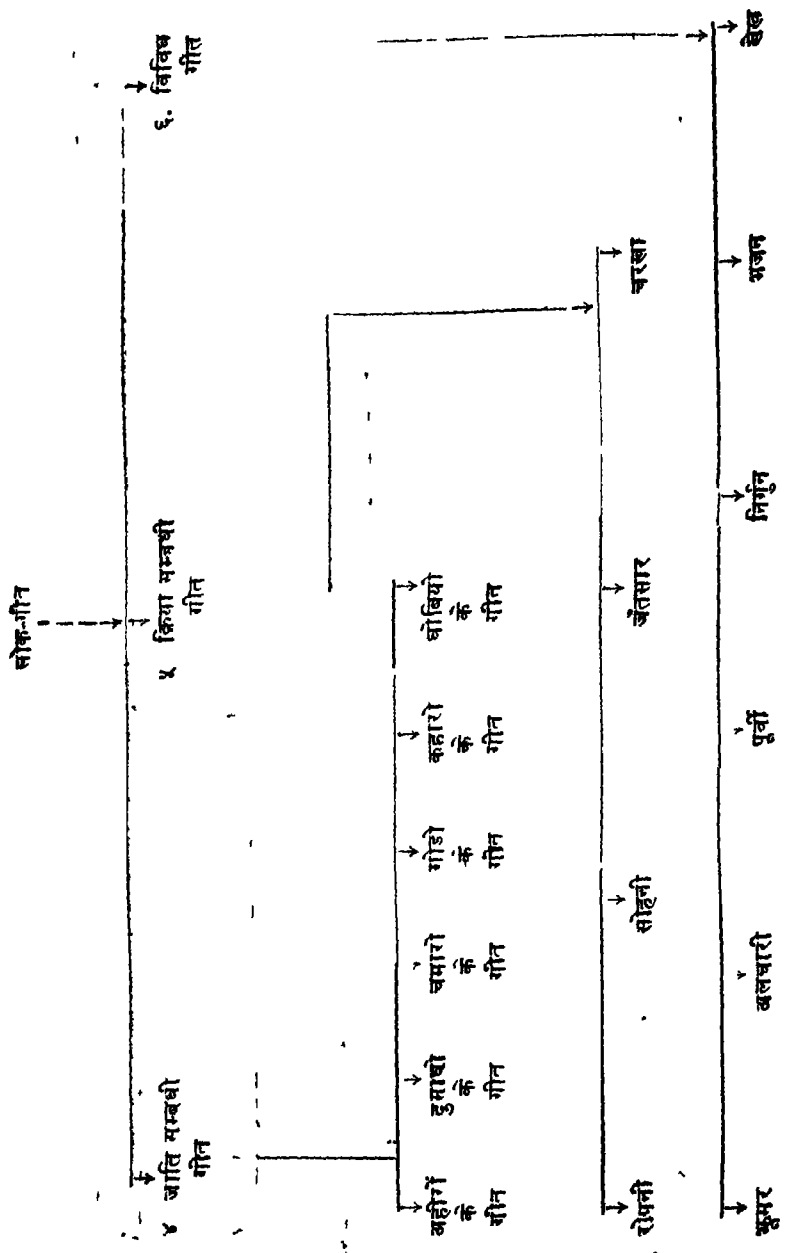
डा० उपाध्याय का उपर्युक्त वर्गीकरण दोषपूर्ण है। वास्तव में वैज्ञानिक वर्गीकरण का एक ही आधार होना चाहिए। संस्कार सम्बन्धी गीत, ऋतु सम्बन्धी गीत, व्रत सम्बन्धी गीत तथा क्रिया सम्बन्धी गीत—ये वर्ग उपयोग के आधार पर हैं। जातीय गीतों का आधार नृतात्त्विक है। इन जाति-विशेष के गीतों में भी संस्कार, ऋतु, व्रतादि गीत मिल सकते है। क्रिया सम्बन्धी गीत नाम भी समीचीन नहीं। क्योंकि संस्कार और व्रत भी क्रियाएँ ही हैं। अतः व्रत और ऋतु एक ही वर्ग में रखने होंगे। इनका सम्बन्ध काल-विशेष से है।

एक बात और है। डा० उपाध्याय के वर्गीकरण में और उनके द्वारा दी गई सारणी में भेद है। प्रारम्भ में उन्होंने पाँच वर्ग बनाये थे जबकि सारणी मे छः वर्ग दिए गए हैं। सारणी में 'रसानुभूति की प्रणाली से' वर्ग को कोई स्थान नहीं दिया गया। ऋतु और व्रत को अलग-अलग वर्ग माना गया है और विविध गीत नामक एक और वर्ग अलग जोड़ दिया गया। लोकगीतों में रस की स्थिति तो है परन्तु उसे वर्गीकरण का आधार स्वीकार करना नितान्त भ्रामक है। यह तो गीतों के अध्ययन का एक तत्व है। इसे वर्गीकरण में अलग से स्थान देने की आवश्यकता नही।

श्री श्यामाचरण दुबे का वर्गीकरण—

श्री श्यामाचरण दुबे ने गठन तथा शैली की दृष्टि से लोकगीतों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया है[1]—

१. सामान्य गीत
२. नृत्य गीत
३. गीत-कथा
४. लोक-गाथा

उपर्युक्त वर्गीकरण में 'गीत-कथा' और 'लोक-गाथा' दोनों में गीत-तत्वों के अतिरिक्त 'कथा' के तत्व भी रहते हैं अतः उनकी अपनी एक विशिष्ट कोटि होती है। विषय, गायन के समय तथा गायक की सामाजिक स्थिति के आधार पर भारतीय लोकगीतों का अधिक विस्तृत वर्गीकरण किया जा सकता है। यथा :

१. सामान्य गीत—जो समय अथवा जाति का भेद किये बिना सर्व-साधारण द्वारा गाए जा सकें।

२. विशेष अवसरों के गीत—जैसे विशिष्ट ऋतु, उत्सव, पर्व आदि कगीत, विशेष नृत्यों के गीत, संस्कारों के गीत आदि।

---

१. मानव और संस्कृति—पृ० ११७।

३. जाति-विशेष के गीत—जिन पर सर्वसाधारण का अधिकार न होकर एक जाति अथवा समूह का ही अधिकार होता है।

४. धार्मिक गीत।

५. स्त्रियों के गीत।

६. भिखारियों के गीत

७. लोक-विश्वास-निहित गीत-कथाएँ।

८. अनुभव के वचन, उपदेश-सम्बन्धी गीत आदि।

उपर्युक्त वर्गीकरणों में से डा० सत्येन्द्र का वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है यद्यपि इसमें भी पारस्परिक संक्रमण है। डा० सत्येन्द्र ने मुख्यतः ब्रज के लोकगीतों को ध्यान में रखकर ऐसा वर्गीकरण किया है।

भारतीय लोकगीतों का वर्गीकरण वैज्ञानिक दृष्टि से हमने इस प्रकार किया है :—

(अगले पृष्ठ पर)

लोकगीत
संस्कार सम्बन्धी
(जन्म, विवाह तथा मृत्यु के गीत)
तिथिवासरक
ऋतुगीत
या
माहवारी गीत
(सावन, झाँझी, होली, दिवाली के गीत)
त्योहार, तीर्थ एवं
व्रतों के गीत
देवी-देवताओं के गीत
(धार्मिक-गीत)
नागपंचमी
बहुरा
गोधन
पिंडिया
छठीमाता
अन्य
(करवाचौथ, अनन्दचौदस,
देवठान आदि)
जन्म
मुंडन
यज्ञोपवीत
विवाह
गवना
मृत्यु

(शेष अगले पृष्ठ पर)

लोकगीत
इतिवृत्त सम्बन्धी
अन्य
मुक्तक
(सोरठ, रजपूती होली, रागिनी, रसिया, ख्याल आदि)
प्रबन्ध
व्यक्ति द्वारा
(ढोला, आल्हा, हीररांझा, नरसी का भात आदि)
समूह द्वारा
(जिकड़ी, पँवारे, साके आदि)
भिक्षा सम्बन्धी पेशेवरों के गीत
(सरमन, बिश्नोई, भैरों, भोपों के)
मनोरंजन सम्बन्धी
उद्योगपरक
बच्चों के गीत
स्त्रियों के
(गाली, परिहासपरक-गीत आदि)
पुरुषों के
(नौटंकी, स्वाँग, भगत, ख्याल, गाथा-गीत, विक्रमगीत, आदि)
कृषि सम्बन्धी
गृहस्थ सम्बन्धी
चक्की, गृहकाज के गीत
पुर लेने के
सिलाबावनी के
लोरियाँ
खेल के
चट्टाके
टेसू, झाँझी, साँझी, आदि

लोकगीतों की मनोभूमि—

वास्तव में लोकगीतों में लोकमानस का प्राचीन रूप प्रकट होता है। आदिम मानव अपने समान ही दूसरों को समझता और मानता था। वह स्थूल दृष्टि से मानवेतर सृष्टि के व्यापारों को स्वीकार करता था। एक ही वस्तु के प्रति उसका भावबोध विभिन्न अवसरों पर विभिन्न होता था। इन्हीं मानसिक अनुभवों को वह अपनी भाषा द्वारा व्यक्त करता था। वह समस्त बाह्य वस्तुओं को अपने जीवन से भिन्न नहीं मानता था। वह जीवन-सम्पन्न था अतः उसकी धारणा थी कि सभी वस्तुओं में जीवन है। उसे अपनी आत्म-चेतना तथा व्यक्तित्व में कोई भेद नहीं दिखाई देता था और न ही उसे अपने तथा अन्य के जीवन की अवस्थाओं के सम्बन्ध में कोई ज्ञान था। और यही कारण है कि पृथ्वी तथा आकाश में सभी वस्तुएँ अस्तित्व मात्र के एक ही अस्पष्ट भाव से अभिनिविष्ट थीं। सारी प्रकृति उसके लिए सजीव थी। "सूर्य से शोक-प्रेरक तथा प्रोत्साहक दोनों ही प्रकार के भाव उदय होंगे विजय तथा पराभव सम्बन्धी, परिश्रम तथा असामयिक मृत्यु सम्बन्धी·········किन्तु यह व्यक्तित्वारोप नहीं होगा, और न यह रूपक (Allegory) ही होगा। यह उसके लिए असंदिग्ध वास्तविकता होगी, जिसकी परीक्षा तथा विश्लेषण उसने उतना ही कम किया है जितना कि अपने ऊपर विचार। यह उसका मनोवेग तथा विश्वास होगा, किन्तु किसी भी अर्थ में धर्म नहीं।" (माइथालाजी आव दि आर्यन नेशन्स—काक्स—पृ० २२)[१]

इस प्रकार लोकगीतों में प्राप्त सामग्री मानव की उस आदिम अवस्था की है जिसके अवशेष वर्तमान सभ्यता की तह में छिपे पड़े हैं। सभ्यता ने ही उसके विकास में बाधा डाली है। लोकगीतों में प्राप्त सामग्री में जो मनोदशा या स्थिति है वह अपने को सभ्य समाज में आज सुरक्षित रखे हुए है। इस मनोदशा से यह निश्चित हो जाता है कि लोकगीतों में जातीय तत्त्व मिलते हैं। प्रकृति की प्रतिक्रिया के स्वरूप वे अपने मस्तिष्क तथा आचार-विचार को ढाल लेते हैं और जब यह विकास में रुक जाती है तभी लोकवार्ता का रूप ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार आदिम मनुष्यों का विश्वास उनकी मनोदशा का यथार्थ चित्र उपस्थित करता है। अतः मनोभावों तथा विश्वास की अभिव्यक्ति के प्रति लोकमानस की स्वाभाविक ईमानदारी है। लोकमानस की अनुभूति – चाहे सुख में हो या दुःख में – उन्मुक्त रूप से होती है। उसमें मर्यादा का कोई स्थान नहीं। अतः लोकगीतों में मानव-जीवन की समस्त रागात्मक वृत्तियों का चित्रण होता है। वास्तव में लोकगीतों में ही लोकमानस के मनोविज्ञान के अध्ययन की प्रचुर सामग्री बिखरी पड़ी है।

---

१ ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन (विषय-प्रवेश)—डा० सत्येन्द्र—पृ० १० से उद्धृत।

लोकगीतों में नारी और पुरुष दोनों की भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। पुरुष-जीवन की दो प्रमुख भावनाएँ हैं:—(१) आनन्दविलास (लौकिक सुख) तथा (२) मोक्ष-कामना (पारलौकिक सुख)। नारी जीवन की सबसे बड़ी समस्या उसका नारीत्व है। भाई, पिता, पति, पुत्र तथा अन्य सम्बन्धी जनों के प्रति उसकी भावनाओं के विविध रूप लोकगीतों में प्राप्त होते हैं। प्रेम और करुणा— इन दो प्रमुख समस्याओं के बीच नारी का जीवन झूलता है। त्याग और आत्मसमर्पण, करुणा और सहनशीलता आदि से आवेष्ठित उसके जीवन की अनुभूतियाँ लोकगीतों का आधार बन गई हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि मानवेतर सृष्टि के साथ मानव का रागात्मक सम्बन्ध बना हुआ है। प्रकृति के अंगों के साथ-साथ पशु-पक्षियों के प्रति भी उसकी भावनाएँ सुख-दुःख की संचेतनाओं से स्पंदित है। यही कारण है कि संसार की सभी जातियों ने पशुओं के सम्बन्ध में अनेक कहानियाँ कही हैं।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकगीतों में आदिम मनोवृत्ति के अवशेष आज भी विद्यमान हैं। उसके रूप के विकास के सम्बन्ध में डा० सत्येन्द्र के विचार इस प्रकार हैं—[2]

(१) आदिम मानव प्रकृति से सम्पर्क, (२) प्रकृति में अपनी ही प्राणप्रतिष्ठा, (३) प्रकृति में परा-प्रकृति का आरोप, (४) परा-प्रकृति की अपने रूप में परिकल्पना (५) प्रकृति की परा-प्राकृतिक व्याप्ति के कारण कार्य-कारण और अंश-अंशी में घनिष्ठ प्रभावशीलता।

लोकगीतों (वार्ता) पर नृतत्वों का भी प्रभाव पड़ता है और वे उसमें नई मानसिक स्थितियों को समाविष्ट कर देते हैं। यही कारण है कि कई मानसिक धरातल हमें 'लोकगीतों' में प्राप्त होते हैं। संक्षेप में यही लोकगीतों की मनोभूमि है।

गीत के निर्माण तत्व—

गीत के रूपविधान पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गीत का प्रमुख तत्व है 'टेक'। संगीतशास्त्र की शब्दावली में 'टेक' को 'स्थायी' कहा जाता है। यह गीत के आवश्यक रूप-विस्तार के बाद दुहराया जाता है। एक गीत का मूल-रूप-विधान उतना ही होता है जितना एक टेक से उसके दुहरावट के बीच में प्रस्तुत होता है। डा० सत्येन्द्र ने गीत के 'मूल-रूप-विधान' के निम्नलिखित अंग स्वीकार किए हैं:—[1]

(१) रीढ़—जिन शब्दों के आधारों पर मूल-रूप-विधान टिकता है वही गीत की रीढ़ है।

---

१. Folk songs of U. S. A.—Lomax—Page 5.

२. विस्तार के लिए देखिए—ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन—पृ० ३४-३६ (विषय-प्रवेश)।

(२) **स्वर-संभरण**—टीड़ के ऊपर गीत का मूल लय-रूप स्थापित करने के लिए जो स्वर-तत्व संयुक्त किया जाता है उसे 'स्वर-संभरण' कहते हैं। यह गीत को अपना निजी रूप प्रदान करता है।

(३) **स्वरालंकरण**—(अ) गीत में इतना लोच होता है कि वह गायक के आवेग-आवेश को अपनी लय में समाविष्ट कर सकता है। इसके लिए जिन उपादानों से काम लिया जाता है, उनमें से एक सामान्य तत्व स्वरालंकरण है। इसकी तुलना संगीतशास्त्र के तान और अलंकार से की जा सकती है। ये गायक की कुशलता और कला-सौन्दर्य को अभिव्यक्त करते हैं। गायक इनसे कला-सौन्दर्य उत्पन्न करता है। लोकगीतों में यह स्वरालंकरण एक शक्ति भरता है। यह सामूहिक स्वरावेग का सहायक भी होता है। जैसे होली के गीतों में 'हो हो हो' का ध्वनि विस्तार। इसी प्रकार 'अरे' 'एजीकोई' 'इम्बेकोई' आदि शब्दों के आधार से इसी स्वरालंकरण की सिद्धि होती है।

(आ) स्वरालंकरण के दो विशिष्ट तत्व और होते हैं—एक है आरोह और दूसरा है अवरोह। भावावेग के साथ ही आरोह होता है। इसका प्रतिरूप अवरोह है। जो लोक-गायन में उतना स्फुट नहीं होता। लोकगीतों में विशेष स्फुट होते हैं—टूट और दुहरावट। स्वर को आवश्यक आरोह देकर छोड़ देने से टूट' होती है और फिर उसे इसी आरोह में दुहरा दिया जाता है। यही दुहरावट है।

(४) **तोड़**—जब गीत का मूल रूप-विधान स्वर-संभरण और स्वरालंकरण से युक्त होता हुआ पुन: एक सामान्य आरम्भिक लय को प्राप्त करता है तो इस प्रयत्न को तोड़ कहते हैं। यहाँ पहुँचते ही फिर आरम्भिक लय आजाती है और टेक को दुहराने का अवसर आ जाता है। गीत का मूल रूप-विस्तार तोड़ पर ही समाप्त हो जाता है।

(५) **भरती**—'टेक' गीत के मूल रूप-विधान का आदि है तो 'तोड़' अन्त। इसमें स्वर-संभरण से गीत की मूल लय-प्रकृति प्रकट होती है और स्वरालंकरण से उसमें अपेक्षित शक्ति और स्पन्दन आता है, सामूहिक आवेगाकुलता को अभिव्यक्ति भी मिलती है और समस्त वातावरण गीत के लय के स्वरभाव से आक्रान्त हो जाता है।

इसी के बीच जब कभी अन्य लयों और गतियों का प्रभावार्थ समावेश किया जाता है उसे 'भरती' कहते है।

(६) **मोड़**—'मोड़' 'भरती' से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित होता है। एक लय-विधान से दूसरे लय-विधान में संक्रमण को 'मोड़' कहते हैं। यह 'भरती' के साथ ही प्रस्तुत होता है, परन्तु कभी-कभी इसे एक लय-विधान की विविध सम्भावित 'पलट-लौटों' से सम्बन्धित होता है।

लोकगायक एवं वाद्य-यन्त्र--

लोकगीतों का संग्रह करने के लिए पहले लोकगायकों से परिचय प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। लोकगायकों से गीत प्राप्त करना अत्यन्त ही कठिन कार्य है। लोकगायक का लोकसाहित्य, मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र की दृष्टि से विशेष महत्व है। टेप रिकार्डर के द्वारा ही लोकगायकों से सुविधापूर्वक लोकगीत इकट्ठे किए जा सकते हैं। ये लोकगायक हमें अपने घर में, बाहर, विभिन्न जातियों तथा भिक्षुकों के रूप में प्राय: मिलते हैं। घरों में विभिन्न गृहकाज (चक्की) करते समय संस्कार–जन्ति, विवाह आदि–अनुष्ठान तथा व्रतादि के अवसर पर स्त्रियाँ गीत गाती मिलेंगी। ग्वाले, गड़रिए भी भेड़-बकरियाँ चराते समय मस्ती में गाते मिलेंगे। होली के अवसर पर तो पूरा समूह ही झूमते हुए 'होली' गाता मिलेगा। कुछ पेशेवर लोकगायक भी हैं जो विभिन्न रोगों (कण्ठमाला, सर्प काटे का) का इलाज ढाँक बजाकर तथा गीत गाकर (जागन्नु आदि) करते हैं। कुछ मनोरंजन के लिए भी गीत गाते हैं। वस्तुत: आज के युग में लोकगायक लुप्त होते जारहे हैं।

डा० सत्येन्द्र ने इन लोकगायकों को मुख्यत: दो भागों में बाँटा है। आगे उसके कई प्रकार भी दिखाए हैं :—[1]
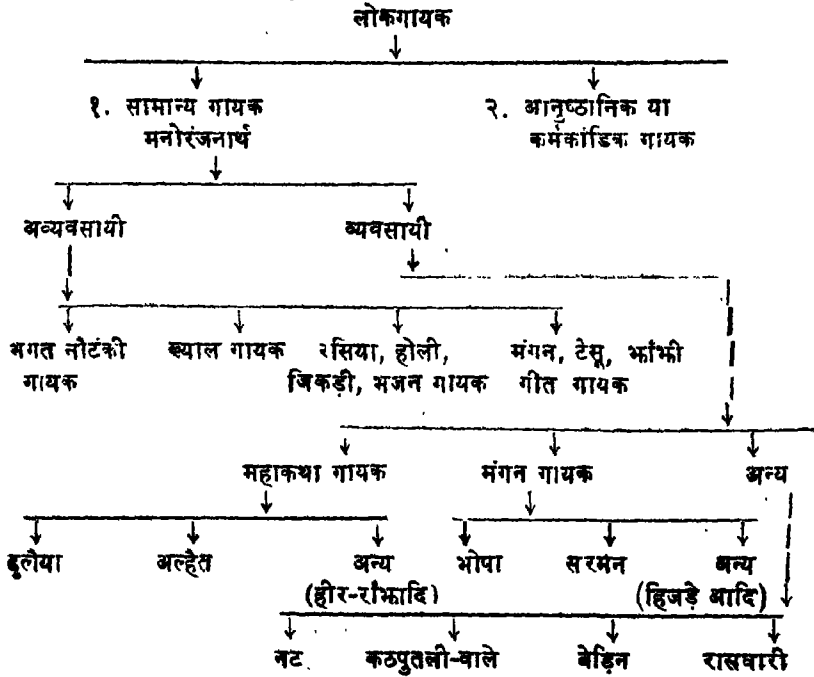
१ लोकसाहित्य विज्ञान—पृ० ४१९-२० के आधार पर।
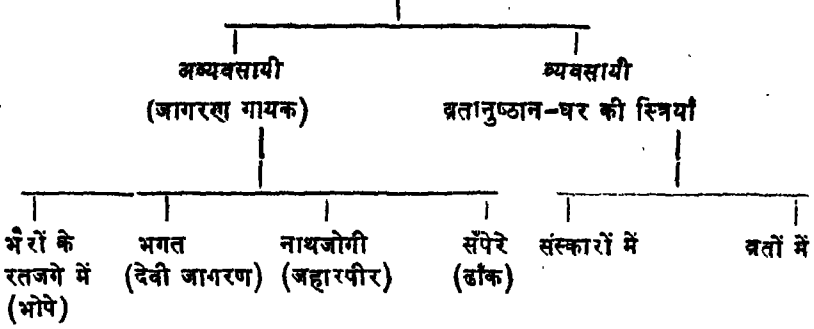
इसके अतिरिक्त डा० सत्येन्द्र ने पुरुषवर्ग, स्त्रीवर्ग, मिश्र तथा किंपुरुष के आधार पर भी लोकगायकों का विभाजन किया है।[1] परन्तु उपर्युक्त विभाजन ही लोकगायकों के स्वरूपों के अध्ययन के लिए पर्याप्त है।

लोकगायकों के अपने वर्ग के विशेष गीतों के लिए जहाँ विशेष तर्जें होती हैं, वहीं विशेष वाद्य भी होते हैं। इन गायकों के साथ वाद्यों के उपयोग को डा० सत्येन्द्र ने एक फलक द्वारा समझाने की चेष्टा की है।[2]

लोकगीतों में संगीत का विधान—

लोकगीतों की आत्मा लोकसंगीत है। शास्त्रीय संगीत का जन्म लोकसंगीत से हुआ है। यह अत्यन्त ही प्राचीन है और जनजीवन के अधिक निकट। मानव जीवन में आत्माभिव्यक्ति का अत्यधिक महत्व है। मानव अपने मन की रागात्मक भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए सरल और सहज साधन या माध्यम ढूंढ़ने की चेष्टा करता है। संगीत ही यह माध्यम है।

लोकसंगीत का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। स्त्री और पुरुष दोनों के द्वारा गाए जाने वाले गीतों में लोकधुनें सुनने को मिलेंगी। व्यापक रूप से लोकप्रचलित कंठ के माधुर्य को व्यक्त करने वाली समस्त ध्वनियाँ लय और तालगत सम्पत्ति लोकसंगीत के अन्तर्गत ही आती है।[3] लोकसाहित्य के अन्तर्गत स्त्रियों द्वारा गाए जाने वाले गीतों की बहुतायत है अतः इन गीतों का अधिक महत्व है। इन गीतों में लोकधुन एवं लोकशब्दावली का अधिक प्रयोग हुआ है। पुरुषों के गीतों में परिवर्तन अधिक होने के कारण उसमें तो विकृति आगई है परन्तु स्त्रियों के गीत अभी शुद्ध-प्रकृत-

---

१. विस्तार के लिए देखिए—लोकसाहित्य का विज्ञान—पृ० ४२०-२३।
२. „ „ वही - पृ० ४२०-२१।
३. खड़ीबोली का लोकसाहित्य—डा० सत्या गुप्ता—पृ० १५३।

रूप में ही प्राप्त होते हैं। पुरुष पर बाह्य प्रभाव अधिक पड़ता है यही कारण है कि वह अपनी संचित परम्परा की रक्षा करने में नितान्त असमर्थ होता है। दूसरा कारण यह भी है कि पुरुष घर से बाहर अधिक रहने के कारण तथा सभ्य समाज में उठने-बैठने के कारण अपनी इस परम्परा को (शिक्षित हो जाने की वजह से) हेय समझने लगता है। यही कारण है कि पुरुष से यह सम्पत्ति समाप्त होती चली आरही है। परन्तु स्त्रियाँ अपने स्वभाव के अनुसार (जो उनका प्रत्येक वस्तु के रक्षण का स्वभाव है) इन गीतों की रक्षा करती रहती हैं। यही कारण है कि आज भी लोक-गीतों का सागर नारीकंठ में लहराया करता है।

लोकगीतों के रचयिता शास्त्रीय विषयों के ज्ञाता नहीं होते। वे प्राय: अशिक्षित होते हैं अत: पिंगल शास्त्र का ज्ञान उन्हें नहीं के बराबर होता है। यही कारण है कि लोकगीतों में छन्द सम्बन्धी अनेक दोष होने के कारण लयबद्धता नहीं पाई जाती। परन्तु उनकी शब्द योजना एवं स्वरयोजना स्वाभाविक तथा अनुभूतिगम्य होती है। इसी से लोकगीतों में मधुरता, प्रसादगुणयुक्तता एवं सरसता प्रधान रूप से मिलती है।

परन्तु लोकगीतों में छन्द को इतना महत्व नहीं दिया जाता जितना लय को। गेयता में हम लय पर अधिक बल देते हैं। लय अर्थात् स्वरों की समगति। असन्तुलन में सन्तुलन की व्यवस्था ही संगीत है। सन्तुलन लय की ही व्यवस्था है। वैदिक युग के इसे 'ऋत' कहा जाता था। सृष्टि का मूलाधार लय ही है। चन्द्रमा एक लय में घूमता है, नदी भी एक लय में बहती है। यहाँ तक कि जीवन भी एक लय में चलता-फिरता है। लय गीत का तो प्राण है। लय एक पालकी है जिस पर अनुभूति की राजकुमारी बैठकर जाती है। गीत में अनुभूति को भी लय से अधिक महत्व दिया गया है। अत: कहा जा सकता है कि लय जब तक पालकी है तब तक स्वीकार है परन्तु जब लय राजकुमारी हो जाय और अनुभूति पालकी तब गेयता व्यर्थ हो जाती है। यह गेयता ही है जो सम्प्रेषणीयता और स्मरणीयता को बढ़ाती है।

इस लय को संगीतशास्त्र में तोड़' भी कहा जाता है। लय और तुक दोनों भावों के अनुरूप होते हैं। लय वास्तव में लोकगीतों का मोहक गुण है। सामूहिक रूप से स्त्रियाँ जब लयपूर्वक गीत गाती हैं तो वे गीतों की कमी को इसी लय के आधार पर स्वरों को घटा-बढ़ाकर पूरा कर लेती हैं।

लोकगीतों में कहरवा, दादरा तथा दीपचन्दी धुनों का अधिक प्रचलन है। पीलू, तिलक, जैजैवन्ती, कामोद, काफी, खमाज, बिलावल आदि राग लोकगीतों में अधिक मिलते हैं। वास्तव में लोकगीत में 'ताल' का तो कोई शास्त्र होता नहीं अत: लय को ही प्रधानता दी गई है।

लोकधुनों तथा लोकतालों से शास्त्रीयधुनों एवं शास्त्रीयतालों का विकास हुआ है। हर लोकगीत शास्त्रीयता का बानः पहन सकता है लेकिन शास्त्रीयसंगीत लोकगीत नहीं बन सकता। शास्त्रीयसंगीत की क्लिष्ट पद्धति के बीच तथा सामाजिक संगीत की इस जनसाधारण आवश्यकता के बीच लोकसंगीत सेतु का काम करते हैं।[१] लोकसंगीत में लयात्मक प्रवृत्ति को व्यक्त करने के लिए ढोल, ढोलक, चंग डफ, झाँझ, ताँशे, नगारे आदि अनेक प्रकार के वाद्य होते हैं।

लोकगीतों में विभिन्न वाद्यों का प्रयोग—

संगीत का माध्यम वाद्य होते हैं। लोकसंगीत के माध्यम लोक-वाद्य होते हैं। वाद्यों के अभाव में लोकगायक अपने स्वरों को सम बनाए रखने में सदैव अपने को असमर्थ पाता है। वाद्यों के माध्यम से ही वह किसी गीत को तन्मयता के साथ देर तक गा सकता है। वाद्यों की सहायता से ही गायक को बीच में साँस लेने का अवसर भी मिल जाता है। वाद्यों के द्वारा गायक श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध भी किए रहता है।

"सरल लोकजीवन में वाद्य प्रत्येक स्थान पर वर्तमान रहते हैं। प्रातःकाल जब स्त्रियाँ चक्की चलाती हैं तो उसकी घरघराहट ही उसके स्वर में मिलकर वाद्य का रूप धारण कर लेती है। बच्चा पैदा होने पर माताओं की प्रसन्नता के मूक स्वर को थाली वाद्य द्वारा स्वर मिल जाते हैं। ढेंकली चलाने वाला आदमी पानी की सरसराहट को छप-छप कर ताल पर ही गा चलते हैं। गाड़ी हाँकने वाला व्यक्ति बैलों की घंटियों और खुरों की आवाज से ही अपना स्वर मिला लेता है। बर्तन माँजने वाली स्त्री बर्तनों की खनखनाहट को ही अपने गीत का माध्यम बना लेती है। धोबी कपड़े की फटाफट से ही अपने स्वर को मुखरित कर संगीत की सृष्टि करता है। इस प्रकार हम प्रत्येक स्थान पर गाने वाले के लिये वाद्य उपस्थित पाते हैं।"[२]

वाद्य गानों की प्रकृति, समय, स्थान, जाति आदि के अनुसार परिवर्तित होते रहे हैं। कुछ वाद्यों का प्रयोग तो विशेष स्थान एवं समय पर ही किया जाता है। "लोक जीवन में हमें वाद्यों के दो मुख्य स्वरूप मिलते हैं—प्रथम—मनुष्य की क्रियायें वाद्य का स्वरूप धारण कर लेती हैं जैसे ढेकली के चलाने से उत्पन्न ध्वनि। इन क्रियागत ध्वनियों को हम सुविधा के लिये 'क्रिया-वाद्य' का नाम दे सकते हैं। द्वितीय—परन्तु दूसरे प्रकार के वाद्यों को हम वाद्यों के स्वरूप में ही सम्मुख लाते हैं—उदाहरण के लिये ढोलक। यदि हम इन वाद्यों के इतिहास को टटोलें तो हम

---

१. खड़ी बोली का लोकसाहित्य—डा० सत्या गुप्त—पृ० १५७।

२. सम्मेलन-पत्रिका—लोकसंस्कृति अंक—श्रीमती शान्ति अवस्थी का लेख—पृ० १७४।

इन प्रचलित वाद्यों के पीछे भी क्रिया को ही पायेंगे। लोकवाद्य अपने उत्पत्तिकाल में ऐसे साधनों से उत्पन्न हुआ जो प्रतिदिन के कार्यों में आते रहे। आज भी आसाम का बहुत प्रचलित लोकवाद्य दो बाँसों से बनता है जो बहुत मधुर ध्वनि उत्पन्न करता है। ये बाँस लोक-मानस के क्रिया अङ्ग ही रहे होंगे। लोकवाद्य संगीत के साथ संगत देने वाले उपकरण ही नहीं रह गये अपितु वह स्वतन्त्र रूप से भी बजाये जाने लगे और श्रोताओं को इन अर्थहीन किन्तु अनुभूतिपूर्ण स्वरों में भी मानवीय संवेदनशीलता अनुभव होने लगी।"[1]

गायन और वाद्य का परस्पर अन्योन्याश्रित एवं घनिष्ट सम्बन्ध है। लोक-वाद्य स्वरो को आरोह-अवरोह के अनुकूल चलाते हैं एवं उनकी लय को बनाए रखने के लिए ताल को सँभाले रखते हैं। इसी आधार पर स्वरों के साथ चलने वाले तीन प्रकार के वाद्य पाए जाते हैं। तार-वाद्य, फूंक-वाद्य तथा चोट-वाद्य।

मानवजीवन में लोकवाद्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। पौराणिक युग से ही हम लोकवाद्यों के महत्त्व को देखते आए हैं। शिव डमरू बजाने के लिए प्रसिद्ध हैं, विष्णु शंखधारी हैं, कृष्ण वेणु-वादक हैं, ब्रह्मा ढोल के निर्माता हैं। अतः यह स्पष्ट है कि सभी वाद्यों का विकास लोकजीवन ही से हुआ है। बालक आम की गुठली घिसकर पपिहरा बनाकर वाद्यरूप में प्रयोग करते हैं अथवा ज्वार के पत्रों को मोड़ कर मन बहलाने के लिए अपना बाजा तैयार कर लेते हैं। पंडित अपनी पूजा में शंख और घड़ियाल का बजाना नहीं भूलते। वृद्धजन कीर्तन के समय करताल अवश्य बजाते हैं। इन लोकवाद्यों ने हमारे जीवन के साधना और भक्ति-पक्ष को सदैव बल दिया। मीरा भी नाचीं तो पैरों में घूँघरू बाँधना नहीं भूलीं।[2]

स्थूल रूप से लोकवाद्यों को चार भागों में बाँटा गया है—

१. फूंक-वाद्य, २. खाल-वाद्य, ३. तार-वाद्य, ४. ताल-वाद्य।

१. **फूंक-वाद्य**—फूंक-वाद्य के अन्तर्गत बाँसुरी, बीन, शहनाई, शंख, भीमुख, अलगोजा, आदि वाद्य-यंत्र आते हैं। बाँसुरी सबसे प्राचीनतम वाद्य है। यह बाँस की बनी होती है। पीतल की भी बाँसुरी बनने लगी हैं। इसका प्रयोग जिस प्रेम से शास्त्रीयसंगीत वादक करते हैं प्रायः उतने ही प्रेम से लोकवादक भी। इसमें सात सुर होते हैं। यह अत्यन्त ही मोहक वाद्य-यंत्र है।

बीन तुम्बे या लौकी की बनी होती है। आगे अलग से एक तुम्बी होती है फिर उसका पतला भाग करीब एक फुट लम्बा होता है। तुम्बी की ओर से यह बजाया

---

१. खड़ीबोली का लोकसाहित्य—डा० सत्या गुप्त—पृ० १५८—१५९।
२. वही—पृ० १५६।

जाता है। अधिकतर सँपेरे इसे बजाकर साँप को मोहित करते हैं। इसमें साँप को आकर्षित करने की अद्भुत शक्ति होती है।

शहनाई सबसे मधुर एवं श्रेष्ठ फूँक-वाद्य हैं। यह बड़ी चिलम के आकार की होती है। बनारस अच्छी शहनाइयों का निर्माण-केन्द्र है। लोकनाटकों तथा विवाह एवं उत्सवों में यह वाद्य बजाया जाता है।

शंख एक जन्तु का खोल है जो सागर में उत्पन्न होता है। यह प्राय: पूजा, कथा तथा पवित्र कार्यों के अवसर पर ही बजाया जाता है। अधिकतर साधु लोग ही इसे बजाते हैं। मंदिरों में भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

गोमुखा पीतल का लम्बा वाद्य है। जब राजाओं की सवारियाँ निकलती थी या सेना लड़ने के लिए जाती थी तब आगे-आगे गोमुखा बजाया जाता था। अब भी बारात में इसका प्रयोग होता है।

अलगोझा प्रारम्भिक वाद्य माना जाता है। यह तीन छेद वाला होता है। आदिवासियों का यह विशेष वाद्य है। बांकिया-वाद्य डेढ़ हाथ लम्बा होता है और विवाह के अवसर पर ढोल के साथ बजाया जाता है। यह बैंड का सा साज है।

२. **खाल वाद्य**—खाल वाद्यों के अन्तर्गत ढोल, नौबत, नगाड़ा, चंग, डमरू, ढोलक, चंगडी, मटकी, खंजरी आदि वाद्य आते हैं।

ढोल लोकगीत गाते समय स्वतंत्र रूप से प्रयोग किया जाता है। लोकनृत्य के समय भी इसका उपयोग प्रमुख रूप से किया जाता है। सामूहिक नृत्य एवं जन्मोत्सव, विवाह तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर इसका प्रयोग आवश्यक हो गया है। ढोल एक लकड़ी का खोल होता है जिसके दोनों पार्श्वों में बकरी का चमड़ा मढ़ा होता है। इसे रस्सी से कसा भी जाता है जिससे इसकी आवाज में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सके। इसकी ध्वनि बड़ी दूर तक जाती है।

नौबत एक ओर से मढ़ा हुआ होता है। इसमें भैंस का चमड़ा काम में लाया जाता है। यह शहनाई के साथ बजाया जाता है। नगाड़ा भी एक ओर से मढ़ा होता है। यह भी लकड़ी की चोट से बजाया जाता है। नौबत और नगाड़ा प्राय: एक से होते हैं। शादी तथा नौटंकी में यह अधिक बजाया जाता है। इसी की शक्ल की नगाड़ी भी होती है। बड़ा नगाड़ा नर कहलाता है और छोटी नगाड़ी मादा।

एक गोलाकार तथा एक ओर से मढ़ा वाद्य जो होली के अवसर पर बजाया जाता है चंग कहलाता है। एक ओर बकरे की खाल से मढ़ा होता है। यह रस्सी से मढ़ा जाता है। लेही से ऊपर की खाल चिपका दी जाती है। इसे कंधे पर रखकर बजाया जाता है। इसे दाहिने हाथ से पकड़ उसी से चिमटी मारते है और बाएँ हाथ से बजाते हैं। इस पर धमाले गीत चलते हैं। इसका प्रिय ताल कहरवा है। चंगडी चंग से छोटी होती है।

ढोलक का अधिक प्रचलन लोकोत्सवों में होता है। इससे सभी प्रकार की तालें बजाई जाती हैं। यह आम की लकड़ी के खोल का बना होता है और दोनों ओर बकरी की खाल से मढ़ा होता है। दोनों मुंह बराबर होते हैं, बीच का भाग चौड़ा होता है। इसे प्रायः सभी उत्सवों, लीलाओं, ख्याल, कव्वाली आदि गाते समय उपयोग में लाया जाता है। घरों में स्त्रियाँ हर गीतों में इसे बजाती हैं। कभी-कभी पैसे की टेक भी ढोलक के ऊपर दी जाती है।

खंजरी एक ओर बकरी के चमड़े से मंढ़ी होती है। भिखारी इसका उपयोग अधिक करते हैं। ढोलक के साथ इसे भी बजाया जाता है। चंग की भाँति ही इसे बजाया जाता है।

डमरू छोटे आकार का दोनों ओर से मढ़ा होता है। यह भगवान शिव का प्रसिद्ध वाद्य है। इसके बीच का भाग दो सिरों से पतला होता है और यहाँ दो डोरियाँ बँधी होती हैं जिनमें सिरे पर मोम की गोलियाँ बनी होती हैं। हाथ में पकड़कर हिलाने से दोनों ओर की गोलियाँ दोनों सिरों के चमड़ों पर पड़ती है और उमसे ध्वनि निकलती है। इसे आजकल मदारी या जादू दिखाने वाले लोग प्रयोग में लाते हैं।

मटकी पकी हुई मिट्टी की मजबूत बनी होती है। इसके मुंह पर हथेली से थाप मारी जाती है और किसी पैसे या धातु के टुकड़े से मटकी के पेट पर टेक दी जाती है। इससे तबले का काम भी लिया जाता है। कुछ लोग घुंघरू मटकी के मुंह पर बांधकर बजाते हैं। कहीं-कहीं इसके मुंह को चमड़े से मढ भी दिया जाता है।

३. **तार-वाद्य**—तार-वाद्यों के अन्तर्गत तम्बूरा, सारंगी, इकतारा आदि वाद्य-यंत्र आते हैं।

तम्बूरा के 'निशान' तथा 'चौतारा' भी कहा जाता है। इसमें चार तार होते हैं। यह तानपूरा या सितार से मिलता-जुलता है। यह लकड़ी का बना होता है। इसकी कुन्डी तुम्बे की नहीं होती। बाएँ हाथ से इसे पकड़ कर दाएँ हाथ से बजाया जाता है। जोगी इस पर भजन गाते हैं।

सारंगी में २७ तार होते हैं। यह सागवन लकड़ी की बनती है। माथे में खूंटियाँ होती हैं। ऊपर की तातें बकरी की आँतों की बनी होती हैं। साथ ही इसकी तेरह तुरमें होती हैं। सब स्टील की होती हैं। इन्हें चार बड़े खूंटों से बाँध दिया जाता है। इसे गज से बनाया जाता है। गज में घोड़े के बाल बँधे रहते हैं। यह भी जोगियों का विशेष वाद्य है।

इकतारा तम्बूरे का ही आदि रूप है। एक बाँस में छोटे गोल तुम्बे को फँसा दिया जाता है। थोड़ा-सा भाग काटकर बकरी के चमड़े से मढ़ दिया जाता है। बाँस के नीचे एक तार बाँध दिया जाता है। दो या तीन तार भी बाँधे जा सकते हैं। इन तारों को खूंटी से भी कस दिया जाता है। तार पर उँगली से ऊपर नीचे चोट करके इसे बजाया जाता है। इसे कन्धे पर रखकर एक हाथ से ही बजाया जाता है।

४. **ताल-वाद्य**—ताल-वाद्य उसे कहते हैं जिसमें ताल देने की क्षमता हो। ताल देने के लिए यह एक प्रकार की आवृत्ति ही से बजता है। इसे 'आधा साज' कहते हैं। आरती के समय बजने वाला घण्टा, काँसे की थाली, झाँझ, घड़ियाल, कटोरे आदि इसी प्रकार के वाद्य-यंत्र हैं।

मजीरा प्रसिद्ध ताल-वाद्य है। यह पीतल और काँसे की मिली धातु से बना होता है। दो मजीरों को आपस में टकराकर ध्वनि उत्पन्न की जाती है। भजनों मे इसका उपयोग अधिक होता है।

झाँझ मजीरों का छोटा रूप है। खड़ताल सामूहिक गान के अवसर पर प्रयोग में लाया जाता है। यह 'करताल' से बना है। यह निरन्तर एक ही लय की ताल देने वाला वाद्य है। इसका प्रयोग साधु-सन्त अधिक करते हैं। इकतारे एवं मंजीरों के साथ इसका मेल अधिक बैठता है।

इस प्रकार लोकगीतों में बिना ताल के गायन असम्भव है। ताल की दृष्टि से ढोलक, मजीरा, नागाडा, चंग आदि वाद्य प्रसिद्ध हैं। इन्हीं वाद्यों के द्वारा लोकगीतों को एक निश्चित ताल और लय में बाँधा गया है। उपर्युक्त सभी प्रकार के लोक-वाद्यों का लोकगीतों के गायन की दृष्टि से अत्यधिक महत्व है।

विभिन्न अवसरों पर गाए जाने वाले गीतों का संक्षिप्त विवरण—

भारतीय मानव का जीवन धर्मशास्त्रीयों के अनुसार सोलह संस्कारों में बँधा हुआ है। उसके सारे कार्य धर्म से ही सम्बन्धित हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक वह किसी न किसी संस्कार से बँधा रहता है। यहाँ तक कि जन्म से पूर्व भी पुंसवन-संस्कार का वर्णन हमारे यहाँ मिलता है। वैसे कहने को सोलह संस्कार हैं परन्तु जन्म, मुण्डन, यज्ञोपवीत, विवाह, गवना, मृत्यु यही प्रमुख संस्कार हैं जिन्हें वास्तव में संस्कार के नाम से पुकारा जाता है। इन अवसरों पर हमारे यहाँ की स्त्रियाँ उल्लास तथा आनन्द के साथ मधुर-मधुर गीत गाती हैं और मृत्यु के अवसर पर हृदयविदारक गीत गाकर मृतक के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करती हैं।

ऊपर हमने अपना लोकगीतों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है अब उसी के आधार पर इन गीतों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ उपस्थित किया जारहा है—

(क) संस्कार सम्बन्धी गीत—

(१) **जन्म**—भारत में पुत्रजन्म आनन्द और प्रसन्नता का विषय माना जाता है अतः इस संस्कार पर अधिक गीत गाए गए हैं। इस अवसर पर आचारों का लम्बा अनुष्ठान होता है। पुत्र-जन्म से पूर्व गर्भाधान से नौ मास तक के गीत जन्मसंस्कार के अन्तर्गत आजाते हैं। सातवें मास में 'साध' पूजा जाता है जिसे 'चौक' भी कहते हैं। इस अवसर पर पति-पत्नी चौक पर बैठाए जाते हैं।

पुत्रजन्म पर गाए जाने वाले गीतों को 'सोहर' कहते हैं। इन्हें 'मंगल' भी कहा जाता है। 'सोहर' छन्द में ये गीत गाए जाते हैं, यही कारण है कि इन्हें 'सोहर' कहा जाता है। सोहर के एक गीत में तो नौ महीनों में गर्भिणी की जो दशा होती है उसका वर्णन बड़े रोचक ढंग से मिलता है। पुत्रजन्म के अवसर पर गर्भिणी के लिए औषधि मिलाकर पानी एक मिट्टी के घड़े में औटाया जाता है। इसे 'चरु' कहते हैं। घड़े को गोबर से चीत कर स्वास्तिक तथा कुछ चक्र बनाकर रख दिया जाता है। यह क्रिया 'चरुवा' रखने की क्रिया कहलाती है। इसके बाद कौरों पर सौंतिये भी गोबर से रखे जाते हैं। पहली क्रिया सास करती है और दूसरी क्रिया ननद। नेग दोनों को मिलता है। छठवें दिन गृह-शुचि और स्नान का संस्कार होता है। इस दिन जच्चा-बच्चा को स्नान कराया जाता है। इसे 'छठी' कहते हैं। दसवें दिन नामकरण सस्कार होता है। जिसे 'दष्ठौन' कहा जाता है। इसी दिन कुआ पूजने का संस्कार गाजे-बाजे के साथ मनाया जाता है। दष्ठौन का अवसर पौरोहित्य सम्बन्धी संस्कार होता है। पुरोहित आकर यज्ञ आदि कराता है और बालक का नामकरण करता है। गाँठ जोडकर पति-पत्नी बैठते हैं। इसे तगा बाँधने का संस्कार कहा जाता है। पत्नी के मायके से भेंट आती है जिसे 'छोछक' या 'पछ' कहा जाता है। इस अवसर पर पहले पत्नी की स्वसुराल वालों की ओर से सूचना तिल, चाँवर और गुड़ भेट कर दी जाती है। साथ में अंगिया' भी जाती है। इसे 'तिल चामरी' कहते हैं। तभी पत्नी के मायके से भेंट आती है।

इस प्रकार पुत्रजन्म से लेकर दस दिन तक यह संस्कार चलता है। इस समय जो गीत गाए जाते हैं उनमें प्रबन्ध गीत भी गाया जाता है जिसे 'जगमोहन लूगरा' कहते हैं।

(२) **मुन्डन** – बालक जब बड़ा होता है तब उसका मुन्डन संस्कार किया जाता है। इसे 'चूड़ाकर्म' भी कहते हैं। मुंडन सोलह संस्कारों में एक प्रसिद्ध संस्कार है। किसी पवित्र स्थान अथवा नदी के किनारे यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है।

(३) **यज्ञोपवीत** – यज्ञोपवीत को जनेऊ कहते हैं। इसे उपनयन संस्कार भी कहा जाता है। उपनयन का अर्थ है वह संस्कार जिसके द्वारा छात्र गुरु के समीप

लाया जाता है। इस अवसर पर बालक-ब्रह्मचारी को कुछ व्रतों का पालन करना पड़ता है जिसे 'व्रतबन्ध' कहते हैं। ब्राह्मण बालक का यज्ञोपवीत आठ वर्ष की अवस्था में, क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य का बारहवें वर्ष में किया जाता है। इस अवसर के गीतों में अनेक विधि-विधानों का वर्णन किया जाता है। बालक इस अवसर पर भिक्षा माँगता है—यह प्रधान विधि है।

(४) **विवाह**—विवाह भारतीय परिवार का प्रधान और प्रसिद्ध संस्कार है। जन्म और विवाह संस्कार ही ऐसे हैं जिनमें अत्यधिक उत्साह एवं आनन्द मनाया जाता है और खूब गीत गाए जाते हैं। लोकगीतों में अधिकांश गीत इन्हीं दो संस्कारों से सम्बन्धित है। इनमें नारियाँ ही अधिक गीत गाती हैं। विवाह के गीत कन्या और वरपक्ष दोनों घरों में गाए जाते हैं। डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने दोनों पक्षों की ओर से गाए जाने वाले विवाह गीतों का विभाजन इस प्रकार किया है—[१]

(क) कन्यापक्ष

१. तिलक के गीत
२. संझा के गीत
३. मांडो के गीत
४. माटी कोड़ाई के गीत
५. कलसा धराई के गीत
६. हरदी के गीत
७. लावा भुँजाई के गीत
८. मातृ-पूजा के गीत
९. द्वार-पूजा के गीत
१०. गुरहत्थी के गीत
११. विवाह के गीत
१२. भाँवर के गीत
१३. चूमने के गीत
१४. द्वार रोकने के गीत
१५. कोहबर के गीत
१६. परिहास के गीत
१७. भात के गीत
१८. बर को उबटन लगाने के गीत

(ख) वरपक्ष

१. तिलक के गीत
२. सगुन के गीत
३. भतवानि के गीत
४. माटी कोड़ाई के गीत
५. लावा भुँजाई के गीत
६. इमली छोटाई के गीत
७. हरदी के गीत
८. मातृ-पूजा के गीत
९. वस्त्रधारण के गीत
१०. मउरि के गीत
११. परिछावन के गीत
१२. डोमकछ के गीत
१३. परिछावन के गीत
१४. गोड भराई के गीत
१५. कोहबर के गीत
१६. कंकन छुड़ाई के गीत

---

१. लोकसाहित्य की भूमिका—पृ० ५०।

१९. मांडो खोलाई के गीत
२०. बारात की बिदाई के गीत
२१. कंकन छुड़ाई के गीत
२२. चौथारी के गीत

उपर्युक्त विभाजन डा० उपाध्याय ने भोजपुरी प्रदेश को ध्यान में रखकर किया है। ब्रज में ये वैवाहिक प्रथाएँ भोजपुर से नितान्त भिन्न हैं। ब्रज में इन विभिन्न विधि-विधानों के अवसर पर अत्यन्त ही मधुर एवं आकर्षक गीत गाए जाते हैं। विधान निम्न प्रकार के हैं—[1]

१. सगाई
२. पीली चिट्ठी
३. लगुन
४. भात-न्योतना
५. हरद हात (ताई)
६. रतजगा
७. तेल
८. घूरा पूजन
९. अछूता
१०. माढ़वा गाड़ना
११. भात
१२. विवाह (लड़के के पक्ष तथा लड़की के पक्ष का)
१३. भाँवर
१४. बढ़ार
१५. पलकाचार
१६. रहस बधाया
१७. बन्दनवार
१८. मुँह मडई
१९. बिदा
२०. बहू नचाना
२१. दई देवता सिराना
२२. माढ़वा सिराना
२३. ककनावरि
२४. दई देवता पूजन

इन सभी विधानों पर स्त्रियाँ मधुर गीत गाती हैं और विधानों को सम्पन्न करती है।

(५) गौना—'गौना' संस्कृत के गमन का अपभ्रंश रूप है जिसका अर्थ है—जाना। विवाह के पश्चात कन्या कुछ दिन ससुराल रहकर फिर अपने मायके आजाती है। फिर विषम वर्षों में दूसरी तिथि निश्चित की जाती है और पुनः लड़की ससुराल विदा करदी जाती है। यह विधान भी धूमधाम से मनाया जाता है। आजकल परिस्थितियों को देखते हुए विवाह पर अक्सर गौना भी साथ कर दिया जाता है। 'गौने' पर जो गीत गाए जाते हैं वे अत्यन्त करुण एवं हृदय-विदारक होते हैं। वास्तव में लड़की की बिदा का अवसर ही अत्यन्त करुण होता है। स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही

---

१. ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन—डा० सत्येन्द्र—पृ० १८७।

अपने आँसुओं को रोक नहीं पाते। राजस्थान में इसे 'ओलूँ' कहते हैं और मिथिला में 'समदाउनि'।

(६) **मृत्युगीत**—मृत्यु मानवजीवन का अन्तिम संस्कार है। इन गीतों में मृतव्यक्ति के गुणों का तथा उसकी मृत्यु से उत्पन्न कष्टों का अत्यन्त ही हृदयविदारक वर्णन होता है। ब्रज में इस प्रकार के गीत बहुत कम हैं। वृद्ध व्यक्ति के मरने पर भजन भी गाए जाते हैं और उसका विमान बड़ी धूमधाम से निकाला जाता है।

ऊपर संस्कार सम्बन्धी गीतों का वर्णन किया गया है अब तिथिवासरक गीतों के विषय में यहाँ संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

(ख) तिथिवासरक—

(अ) ऋतुगीत या माहवारी गीत—

(१) **सावन के गीत**—सावन के गीतों में 'हरियाली तीज' का विशेष महत्व है। इस अवसर पर कन्याएँ झूला झूलते हुए गीतों को गाती हैं। 'रक्षाबन्धन' पर—जो महत्वपूर्ण पर्व है—बहनें अपने भाइयों को राखी बाँधती हैं। गेहूँ की पौध उगाई जाती है। इसे ब्रज में 'फुलरिया' कहते हैं। बहनें इसे भाइयों के कान में लगाती हैं। इस अवसर पर 'सेवँई और चावल' तथा 'बूरा' विशेष रूप में उपयोग किया जाता है। ब्रज में पुरुष इस अवसर पर 'बूरा' लेकर अपनी ससुराल जाता है और वहाँ उसका खूब स्वागत होता है। इसे 'बूरा खाना' कहते हैं। उत्तर प्रदेश में 'कजली' गाने की भी प्रथा है। कजली में श्रृंगार रस के उभय पक्षों का अत्यन्त ही स्वाभाविक एवं सुन्दर वर्णन मिलता है। अक्सर गीत झूला झूलते हुए गाए जाते हैं।

भादों में कृष्ण जन्माष्टमी पर जन्माष्टमी सजाई जाती है और रात को भजन गाए जाते हैं। क्वार में लड़के टेसू के गीत गाते हैं और लड़कियाँ झाँझी खेलकर झाँझी के गीत गाती हैं।

(२) **होली**—वैसे तो प्रत्येक मास में अनेक विधान तथा पर्व हैं परन्तु ऋतु गीतों में सावन तथा होली का रंग कुछ और ही होता है। इस अवसर पर अनेक गीत गाए जाते हैं। होली तो पूर्ण मस्ती का ही महीना है। होली पर समूहगीत ढोलक के साथ खूब जोर-शोर से गाए जाते हैं।

(३) **बारहमासा**—बारहमासा वर्षा ऋतु में गाया जाता है। इसमें विप्रलम्भ श्रृंगार का वर्णन प्रधान रूप से पाया जाता है। इसमें प्रोषितपतिका के वियोगजन्य दुःखों का वर्णन मिलता है। बंगला में इसे 'बारहमाशी' कहते हैं। मैथिली लोकगीतों में बारहमासा का प्रधान स्थान है।

(ब) त्यौहार, तीर्थों एवं व्रतों के गीत—

मासों के क्रम में त्यौहारों, तीर्थों एवं व्रतों का भी प्रमुख स्थान है—

(१) **नाग पंचमी**—सावन के शुक्लपक्ष की पंचमी को यह त्यौहार मनाया जाता है। इस अवसर पर सूर्य की पूजा होती है। घर के द्वार पर सर्प के चित्र बनाए जाते हैं और सर्पों को दूध भी पिलाया जाता है। यह पूजा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आरही है। इस अवसर पर गीत भी गाए जाते हैं।

(२) **बहुरा**—बहुरा का व्रत भादों के कृष्ण-पक्ष की चौथ को किया जाता है इसे 'बहुला' भी कहते हैं। पुत्र-प्राप्ति की कामना के लिए ही स्त्रियाँ इस व्रत को धारण करती हैं। ब्रज में इसका प्रचलन कम है। बहुरा के गीतों में माता के सहज-स्नेह, सास-बहू का विरोध तथा दाम्पत्य-प्रेम का वर्णन विशेष रूप से पाया जाता है।

(३) **गोधन**—कार्तिक शुक्ल प्रतिपद् को गोधन का त्यौहार मनाया जाता है। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में इस व्रत पर गोबर की मनुष्याकृति को स्त्रियाँ मूसल से कूटती हैं। इसे गोधन कूटना कहते हैं। ब्रज में दिवाली की पड़वा को यह त्यौहार मनाया जाता हैं। गोवर्धन की गोबर की आकृति बनाई जाती है। सींकों के पेड़ एवं झाडियाँ रखी जाती हैं। परिक्रमा कर पूजा की जाती है। घर में गाय, भैंसों के सींग तथा शरीर रंग कर सजाया जाता है। 'अन्नकूट' (सभी प्रकार की प्राप्त सब्जियों से बना साग) और पूरी बनाकर बाँटा जाता है। पूर्वी जिलों में 'गोधन' को कूटा जाता है जिसका अर्थ है इन्द्र के मद को चूर्ण करना। यह गोबर की आकृति इन्द्र का ही प्रतीक है।

(४) **पिंडिया**—यह व्रत एक मास का है। कार्तिक शुक्ल प्रतिपद् से अगहन शुक्ल प्रतिपद् तक रहता है। गोधन के गोबर का थोड़ा सा अंश लेकर क्वारी लड़कियाँ पिंडिया लगाती हैं। इन गीतों में भाई-बहन के स्वाभाविक प्रेम का वर्णन है। ब्रज में भैयादौज पर गीत और कहानी कही जाती है। यह दिवाली की दौज पर मनाया जाता है। इस अवसर पर बधाए भी गाए जाते हैं। ब्रज में होली की दौज पर भी यही व्रत किया जाता है।

(५) **छठी माता के गीत**—यह व्रत कार्तिक शुक्ल छठी को किया जाता है। यह व्रत केवल स्त्रियों द्वारा ही किया जाता है। मिथिला में स्त्री-पुरुष दोनों ही करते हैं। ब्रज में इसका रिवाज कम है। यह व्रत भी पुत्र-प्राप्ति के लिए किया जाता है। वन्ध्या स्त्रियाँ इन गीतों में सूर्य से मर्मस्पर्शिनी प्रार्थना करती हैं। मिथिला में ये गीत अधिक प्रचलित हैं।

(६) **अन्य**—(i) **करवाचौथ**—कार्तिक कृष्ण चौथ को यह व्रत रखा जाता है। दीवाल पर करवा चौथ रखी जाती है। रात्रि में चन्द्र को अर्घ्य देकर भोजन किया जाता है। कहानी भी कही जाती है और गीत भी गाए जाते हैं। यह

स्त्रियों का अत्यन्त ही मांगलिक व्रत है। पति की सुरक्षा एवं दीर्घायु होने के लिए ही यह व्रत स्त्रियाँ रखती हैं।

(ii) देवठान—घर में इस अवसर पर रंगोली सजाई जाती है। लिपे-पुते आँगन के बीच एक युग्म का रेखाचित्र बनाया जाता है उसे डलिया से ढँक देते हैं। रात्रि में देवताओं को जगाया जाता है और गीत गाए जाते हैं। पूजा भी होती है। गन्ने का रस पिलाया जाता है और उन्हें पूजा जाता है।

लोकगीतों में तीर्थों का भी महत्व है। प्रायः नर नारियाँ तीर्थ यात्रा के समय गीत गाते हैं। इन्हें 'जात' कहते हैं। विभिन्न तीर्थों की यात्रा के लिए विभिन्न गीत है। लोकगीतों में 'माता की जात' के गीत अधिक प्रसिद्ध है।

(ख) देवी-देवताओं के गीत—

इन त्यौहारों एवं व्रतों के अतिरिक्त देवी-देवताओं के गीतों का भी उल्लेख मिलता है। देवी-देवताओं के गीतों में शीतला माता के गीत अधिक प्रसिद्ध हैं। चैत्र मे नौ दिन तक देवी के गीत गाए जाते हैं। ये नवदुर्गा कहलाते हैं। देवी का जागरण भी (जागन्नु) होता है। सिर पर देवी आ जाती है। यह भी गीतों के साथ होता है। इनमें स्फुट और प्रबन्ध-दोनों प्रकार के गीत गाए जाते हैं। देवी के गीतों में 'लाँगुरिया' अवश्य गाए जाते हैं। देवी का यह लाँगुर 'बारा' या बालक है। अतः उसे वात्सल्य भाव से देखा गया है। इसी प्रकार के अन्य गीत भी हैं।

(ग) इतिवृत-सम्बंधी—

इतिवृत के आधार पर काव्य के दो भेद किए गए हैं—मुक्तक एवं प्रबन्ध। लोकगीतों में अनेक लोकगीत इतिवृत सम्बंधी है। अतः इन्हें भी हमने दो भागों में बाँट दिया है—

(१) मुक्तक—मुक्तक गीतों में सोरठा, रजपूतीहोली, रागिनी, रसिया, ख्याल आदि आते हैं। ब्रज में रसिया आदि प्रसिद्ध हैं। होली के अवसर पर ये खूब गाए जाते हैं।

(२) **प्रबन्ध**—प्रबन्धगीतों को कुछ विद्वान्, गीतकथा भी कहते हैं। इनमें से ढोला, आल्हा, हीररांझा, नरसी का भात आदि ऐसी गीत कथाएँ हैं जिन्हें एक ही व्यक्ति गाता है। जिकड़ी, पँवारें, साके आदि ऐसे प्रबन्धगीत हैं जिन्हें एक से अधिक व्यक्ति गाते हैं। इनमें से कुछ का आगे विस्तार से वर्णन किया जायगा।

(घ) विविधगीत—

(१) भिक्षा सम्बंधी—भिखारियों और जोगियों के गीत लोकसाहित्य के महत्वपूर्ण अंग हैं। मुस्लिम भिखारियों को साईं कहा जाता है और हिन्दू भिखारियों

को जोगी। भिखारियों का गीत चेतावनी सम्बंधी होता है। इसमें माया मोह से आसक्त जीव को संसार की नश्वरता बताकर, ब्रह्म तथा जीव के सम्बंध में प्रकाश डाला जाता है। ये गीत दया-धर्म के प्रेरक तथा प्राचीन सद्पुरुषों की जीवन गाथा के रूप में होते हैं। जोगी प्रायः वैराग्य सम्बंधी गीत गाते हैं। इन पदों को निर्गुण पदों में रखा जा सकता है। ये भक्ति-भावना से ओत-प्रोत भजन की भाँति होते हैं। आज कल सिनेमाओं के प्रभाव से इनका लय और संगीत बदल गया है। इन्हीं गीतों के अन्तर्गत पेशेवरों के 'सरमन' और 'भैरों' गीत भी आते हैं।

(२) **मनोरंजन सम्बंधी**—ये गीत स्त्रियों और पुरुषों के अलग-अलग हैं। स्त्रियों की गाली तथा परिहास गीत इसी के अन्तर्गत आती हैं। ये गीत अत्यधिक रसिक होते हैं। पुरुषों के मनोरंजन सम्बंधी गीतों में स्वाँग, भगत, ख्याल आदि आते हैं।

(३) **उद्योगपरक या श्रमगीत**—श्रमरत वातावरण में परिश्रम करते हुए मानव-जीवन के मुख में ये श्रमगीत अनायास ही जन्म लेते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—कृषि सम्बंधी और गृहस्थ सम्बंधी।

(i) **कृषि सम्बंधी**—गेहूँ काटने के दिनों में लाई करने का कार्य स्त्रियाँ ही करती हैं। इस समय जो गीत गाए जाते है उन्हें 'सिला बीनने' के गीत कहते हैं। इसी प्रकार धान को खेत में रोपते समय जो गीत गाये जाते हैं उन्हें 'रोपनी' कहते हैं। प्रायः ये कार्य चमार मुसहर आदि जाति की स्त्रियाँ ही करती हैं। इन गीतों में ससुराल के कष्ट, पति-प्रेम, कार्यव्यस्तता, आदि की झाँकी मिलती है। खेत से व्यर्थ की घास और पौधों को काटने के लिए 'निराना' या 'सोहना' कहते हैं। इनसे सम्बन्धित गीतों को 'निरौनी' या 'सोहनी' कहते हैं। इन गीतों का विषय भी वही है जो रोपनी और सिला बीनने वाले गीतों का है। पुरुषों में भी 'कोल्हूगीत' कोल्हू चलाते समय गाया जाता है। इनमें शृंगार की प्रधानता है। इसी प्रकार कुआँ चलाने के भी गीत हैं। इनमें भक्ति, मनोरंजन, और विनोद रहता है।

(ii) **गृहस्थ सम्बन्धी**—प्रायः भारतीय स्त्रियाँ गृहकाज करते समय गीत गाया करती हैं। इससे श्रमपरिहरण होता है। चक्की पीसते समय, चरखा चलाते समय, ओखली कूटते समय, पानी भरते समय स्त्रियाँ गीत गाती हैं। इन गीतों का विषय परिवार की दैनिक समस्याएँ होती हैं। श्रम के साथ-साथ दुखों का वर्णन भी इन गीतों का वर्ण्य-विषय होता है। चाकी के गीतों में सास के कटुव्यवहार, नन्द-जेठानी के तानों का वर्णन मिलता है। चरखे के गीतों में नारी का असन्तोष व्याप्त है।

(४) **बच्चों के गीत**—बच्चों के गीतों का सम्बंध विशेष रूप से खेलों से है। इसमें लोरियों का भी स्थान है। माताएँ अपने बच्चों को सुलाने के लिए जो गीत गाती हैं उन्हें 'लोरी' कहते हैं। इनमें 'निंदिया रानी' का आह्वान किया जाता है। खेल के गीतों में कुछ गीत लड़कियों द्वारा गाए जाते हैं और कुछ लड़कों द्वारा। लड़कियों के द्वारा गाए जाने वाले गीतों में झाँझी और साँझी के गीत प्रमुख हैं। लडकों के गीतों में टेसू के गीतों का प्रधान महत्त्व है। वैसे दैनिक खेल—कबड्डी, खो, आटेबाटे-आदि खेलों के अवसरों पर भी खूब गीत गाए जाते हैं। टेसू के गीत शारदीय नव रात्र के दिनों में गाए जाते हैं। एक पगड़ी और मूछोंदार व्यक्ति का मिट्टी का शीश तीन सर-कन्डों के आडे बांधकर तथा उनके बीच में सरसों के तेल का दीपक जलाकर बालक टेसू के गीत गाते हैं। बाद में प्रसाद भी बाँटा जाता है। इन्ही दिनों में लड़कियाँ झाँझी के गीत गाती हैं। असंख्य छेददार करुवे में एक दीपक रखा जाता है और ऊपर से इसे सकोरे से ढक दिया जाता है। बीच में इसे रखकर लड़कियाँ चारों ओर बैठकर गीत गाती हैं। इन्हें सिर पर भी रखकर गीत गाती हैं। ये ही साँझी के गीत हैं। झाँझी आश्विन शुक्ल प्रतिपदा को घर के मुख्यद्वार के बगल में मिट्टी से दीवार लीप कर गोबर से एक नारी की आकृति बनाई जाती है। फिर उसे पीतरपन्नी, खड़िया आदि से सजाया जाता है। यही झाँझी है। यह नौ दिन तक मनाया जाता है। झाँझी की रोज आरती की जाती है। और फिर खील बतासे या इलायचीदाने का भोग लगाकर प्रसाद बाँटा जाता है। इन गीतों में नन्द भौजाई की ईर्ष्या-स्पर्धा का मनोरंजक चित्र मिलता है। दशहरा के बाद किसी पोखर या तालाब में सब लड़कियाँ मिलकर साँझी सिराने जाती हैं।

६ | लोकगाथा

नामकरण—

भारत में कथात्मक गीतों के लिए कोई निश्चित नामकरण प्राप्त नहीं होता। भिन्न-भिन्न स्थानों पर इसके भिन्न-भिन्न नाम हैं। गुजरात में इसे 'कथागीत' कहते हैं।[1] 'राजस्थानी लोकगीत' के लेखक श्री सूर्यकरण पारीक ने इसे 'गीतकथा' कहा है।[2] महाराष्ट्र में इन कथागीतों को 'पँवाड़ा' कहते हैं। सारे उत्तर भारत में इन लम्बे कथागीतों के लिए कोई निश्चित नाम नहीं मिलता। प्रायः वर्ण्य-विषय के आधार पर ही इन गीतों का नामकरण कर दिया गया है, जैसे राजा गोपीचन्द के गीत, हीररांझा के गीत, सोनीमहीवाल के गीत, कुँवरसिंह, विजयमल, आल्हा आदि। ग्रियर्सन ने इन कथागीतों को 'पापुलर सांग' कहा है। परन्तु इस नाम में कोई औचित्य दिखाई नहीं देता। क्योंकि 'लोकप्रिय गीत' तो और भी होते हैं।

इस प्रकार के कथात्मक गीतों के लिए भारत के विद्वानों ने तीन नाम प्रस्तुत किए हैं। पँवाड़ा, कथागीत तथा गीतकथा! 'पँवाड़ा' महाराष्ट्र में प्रचलित है। इसका प्रयोग उत्तरीभारत में बहुत कम है। कथागीत और गीतकथा नामकरणों में कोई विशेष अन्तर दिखाई नहीं देता।

डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने कथात्मक गीतों पर विचार करते हुए इन गीतों को 'लोकगाथा' नाम से अभिहित किया है।[3] यह नाम वास्तव में सार्थक है। क्योंकि 'गीतकथा' या 'कथागीत' शब्दों में लोकभावना की गंध नहीं मिलती। यह शब्द प्रयास पूर्वक निर्मित किया गया है। और फिर ये अंग्रेजी के 'बैलेड' शब्द के भावानुवाद से प्रतीत होते हैं। 'लोकगाथा' शब्द सार्थक एवं लोकभावना को लिए हुए है। यह अनुवाद से परे भारतीय लोकपरम्परा के अधिक निकट है। वैसे 'गाथा' शब्द अत्यन्त प्राचीन है। अमरकोष और विष्णुपुराण में 'गाथा' शब्द का उल्लेख है। 'गाथा सप्तशती' आदि नाम भी पहले से ही प्रचलित हैं।

---

१. लोकसाहित्य—श्री झवेरचन्द मेघाणी—पृ० ५०।

२. राजस्थानी लोकगीत—पृ० ७८।

३. भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन—पृ० ४६२।

सर्वप्रथम 'गाथा' शब्द ऋग्वेद (८ : ३२ : १) में मिलता है। यज्ञ के अवसर पर गाथा गाने की प्रथा वहाँ मौजूद थी। हिन्दी में यह शब्द वृत्तान्त या जीवनी के लिए प्रयुक्त होता था। हिन्दी में इसके लिए ग्रामगीत, नृत्यगीत, आख्यानगीत, आख्यानकगीत, वीरगाथा, वीरगीत, वीरकाव्य आदि अनेक शब्दों का प्रयोग विभिन्न विद्वानों ने किया है।

डा० शम्भूनाथसिंह ने लोकगाथा को ग्रामगीत (लोकगीत) का एक प्रकार स्वीकर करते हुए लिखा है—"लोकगाथा में कोई कथा अवश्य होती है। पर सभी लोकगीतों और ग्रामगीतों के लिए कथातत्व आवश्यक नहीं। आख्यानगीत या आख्यानक गीत भी बैलेड का सही अनुवाद नहीं हैं, क्योंकि इससे बैलेड के लोककाव्य होने की व्यंजना नहीं होती है। आख्यानक गीत साहित्यिक भी होते हैं, पर उन्हें वास्तविक लोकगाथा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे लोकगाथा की तरह मौखिक परम्परा में विकसित और लोकप्रचलित या लोकोद्भूत नहीं होते। वीरगीत से वीरताव्यंजक गीतिकाव्य का बोध होता है, पर लोकगाथा गीतिकाव्य के अन्तर्गत नहीं, आख्यानक काव्य या प्रबन्धकाव्य के अन्तर्गत आता है। वीरगाथा शब्द भी भ्रामक है क्योंकि सभी लोकगाथाएँ वीरतापरक ही नहीं होती, उनमें कुछ का वर्ण्य-विषय प्रेम और शृंगार और कुछ का धर्म भी होता है। इसके अतिरिक्त वीरगाथा और वीरकाव्य शब्दों से उस लोकतत्व का बोध नहीं होता, जो लोकगाथा का अनिवार्य अंग है। अतः बैलेड शब्द का सबसे उपयुक्त हिन्दी रूपान्तर लोकगाथा ही है।"[1]

अंग्रेजी में लोकगाथा के लिये 'बैलेड' शब्द का प्रयोग मिलता है। यह शब्द लैटिन भाषा के 'बैलारे' (Ballare) धातु से निर्मित हुआ है[2] जिसका अर्थ 'नाचना' है। राबर्ट ग्रेव्स ने लिखा है कि 'बैलेड' का सम्बन्ध 'बैले' से है जिसमें संगीत और नृत्य की प्रधानता रहती है।[3] पहले बैलेड के साथ सामूहिक नृत्य भी होता था। कालांतर में नृत्य वाला अंश गौण हो गया। अब केवल कथात्मक गीतों के लिए ही बैलेड कहा जाने लगा। वास्तव में बैलेड का मूल अभिप्राय उस प्रबंधात्मक गीत से था जो नृत्य के साथ गाया जाता था। बाद में चलकर नृत्य वाला अंश लुप्त हो गया।

अन्य पाश्चात्य देशों में भी ऊपर वाले अर्थ को लेकर वहाँ की ही भाषा में उसका नामकरण कर दिया गया। फ्रांस में बैलेड नाम ही प्रयुक्त होता है। जर्मनी में

---

१. हिन्दी साहित्य कोश भाग (१)—सं० धीरेन्द्र वर्मा—पृ० ७४८।
२. Old Ballads—Frank Sidgwick—Page 1.
३. The English Ballads—Introduction.

इसे 'व्होक स्लाइडर' कहा जाता है। बैलेड नाम भी वहाँ प्रचलित है। डेनमार्क में बैलेड को 'फोके बाइजर' तथा स्पेन में 'रोमेनकेरो' कहा जाता है।

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि बैलेड और लोकगाथा समानार्थी हैं और बैलेड के लिए लोकगाथा से उपयुक्त कोई दूसरा शब्द नहीं है।

परिभाषा—

विभिन्न विद्वानों ने 'लोकगाथा' की अपने-अपने ढंग से परिभाषा दी है। कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

१. "A ballad is a song that tells a story. or, to take the other point of view—a story told in song."[1]

—Prof. G. L. Kittredge.

(बैलेड वह गीत है जिसमें कथा हो अथवा दूसरी दृष्टि से विचार करने पर बैलेड वह कथा है जो गीतों में कही गई हो।)

२. "Simple narrative songs that belong to the people and or handed on by word of mouth"[2] —Frank Sidgwick.

(वह सरल वर्णनात्मक गीत जो लोकमात्र की सम्पत्ति होती है और जिसका प्रसार मौखिक रूप से होता है।)

अपनी दूसरी पुस्तक 'The Ballads' में सिजविक ने बैलेड की परिभाषा प्रस्तुत करने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा है[3]—

"The difficulty is to define ballad, for it has some of the qualities of an abstract thing. It is essentially fluid nor rigid no static."

(बैलेड अमूर्त पदार्थ के गुणों से युक्त है। यह कोई ठोस या स्थाई वस्तु नहीं बल्कि इसका स्वरूप रसात्मक होने के कारण द्रवरूप है।)

३. हैजलिट ने बैलेड की परिभाषा बतलाते हुए इसे गीतात्मक कथानक (it is a lyrical narrative) कहा है।

४. "A simple spirited poem in short stanzas in which some popular story is graphically told"[4] —Dr. Murray.

---

१. English and Scottish Popular Ballads—Edited by F. J. Child (Introduction) Page 11.

२. Old Ballads—Introduction—Page 3.

३. The Ballad—Page 8.

४. The English Ballad-Introduction-(Edited-Robert Graves) P. 8.

(बैलेड छोटे पदों में रचित एक ऐसी स्फूर्तिदायक सरल कविता है जिसमें कोई लोकप्रिय कथा अत्यन्त ही सजीव रीति से कही गई हो।)

५. "A poem meant for singing, quiet impersonal in material probably connected in its origin with the communal dance, but submitted to a process of oral tradition among people who are free from literary influences and fairly monogenous in character."[1] —F. B. Gummere

(बैलेड गाने के लिए रचित ऐसी कविता है जो सामग्री की दृष्टि से नितान्त व्यक्ति-शून्य और संभवतः उत्पत्ति की दृष्टि से समूह नृत्यों से संबद्ध हो किन्तु उसमें मौखिक परम्परा प्रधान हो गई हो।)

६. "A form of narrative folk song"[2] —Mac Edward Leach.

(बैलेड प्रबन्धात्मक या आख्यानात्मक लोकगीत का एक प्रकार है।)

७. "The name given to a style of verse of unknown authorship dealing with episode or simple motive rather than sustained theme written in a stanzoic form more or less fixed and suitable for the oral transmission and treatment showing little or nothing of fineness of deliberate art"

- Encyclopeadia Britanica (Ballad—page 993.)

(बैलेड ऐसी पद्यशैली का नाम है जिसका रचयिता अज्ञात हो, जिसमें साधारण आख्यान हो और जो सरल मौखिक परम्परा के लिए उपयुक्त तथा ललित कला की सूक्ष्मताओं से रहित हो।)

८. "A ballad is a simple narrative lyric, a song of known or unknown origin that tells a story."

—Encyclopeadia Americana (Vol. III-Ballad—Page 94)

(बैलेड एक साधारण कथात्मक गीत है जिसकी उत्पत्ति संदिग्ध है।)

बैलेड को रूसीभाषा में 'बिलीना', स्पेनिश में 'रोमांस', डेनिश में 'वाइज', यूक्रेन में 'डुमी' तथा सर्वियन में 'पेस्मी' कहते हैं।

उपर्युक्त पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि विद्वानों ने एक ही तथ्य को अपनी-अपनी भाषा में अलग-अलग ढंग से कहा है।

---

१. Cambridge History of English Literature—Ballads Vol. II.

२. Dictionary of Folk-Lore—Vol. I—page 106.

१. प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान डब्ल्यू० पी० केर के मतानुसार बैलेड वह कथात्मक गेय काव्य है, जो या तो लोककण्ठ में ही उत्पन्न और विकसित होता है या लोकगाथा के सामान्य रूप-विधान को लेकर किसी विशेष कवि द्वारा रचा जाता है जिसमें गीतात्मकता (लिरिकल क्वालिटी) और कथात्मकता, दोनों होती हैं, और जिसका प्रचार जनसाधारण में मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में होता रहता है।[1]

अतः हम कह सकते हैं कि लोकगाथा किसी अज्ञात रचयिता द्वारा रचित सम्पूर्ण समाज की ऐसी धरोहर है जिसमें गेयता के साथ-साथ कथात्मकता का भी निर्वाह होता है। इसका प्रसार या प्रचार मौखिक रूप में जनसाधारण से होता है।

लोकगाथा और लोकगीत—

डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने लोकगाथा और लोकगीतों में प्रधानतया दो प्रकार का भेद स्वीकार किया है : (१) स्वरूपगत भेद, (२) विषयगत भेद।[2] स्वरूपगत भेद के अनुसार लोकगीत आकार में छोटा होता है परन्तु लोकगाथा का आकार अधिक विस्तृत होता है। जैसे झूमर या सोहर आठ या दस पंक्तियों का लोकगीत है परन्तु लोकगाथा का विस्तार हजारों पंक्तियों तक हो सकता है। आल्हा, ढोलामारू रा दूहा, राजा रसालू, विजयमल आदि लोकगाथाएँ हजारों पंक्तियों के गीत हैं जिन्हें लोकगायक कई दिनों तक गाते हैं।

दूसरा भेद विषयगत है। लोकगीतों में विभिन्न संस्कार, ऋतुओं, पर्वों आदि पर गाए जाने वाले गीत सम्मिलित किए जाते हैं। इन गीतों में गृहस्थ जीवन का सम्पूर्ण वर्णन मिलता है। कहीं दुख है तो कहीं सुख। जीवन की विभिन्न अनुभूतियों का साक्षात्कार मनुष्य करता है। इन्हीं अनुभूतियों की झाँकी लोकगीतों में मिलती है। परन्तु लोकगाथाओं का विषय तो दूसरा ही होता है। "इसमें संदेह नहीं कि इन गाथाओं में भी प्रेम का पुट गहरा रहता है लेकिन यह प्रेम जीवन संग्राम में अनेक संघर्षों का सामना करता हुआ अन्त में सफलीभूत होता हुआ दिखलाया गया है। इन लोकगाथाओं में युद्ध, वीरता, साहस, रहस्य और रोमांच का पुट अधिक पाया जाता है।"[3]

लोकगाथा और गीतकथा—

लोकगाथा और गीतकथा में लोककथा और लोकगीत के तत्त्व सम्मिलित रूप में मिलते हैं। गीतकथा में एक लोककथा अपने पद्यबद्ध रूप में विद्यमान रहती है। यह एक

---

१. फार्म एण्ड स्टाइल इन पोयट्री—पृ० ३।
२. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षोडशभाग)—प्रस्तावना—पृ० ७४।
३. वही—पृ० ७५।

लोकसाहित्य के खंडकाव्य के समान है। लोकगाथा गीतकथा से विस्तृत होता है और उसमें कथा सूत्र एक ही रहता है। अनेक पात्र एवं घटनाओं का संयोजन उसमें रहता है। प्राय: भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की लोकगाथाओं में थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ एक समानता पाई जाती है। प्राय: लोकगाथाएँ लिखित रूप में गद्य ही प्रतीत होती हैं परन्तु कहने के विशेष ढंग से श्रोताओं को वे गीत के समान लगती हैं।

लोकगाथा की उत्पत्ति--

लोकगाथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपनी-अपनी कल्पना एवं अनुमान के आधार पर अनेक मत प्रस्तुत किए हैं। वास्तव में यह विषय अत्यन्त ही जटिल है क्योंकि हमें लोकगाथाओं की लिखित पाण्डुलिपि कहीं नहीं मिलती। प्राय: यह अनुमान का विषय है कि मानव-सभ्यता के विकास के साथ नृत्य, गीत एवं गाथाओं का भी विकास हुआ। लेखन कला का उस युग में विकास न होने के कारण लोक-गाथाओं ने लोकमत की अभिव्यक्ति मौखिक परम्परा द्वारा ही की। यही कारण है कि लूसी पौंड ने इसे लोक-हृदय में रहस्यात्मक रीति से प्रवहमान बताया है।[१] प्रो० गुमर ने भी एक स्थान पर लिखा है कि लोकगाथाएँ "बौद्धिकता से बहिष्कृत[२] मानी जाती हैं। क्योंकि सभ्य साहित्य और मौखिक साहित्य में अन्तर होता है। प्राय: विद्वानों का मत है कि शिक्षित एवं सभ्य लोग मौखिक साहित्य को अनादर की दृष्टि से देखते हैं। यही कारण है कि प्रतिभावान् संस्कृति मौखिक साहित्य को आश्चर्यजनक ढंग से नष्ट कर देती है।"[३]

लोकगाथाओं की उत्पत्ति के विषय में योरूप में दो प्रधान मत हैं—(१) वे विद्वान जो समस्त लोक को लोकगाथाओं का रचयिता मानते हैं। इस मत के प्रवर्तक जैकब ग्रिम हैं। (२) इस मत का प्रतिपादन करने वाले विद्वानों का मत है कि जिस प्रकार किसी कविता का रचयिता एक कवि होता है उसी प्रकार लोकगाथा का रचयिता भी एक ही व्यक्ति होता है। इसके बावजूद ये विद्वान लोकगाथाओं पर सम्पूर्ण समाज के अधिकार को स्वीकार करते हैं। इसमें श्लेगल, किटरेज, विशपपर्सी आदि विद्वान आते हैं।

शंभूनाथसिंह लोकगाथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तीन प्रधान मतों का उल्लेख किया है—[४]

---

१. एन्साइक्लोपीडिया अमेरिकाना—बैलेड—पृ० ९४।
२. ओल्ड इंग्लिश बैलेड्स-भूमिका—पृ० ३९।
३. इंग्लिश एण्ड स्काटिश पोपुलर बैलेड—एफ० जे० चाइल्ड—इन्ट्रोडक्शन—पृ० १२।
४. हिन्दी साहित्यकोश (भाग १)—पृ० ७४९।

(१) लोकनिर्मितिवाद (कम्यूनल ऑथरशिप), (२) व्यक्ति निर्मितिवाद (इन्डीवीजुअल ऑथरशिप) और (३) विकासवाद ! इसमें प्रथम मत के मानने वाले ग्रिम, स्टीनथाल, टेनब्रिन्क आदि हैं। दूसरे मत के मानने वाले श्लेगल, विशप-पर्सी, स्काट, रिस्टन आदि हैं। और तीसरे मत के मानने वाले प्रमुख विद्वान चाइल्ड, एन्ड्रूलेंग, केर आदि हैं। चाइल्ड आदि विद्वानों का विचार है कि लोकगाथाओं की रचना नहीं, उनका विकास हुआ है।

लोकगाथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार छ: प्रमुख मत हैं :—

(१) जे० ग्रिम —लोक निर्मितिवाद
(२) एफ० बी० गूमर—समुदायवाद
(३) स्टेन्थल—जातिवाद
(४) विशपपर्सी—चारणवाद
(५) ए० डब्ल्यू० श्लेगल —व्यक्तिवाद
(६) एफ० जे० चाइल्ड—व्यक्तित्वहीन व्यक्तिवाद

(१) ग्रिम का लोकनिर्मितिवाद—

प्रसिद्ध जर्मन भाषा-विज्ञानी जेकब ग्रिम का यह सिद्धान्त अत्यन्त ही महत्वपूर्ण एव मौलिक है। ग्रिम का मत है कि लोकगाथा का निर्माण आपसे आप होता है। किसी कवि द्वारा ये निर्मित नहीं होते। सामूहिक रूप से जनता के द्वारा ही इनका निर्माण होता है। इनका निष्पादन स्वत: संभूत है।[१] वास्तव में लोकगाथा लोक-जीवन की अभिव्यक्ति है। यह सोचना नितान्त असंगत है कि ये किसी कवि द्वारा निर्मित होते हैं।[२] इसका निर्माण तो समुदाय (Community) द्वारा ही होता है। अत: इस सिद्धान्त को 'कम्यूनल ऑथरशिप' (Communal authorship) का सिद्धांत कहते हैं। इसे 'समुदायवाद' भी कहा जाता है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के हृदय में हर्ष-विषाद, सुख-दु:ख आदि भावनाएँ जाग्रत होती हैं उसी प्रकार किसी विशेष समुदाय के लोगों में भी समष्टि रूप से हर्ष-विषाद की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं और किसी विशेष अवसर—पर्व, त्यौहार आदि—पर इन लोकगाथाओं का निर्माण होता है। ऐसे अवसर पर किसी एक व्यक्ति द्वारा एक कड़ी गाई जाती है। दूसरा इसी में दूसरी कड़ी जोड़ देता है और तीसरा व्यक्ति तीसरी। इस प्रकार एक सामूहिक गीत का निर्माण हो जाता है। इसमें समुदाय के सभी व्यक्तियों का योग रहता। अत: लोक (फोक) ही इन लोकगाथाओं का रचयिता होता है।

---

१. ओल्ड इंगलिश बैलेड्स—इन्ट्रोडक्शन—गूमर—पृ० ४९-५०।
२. वही—पृ० ५०।

ग्रिम ने अनेक स्थानों पर यह बात लिखी है कि जिस प्रकार इतिहास का निर्माण नहीं किया जा सकता उसी प्रकार महाकाव्य का भी निर्माण नहीं हो सकता। जनता ही इस प्रकार के काव्य का निर्माण करती है। जनता में इस प्रकार के काव्य का प्रचार स्वयमेव हो जाता है।[1] अतः लोकगाथा जनता के द्वारा, जनता के लिए, जनता की कविता है।

आलोचना—ग्रिम के सिद्धान्त की आलोचना भी हुई। उसके इस 'लोक-निर्मितिवाद' को कुछ विद्वानों ने हास्यास्पद कहा।[2] इन विद्वानों का प्रमुख तर्क यह है कि लोकगाथा की रचना के लिए जब समूह एकत्रित हुआ तब इस प्रथम कड़ी को गाने वाला कौन था? इस प्रथम भावना का उदय किस प्रकार हुआ? ग्रिम के पास इसका कोई उत्तर नही था। अतः यह कहना कि लोकगाथा की उत्पत्ति समुदाय द्वारा हुई असंगत है।

(२) गूमर का समुदायवाद—

गूमर का सिद्धान्त ग्रिम के सिद्धान्त के अन्तर्गत ही आ जाता है। जहाँ ग्रिम ने लोकगाथाओं की उत्पत्ति पर व्यापक दृष्टि से विचार किया वहाँ गूमर ने संकुचित रूप से ग्रिम के सिद्धान्त को स्वीकारा। वास्तव में गूमर को भी 'लोक' शब्द अधिक व्यापक प्रतीत हुआ। परन्तु ग्रिम ही वह प्रथम विद्वान था जिसने 'लोक' के महत्व को स्वीकार किया। गूमर ने 'लोक' से संकुचित होकर एक विशिष्ट समुदाय को महत्व दिया। उसने अपनी कटु आलोचना से बचने के लिए व्यक्ति के महत्व को एक सीमा तक ही स्वीकार किया। उसका तर्क है कि समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति ने लोकगाथा की रचना में सहयोग दिया है। अतः लोकगाथा व्यक्ति की सम्पत्ति न होकर समुदाय की सम्पत्ति है। वास्तव में सामुदायिक स्वार्थ की प्रेरणा के वशीभूत होकर समुदाय के लोगों ने लोकगाथाओं की रचना की। अतः प्रत्येक व्यक्ति का इसमें सहयोग रहा। जिस प्रकार भारत में वर्षागम पर उन्मत्त रसिक समुदाय कजली गाने के लिए एकत्रित होता तो एक व्यक्ति एक कड़ी कहता तो दूसरा उसमें दूसरी कड़ी जोड़ देता है और इस प्रकार यह क्रम रात-रात भर चलता है। इस प्रकार कजली गीतों का निर्माण हो जाता है।

(३) स्टेन्थल का जातिवाद—

स्टेन्थल का यह सिद्धान्त ग्रिम के लोकनिर्मितिवाद या समुदायवाद से काफी समानता रखता है। स्टेन्थल अपने सिद्धान्त में ग्रिम और गूमर से भी एक पग आगे

---

१. ओल्ड इंगलिश बैलेड्स—इन्ट्रोडक्शन—गूमर—पृ० ४१।

२. इंगलिश एन्ड स्काटिश पापुलर बैलेड—इन्ट्रोडक्शन—जी० एल० कीटरेज—पृ० १८।

बढ़ गए हैं। ग्रिम के मतानुसार लोकगाथाओं का निर्माण कुछ व्यक्तियों के समुदाय के द्वारा हुआ। परन्तु स्टेन्थल के अनुसार किसी देश की समस्त जाति (Race) ही लोकगाथाओं की रचना करती है। (A whole race can make poems).[१] इनके मत से व्यक्ति सभ्यता तथा युग-युग के विकास की परिणति है। परन्तु आदिम जातियों में व्यक्ति के स्थान पर समष्टि की प्रधानता पाई जाती है। असभ्य जातियों में भावना, एषणा और मूल प्रवृतियाँ एक समान ही उपलब्ध होती हैं। जिस वस्तु का अनुभव कोई एक व्यक्ति करता है समष्टि भी उसी का अनुभव करती है। इस परिस्थिति में सामान्य सृजनात्मक भावना के द्वारा भाषा और कविता का निर्माण होता है। अत: लोकगाथा किसी व्यक्ति विशेष की रचना न होकर सम्पूर्ण जाति की सम्पत्ति है। (A common creative sentiment throws out the word and makes language,—throws out the song and makes poetry. No one owns a word, a law, a story, a custom. No one owns a song)[२]

लोक (फोक) का निर्माण समान वंश या समान भाषा पर ही आधारित नहीं है अपितु एकता और जातीयता की भावना सर्वप्रथम भाषा में ही प्रकट होती है। इसके बाद कथाओं, उसके बाद धार्मिक रीति-रिवाजों में तथा काव्य-कला एवं सामाजिक रीतिरिवाजों में प्रकाशित होती है। विकसित संस्कृति तथा सभ्यता की एक निश्चित इकाई व्यक्ति है परन्तु प्रारम्भ में व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं था, समस्त जाति ही प्रधान थी।[3]

छोटे-छोटे द्वीप या देश में अनेक ऐसी असभ्य तथा अर्द्ध सभ्य जातियाँ हैं जिनके सम्पूर्ण सदस्य एकत्रित होकर उत्सव मनाकर मनोरंजन करते है। इसी समय वे गीत और गाथाओं की रचना करते हैं। अत: यह सिद्धान्त ऐसे ही छोटे देशों पर लागू होता है विशाल देशों पर नहीं। ग्रिम के सिद्धान्त की भाँति इस मत में भी कुछ सत्य का अंश है फिर भी इसे पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता।

आलोचना—वास्तव में ग्रिम, गूमर तथा स्टेन्थल के मत एक ही श्रेणी में आते हैं। ये एक दूसरे के पूरक हैं। अत: ग्रिम के मत के खण्डन में जो बातें कही गई हैं प्राय: वे ही इस मत पर लागू होती हैं। कुछ विद्वानों के मत में स्टेन्थल का यह कथन—समस्त जाति लोकगाथाओं का निर्माण करती है— उतना ही हास्यास्पद है जितना यह कि सारी जाति शासन करती है। जिस प्रकार शासन कुछ निर्वाचितव्यक्ति करते हैं उसी प्रकार लोकगाथाओं की रचना कुछ विशेष लोककवियों द्वारा होती है।

---

१. ओल्ड इंगलिश बैलड्स—इन्ट्रोडक्शन—गूमर—पृ० ३६।

२. वही—पृ० ३६-३७।

३. वही—पृ० ३६।

(४) बिशपपर्सी का चारणवाद—

बिशपपर्सी का मत है कि लोकगाथाओं की रचना चारण या भाटों द्वारा हुई होगी। (Poetry was cultivated by men of letters)[१] बिशपपर्सी ने अत्यन्त परिश्रम के साथ चारणकाव्य को 'फोलियो मैनुस्क्रिप्ट' में एकत्रित किया जिसके तीन भाग हैं। इसका 'सप्लीमेन्ट' हेल्स तथा फरनिवाल द्वारा लिखा गया है। बिशपपर्सी का कहना है कि ये चारण लोग ढोल-सारंगी बजाकर-गाकर भिक्षा माँगते हैं। साथ ही साथ वे गीतों की रचना करते चले जाते हैं। इन्हीं गीतों को 'मिन्स्ट्रल सांग' कहते हैं। मिन्स्ट्रल चारणों को कहते हैं। वाल्टर स्काट तथा जोसेफ रिट्सन आदि विद्वानों ने इसी सिद्धान्त को मान्य ठहराया। भारत में भी चारण या भाट द्वारा काव्यों की रचना हुई है। वीरगाथाकाल के पृथ्वीराज रासो, आल्हा खंड आदि के रचयिता चन्दबरदाई तथा जगनिक भाट ही थे। परन्तु वे इंग्लैंड के भाटों की तरह बाजे पर गागाकर भिक्षा नहीं माँगते थे।

इस प्रकार अधिकांश वीरगाथाओं का निर्माण चारणों द्वारा ही हुआ है। यह संभव है कि विस्तृत गीतों की रचना साधुसन्तों की प्रतिभा का परिणाम हो परन्तु छोटे-छोटे वर्णनात्मक गीतों की रचना तो चारणों द्वारा ही हुई है।[२]

आलोचना—उन्नीसवीं शताब्दी में आकर इस मत की बड़ी कटु एवं तीव्र आलोचना हुई। चाइल्ड ने ग्रामीण साधारण जनता से लोकगाथाएँ एकत्र की और अपने व्यक्तिगत अनुभव प्रस्तुत करते हुए इस मत का विरोध किया।[३] किटरेज ने लोकगाथा तथा चारणकाव्य को अलग-अलग वस्तु माना है। लोकगाथा अत्यन्त ही प्राचीन है और चारण काव्य मध्ययुगीन साहित्य है। चारणकाव्य और लोकगाथा में किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। यह संभव है कि लोकगाथाओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने का श्रेय चारणों को है। भारतवर्ष की लोकगाथाओं और वीरकाव्यों या चारणकाव्यों में किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं।

अतः चारणकाव्य और लोकगाथा की इस विभिन्नता को देखते हुए भी यह कहना नितान्त अनुचित है कि उनमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं। चारणों ने लोकगाथाओं से अनेक सत्य ग्रहण किए हैं। उन्होंने लोकगाथाओं से अनेक सामग्री ली है अतः उनमें एक प्रकार का सम्बन्ध है।

(५) श्लेगल का व्यक्तिवाद—

ए०डब्ल्यू० श्लेगल का व्यक्तिवाद अत्यन्त यथार्थवादी सिद्धान्त है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही इस जर्मन विद्वान ने ग्रिम के सिद्धान्त को अति आदर्शवादी

---

१. रेलिक्स आव एन्शियन्ट इंगलिश पोयट्री—बिशपपर्सी—पृ० २४।

२. वही—पृ० २४।

३. इंगलिश एण्ड स्काटिश पापुलर बैलेड्स—इन्ट्रोडक्शन—एफ०जे० चाइल्ड—पृ० २३।

और काल्पनिक बताया। श्लेगल के मतानुसार किसी काव्य का रचयिता कोई न कोई अवश्य होगा उसी प्रकार लोकगाथाओं का रचयिता भी कोई न कोई व्यक्ति अवश्य होता है।[१] जिस प्रकार किसी कलाकृति का निर्माता कोई न कोई कलाकार होता है, किसी कविता का रचयिता कोई न कोई अवश्य होता है; किसी विशाल अट्टालिका के निर्माण के मूल में किसी एक कलाकार या कारीगर का मस्तिष्क रहता है; पत्थर पर तराशी मूर्तियाँ किसी एक मूर्तिकार का ही सपना होती हैं; किसी विशिष्ट आकर्षक चित्र के पीछे भी किसी एक चित्रकार की तूलिका होती है उसी प्रकार लोक-गाथाओं की रचना के मूल में भी किसी एक व्यक्ति की उद्भावना रहती है।[२] लोक-कविता के सम्बन्ध में भी यही बात समझनी चाहिए। लोकगाथा की सृष्टि में अनेक लोककवियों का हाथ अवश्य होता है, परन्तु वह किसी विशिष्ट कवि की ही रचना होती है। समस्त काव्य प्रकृति और कला के ऊपर आश्रित होता है। अति प्राचीन प्रारम्भिक कविता का भी कोई उद्देश्य होता है, उसमें भी एक योजना होती है। अतः उसका सम्बन्ध किसी विशिष्ट कलाकार से ही होता है। (All poetry rests upon a union of nature and art; even the earliest poetry has a purpose and a plan, and therefore belongs to an artist.)[3]

वास्तव में श्लेगल का व्यक्तिवाद विसपर्सी के 'चरणवाद' का पूरक है। लोकगाथाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उनका यह मत अधिक मान्य है।

(६) प्रो० चाइल्ड का व्यक्तित्वहीन व्यक्तिवाद

प्रो० चाइल्ड लोक-साहित्य के प्रसिद्ध आचार्य हैं। इन्होंने बड़े परिश्रम से 'इंग्लिश एण्ड स्कॉटिश पापुलर बैलेड्स' नामक एक ग्रन्थ लिखा है जो इनकी अमर कृति है। इस प्रसिद्ध कृति में उन्होंने अपना यह मत 'व्यक्तित्वहीन व्यक्तिवाद' लोकगाथाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि लोकगाथाओं में उसके रचयिता के व्यक्तित्व का सर्वथा अभाव रहता है। उसकी रचना में उसकी वाणी मिलती अवश्य है परन्तु उसका व्यक्ति उसमें नहीं रहता। वह तो एक वाणी है व्यक्ति नहीं।[४] तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी काव्य का कोई लेखक अवश्य होता है उसी प्रकार इन लोकगाथाओं की रचना भी किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा होती है परन्तु उनमें उसके व्यक्तित्व का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। इसकी रचना व्यक्ति-विशेष द्वारा होती तो है परन्तु वह अनेक भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के द्वारा गाए जाने के कारण इन गाथाओं में इतना परिवर्तन एवं परिवर्द्धन हो जाता है कि गाथाओं के

---

१. ओल्ड इंग्लिश बैलड्स—गूमर—इन्ट्रोडक्शन—पृ० ५३।
२. एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका—बैलड्स—पृ० ६१४।
३. ओल्ड इंग्लिश बैलड्स—गूमर—इन्ट्रोडक्शन—पृ० ५४।
४. इंग्लिश एण्ड स्काटिश पापुलर बैलेड्स—इन्ट्रोडक्शन—पृ० २४।

मूल रचयिता का व्यक्तित्व ही समाप्त या तिरोहित हो जाता है। इस प्रकार ये गाथाएँ व्यक्ति विशेष की न होकर जन-सामान्य की धरोहर हो जाती हैं। यह परिवर्तन और परिवर्द्धन मौखिक परम्परा के कारण ही होता है। यह परिवर्तन इतना होता है कि प्रथम रचना का रंग-रूप तक आमूल-चूल परिवर्तित हो जाता है। नए अंशों के आगमन से प्राचीन अंशों का पूर्ण लोप तक हो जाता है। इतना होने पर भी हम यह नहीं कह सकते कि यह रचना सम्पूर्ण समुदाय या समाज की है। यही कारण है कि चाइल्ड के इस मत को 'व्यक्तित्वहीन व्यक्तिवाद' कहा जाता है।

प्रो० चाइल्ड का यह मत श्लेगल के सिद्धान्त से मिलता है। अन्तर इतना ही है कि चाइल्ड रचयिता के व्यक्तित्व को किसी प्रकार का महत्व नहीं देते। प्रो० चाइल्ड के मत का समर्थन इनकी पुस्तक के भूमिका लेखक श्री जी० एल० किटरेज ने भी किया है। प्रो० स्टीनस्ट्रुप (डेनमार्क के लोकसाहित्याचार्य) ने भी इसी प्रकार का मत प्रस्तुत किया है। उन्होंने भी लोकगाथाओं के निर्माण में किसी कवि के व्यक्तित्व का खन्डन किया है।

यह बड़े आश्चर्य का विषय है कि भारतीय लोकसाहित्य के विद्वानों का ध्यान अभी तक लोकसाहित्य की उत्पत्ति की ओर नहीं गया। भारतीय विद्वानों ने इतना अवश्य कहा है कि महाकाव्यों का निर्माण लोकगाथाओं या लोकप्रचलित कथाओं के आधार पर हुआ है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने इस पर कुछ विचार अवश्य किया परन्तु वे भी किसी एक निश्चित मत को देने से असमर्थ रहे। उनके मतानुसार 'गीत-द्रष्टा स्त्री-पुरुष दोनों हैं, परन्तु ये स्त्री-पुरुष ऐसे हैं जो कागज और कलम का उपयोग नहीं जानते। यह संभव है कि एक गीत की रचना में बीसों वर्ष और सैकड़ों मस्तिष्क लगे हों।"[1] त्रिपाठी जी के इस मत पर ग्रिम के लोकनिर्मितिवाद का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने भी लोकगाथाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार किया है। उनका सिद्धान्त 'समन्वयवाद' का सिद्धान्त है। उपर्युक्त जिन छः सिद्धान्तों की चर्चा की गई है उन सभी में से सत्य का अंश निकाल कर उपाध्याय जी ने अपना समन्वयवादी सिद्धान्त बनाया है। उनके इस सिद्धान्त में मौलिकता कहीं नहीं है। है तो बस इतनी ही कि उन्होंने सभी मतों का समन्वय कर दिया। उन्होंने लिखा है कि लोकगाथाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उपर्युक्त प्रचलित सिद्धान्त कारणभूत हैं। इन सबका सहयोग इन गाथाओं के निर्माण में हुआ है।[2] लोकगाथा की उत्पत्ति के

---

१. ग्रामगीत—पृ० २१।

२. विस्तार के लिए देखिए—लोकसाहित्य की भूमिका—डा० कृ० दे० उपाध्याय—पृ० ११३-११४।

सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—"हमारी धारणा सर्वदेशीय लोकगीतों अथवा गाथाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह है कि प्रत्येक गीत या गाथा का रचयिता कोई न कोई व्यक्ति अवश्य है साथ ही कुछ गीत या गाथा जन-समुदाय (फोक) का भी प्रयास हो सकता है। लोकगाथा की परम्परा सदा से मौखिक रही है। अतः यह बहुत संभव है कि गाथाओं के रचयिताओं का नाम लुप्त हो गया हो।"[1] आगे उन्होंने लिखा है—"एक लेखक का होने पर भी मौखिक परम्परा के कारण भिन्न-भिन्न गवैयों ने इन गाथाओं में इतना अधिक अंश जोड़ दिया है कि वे अब एक लेखक की कृति न होकर पूरे समाज की सम्पत्ति बन गए हैं।"[2]

वास्तव में हमारे विचार से लोकगाथाएँ ऐसी व्यक्तिगत रचनाएँ हैं जो परम्परा के कारण सम्पूर्ण समाज की सम्पत्ति बन गई हैं और जिनमें व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण अभाव है। लोकगाथाएँ लोक (फोक) की सम्पत्ति है। इसमें कुछ व्यक्तियों ने अपनी भी रचनाएँ जोड़ी हैं। प्रायः लोगों ने लोकगाथाओं का अनुकरण ही किया है। ऐसे व्यक्तियों को कीटरेज ने 'गाइललेस कलेक्टर्स' कहा है।[3] इस पर भी लोकगाथा ने अपने सहज स्वभाव को नष्ट नहीं होने दिया। अतः लोकगाथा की उत्पत्ति किसी एक व्यक्ति के प्रयास से हुई है। वह व्यक्ति चिरन्तन व्यक्ति है। उसने अपने व्यक्तित्व को समष्टि में विलीन कर दिया है। लोकगाथा एक सामाजिक संस्था है, जिसकी अन्तरात्मा में व्यक्ति बैठा हुआ है। उस व्यक्ति की अवहेलना हम कदापि नहीं कर सकते।[4]

लोकगाथा की विशेषताएँ—

लोकगाथाओं की विशेषता के सम्बन्ध में प्रायः सभी भारतीय तथा विदेशी-विद्वान एकमत हैं। क्योंकि विश्वभर की सभी लोकगाथाओं की विशेषताएँ समान हैं। यही विशेषताएँ लोकगाथाओं को अलंकृत-काव्य से पृथक् करती हैं। इन्हीं विशेषताओं के आधार पर हम निस्संकोच कह सकते हैं कि अमुक गीत लोकगाथा है अलंकृत काव्य नहीं। राबर्ट ग्रेव्स ने लोकगाथाओं की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई हैं।[5] डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने भी इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख किया है:—[6]

---

१. भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन—डा० कृ० दे० उपाध्याय—पृ० ३६२।
२. वही—पृ० ३६२।
३. इंगलिश एन्ड स्कॉटिश पोपुलर बैलेड्स—इन्ट्रोडक्शन—चाइल्ड—पृ० २८।
४. भोजपुरी लोकगाथा—डा० सत्यव्रत सिन्हा—पृ० १५।
५. द इंगलिश बैलेड—ए शार्ट क्रिटिकल सर्वे—(इन्ट्रोडक्शन) सं० राबर्ट ग्रेव्स—पृ० ७-३६।
६. लोकसाहित्य की भूमिका—पृ० ८१-१०४।

(१) अज्ञात रचनाकार
(२) प्रामाणिक मूलपाठ की कमी
(३) संगीत तथा नृत्य का साहचर्य एवं सहयोग
(४) स्थानीयता की गंध
(५) मौखिक परम्परा
(६) अलंकृत शैली का अभाव
(७) उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव
(८) रचनाकार के व्यक्तित्व का अभाव
(९) दीर्घ-कथानक की विद्यमानता
(१०) टेक पदों की पुनरावृत्ति
(११) इतिहास की संदिग्धता

(१) अज्ञात रचनाकार—

लोकगाथाओं का रचनाकार कौन है? व्यक्ति या समूह? इस सम्बन्ध में पर्याप्त चर्चा हो चुकी है। उस चर्चा से निष्कर्ष यह निकला था कि लोकगाथाओं का रचनाकार अज्ञात होता है। आज तक लोकगाथाओं के रचनाकार के विषय में किसी प्रकार का उल्लेख हमें नहीं मिलता। उत्तरी भारत में अनेक प्रसिद्ध लोकगाथाएँ हैं, यथा आल्हा, ढोला-मारू, हीर-राँभा, विजयमल, सोरठी, लोरिकी, बिहुला, गोपीचन्द, भरथरी, नयकवा बनजारा आदि। परन्तु इनके रचनाकार के विषय में अभी तक प्रश्न चिन्ह लगा हुआ है। वस्तुतः रचनाकार का अज्ञात होना एक स्वाभाविक तथ्य है। यह भी पता लगाना कठिन हो जाता है कि अमुक लोकगाथा की रचना किस काल में हुई। राबर्ट ग्रेव्स के मतानुसार "आज के युग में किसी भी रचनाकार के अज्ञात होने का तात्पर्य स्पष्ट है कि वह रचनाकार अपनी रचना को हेय समझता है। यही कारण है कि वह उसे समाज में प्रकट करने में सकुचाता है। परन्तु आदिम समाज में लोकगाथाओं के रचयिता अपनी लापरवाही के कारण अन्धकार के गर्त्त में दबे रह गए।"[१]

लोकगाथाएँ मूलतः समाज के क्रमिक विकास की द्योतक हैं। तत्कालीन सामाजिक वातावरण इन लोकगाथाओं में खुलकर अभिव्यक्त हुआ है। अतः इनसे समाज की अवस्था का तो अनुमान कर लिया जाता है परन्तु किसी व्यक्ति के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने भी लिखा है कि लोकगीतों के रचनाकार अज्ञात स्त्री तथा पुरुष हैं।[२]

---

१. द इंगलिश बैलेड—(इन्ट्रोडक्शन)—पृ० १२।
२. ग्रामगीत—पृ० २१।

वैसे लोकगाथाओं का अन्य कविताओं की भाँति रचनाकार तो अवश्य होगा जिसने अपने कबीले के लोगों के साथ मस्त होकर गीत गाया होगा। परन्तु उसने लेखक होने का दावा नहीं किया। गाथा को ही विशेष महत्व दिया। एक व्यक्ति के गीत में आगे चलकर न जाने कितनी कड़ियाँ जुड़ जाती हैं यह किसी को ध्यान नहीं रहता। नृशास्त्री तथा पुरातत्ववेत्ता भी इस सम्बन्ध में मौन हैं। अतः किसने इनका निर्माण किया, यह निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता। वास्तव में "लोकगाथाओं के अज्ञात प्रणेताओं ने एक गंगा बहा दी जिसमें समाज की आकांक्षाएँ गुण-अवगुण, उपधाराओं के समान अन्तर्निहित होते गए और क्रमशः लोकगाथा की व्यापकता में समाज की आत्मा मुखरित होती गई।"[१]

अतः यह स्पष्ट है कि लोकगाथा का रचनाकार अज्ञात होता है।

२ प्रामाणिक मूलपाठ की कमी—

जिस प्रकार से लोकगाथाओं के मूल रचनाकार का पता लगाना कठिन है उसी प्रकार लोकगाथाओं के मूलपाठ का पता लगाना भी अत्यन्त कठिन है। क्योंकि गाथा किसी समुदाय की सम्मिलित रचना होती है उसका कोई एक रचनाकार नहीं होता। इसलिए उसका कोई मूल प्रामाणिक पाठ भी नहीं होता। रचनाकार का ही जब पता नहीं तब उसके मूल पाठ की प्रामाणिकता का पता लगाना तो अत्यन्त ही कठिन है।

लोकगाथा समाज की रचना है वह समाज की सम्पत्ति है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति उसे अपना समझता है। अपनी इच्छानुसार वह उनमें अपनी नई कड़ियाँ जोड़ देता है। इतना ही नहीं विभिन्न प्रांत में प्रचलित होने के कारण उसमें अनेक भाषाओं के शब्दों का निःसंकोच प्रवेश हो जाता है। इस प्रकार उसकी आकार-वृद्धि के साथ-साथ उसकी भाषा में भी परिवर्तन हो जाता है। अतः लोकगाथाओं में लोककवि द्वारा समय-समय पर परिवर्तन तथा परिवर्द्धन किया जाता रहा है। यह भी संभव है जैसे-जैसे यह नए-नए लोककवियों के पास जाता है वैसे-वैसे इसमें पुराने पद निकलते चले जाते हैं और नए-नए जुड़ जाते हैं। विभिन्न लोककण्ठों से निसृत होने के कारण लय और संगीत में भी अन्तर आजाता है। टेक पद बदल जाते हैं। गाने की धुन भी बदल जाती है। यहाँ तक कि पात्र तथा पात्र के चरित्र भी बदल जाते हैं। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता है वैसे-वैसे लोकगाथाओं की भाषा में परिवर्तन होता जाता है। यह परिवर्तन इतना अधिक हो जाता है कि उस मूल गाथा

---

१. भोजपुरी लोकगाथा—डा० सत्यव्रत सिन्हा—पृ० २६-२७।

का मूल रचनाकार भी उसे सुनले तो वह स्वयं अपनी रचना को नहीं पहचान सकेगा।[1]

यह बड़े आश्चर्य का विषय है कि आज के युग में प्रामाणिक मूलपाठ की कमी को भयंकर दोष माना जाता है जब कि यह लोकगाथाओं का आवश्यक गुण बन गया है। लोकगाथा की यह मौखिक परम्परा एक नदी के समान सदियों से बहती चली आ रही है। न जाने कितने नदी-नालों ने आकर इसके आकार को इतना विस्तृत कर दिया है कि इसके मूल स्वरूप को पहचानना कठिन हो गया है। अतः किसी भी लोकगाथा का निश्चित और अन्तिम स्वरूप नहीं प्राप्त होता। इसके अनेक पाठ होते हैं। परन्तु किसी एक पाठ का मूल्य दूसरे पाठ से किसी भी प्रकार कम नहीं। प्रो० चाइल्ड ने कई लोकगाथाओं का सम्पादन किया है। कई लोकगाथाओं के एक से लेकर इक्कीस पाठ तक मिले हैं। परन्तु किसी एक का महत्त्व दूसरे से किसी प्रकार भी कम नहीं। इसी प्रकार पं० रामनरेश त्रिपाठी ने भी "भगवतीदेवी" शीर्षक लोकगाथा के तीन-चार पाठ संकलित किए हैं उनमें कौन-सा पाठ मूल और शुद्ध है यह कहना अत्यन्त ही कठिन है।

रावर्ट ग्रेव्स ने स्पष्ट लिखा है कि लोकगाथा का मूल तथा शुद्ध पाठ नहीं होता। गायक अपनी इच्छानुसार उसमें परिवर्तन करता रहता है। अतः किसी एक पाठ को शुद्ध नहीं माना जा सकता।[2]

आल्हा के विषय मे कहा जाता है कि उसका मूल लेखक जगनिक था। जगनिक ने बुन्देलखंडी बोली में इसकी रचना की। इस रचना में आल्हा और ऊदल के पराक्रम एवं शौर्य का वर्णन था। आकार भी इसका पहले बहुत छोटा रहा होगा। इसकी अब कोई हस्तलिखित मूल प्रति तो नहीं मिलती। परन्तु आज जिस रूप में यह रचना हमें मिलती है, उसका आकार पहले से कई गुना अधिक है। न जाने कितनी घटनाएँ इसमें पीछे से जोड़ दी गई है। हो सकता है कि इन घटनाओं का वर्णन मूल 'आल्हा खंड' में रहा ही न हो। इतना ही नहीं अनेक भाषाओं में इसके पाठ उपलब्ध होते हैं। भोजपुरी और कन्नौजी पाठ तो प्रकाशित भी हो गए हैं।

'बिहुला' का भोजपुरी रूप कुछ और है और मैथिली तथा बंगला रूप कुछ और। 'बिहुला' भोजपुरी लोकगाथा में एक ब्राह्मण पुरुष है परन्तु मैथिली तथा बंगला में विषहरी रूप स्त्री तथा देवी है। गोपीचन्द की गाथा के भी कई पाठ मिलते हैं। डा० ग्रियर्सन ने दो पाठों का संकलन (मगही तथा बंगला में) किया है। ढोला-मारू का भी यही हाल है।

---

१. इंग्लिश एण्ड स्कॉटिश पापुलर बैलेड्स - इन्ट्रोडक्शन— एफ० जे० चाइल्ड — (प्रो० किटरेज द्वारा सम्पादित)—पृ० १७।

२. इंग्लिश बैलेड्स—इन्ट्रोडक्शन—पृ० १३।

अतः इस प्रकार की परिवर्तनशीलता के कारण मूल पाठ का मिलना तो अत्यन्त कठिक है। लोकगाथा मौखिक परम्परा होने के कारण जनता की सम्पत्ति है। किटरेज ने सत्य ही कहा है—वास्तविक लोकप्रिय लोकगाथा का कोई रूप नहीं हो सकता है, कोई प्रामाणिक पाठ नहीं हो सकता। (It follows that a genuine popular ballad can have no fixed form, no social authentic version, they are texts but there is no text).[1]

३. संगीत तथा नृत्य का साहचर्य एवं सहयोग—

अंग्रेजी के बैलेड शब्द की उत्पत्ति लैटिन 'बेलारे' से मानी जाती है जिसका अर्थ होता है नृत्य करना। अतः बैलेड का अर्थ है वह गीत जो नाचकर गाया जाता हो। यह 'कोरस' है जिसे जन-समुदाय समवेत स्वर में संगीत के साथ गाता है। राबर्ट ग्रेव्ज ने सही लिखा है कि उत्तेजना-जनक तथा पुनरावृत्तिमूलक संगीत के बिना गाथा अधूरी है। (The ballad is incomplete without an exciting and repetitive music).[2]

संगीत और नृत्य लोकगाथाओं के अनिवार्य अंग हैं। लोकगाथाओं का महत्त्व ही इसीसे है। यही इसकी लोकप्रियता का कारण भी है। लोकगाथाओं की संगीत विधि भी नितान्त भिन्न है। इसे लोकसंगीत (Folk-Music) कहते हैं। इसी संगीत-के माध्यम से लोकगाथाएँ भावपूर्ण एवं सुमधुर बनती हैं। लोकगायक संगीत के माध्यम से ही गाथाओं को मस्ती से झूम-झूम कर गाते हैं। अधिकांश लोकगाथाएँ 'द्रुतगतिलय' में गाई जाती हैं। यूरोप में भी चारण (मिन्स्ट्रल्स) ढोल या सितार बजा-बजाकर इन्हें गाते हैं। बिशपपर्सी का कथन है कि इन मिन्स्ट्रल्स का अनेक सदियों तक एक अलग सम्प्रदाय था जो सम्मानित तथा धनी व्यक्तियों के यहाँ गीतों को गागाकर अपना पेट भरता था।[3] गूमर के मतानुसार कुछ गीत बड़े प्रेम से देर तक गाए जाते थे। यहाँ तक कि मध्यकाल में मृत्यु के अवसर ऐसे नृत्य प्रचलित थे जो धीमी गति से नाचे जाते थे।

गाथाओं का महत्त्व स्वरों के उतार-चढ़ाव पर अधिक निर्भर करता है। भरथरी तथा गोपीचन्द की लोकगाथाओं को—जिनमें करुणापूर्ण संगीत रहता है—गायक स्वरों के माध्यम से ही करुणापूर्ण बना देता है। पंक्ति-पंक्ति के साथ गायक का स्वर परिवर्तित होता रहता है, तभी श्रोताओं को आनन्द भी आता है। वर्षाऋतु में जब आल्हा गाया जाता है तब गायक गले में लटके ढोल को भावावेश में

---

१. इंग्लिश एण्ड स्कॉटिश पापुलर बैलेड्स—इन्ट्रोडक्शन—पृ० १८।

२. द इंग्लिश बैलेड—१७।

३. रेलिक्स ऑव एन्शियन्ट इंग्लिश पोइट्री—(१)—इन्ट्रोडक्शन—पृ० २४।

पीट-पीट कर गाता है और जैसे-जैसे गाने की गति तीव्र होती जाती है—ढोल बजाने में भी उसी के अनुरूप तीव्रता आती जाती है। इस प्रकार गायक संगीत के माध्यम से गाथाओं में जीवन फूँक देता है। अतः किटरेज का यह कथन सत्य है कि गायक एक वाणी है, व्यक्ति नहीं।

गोरखपंथी जोगी सारंगी पर भरथरी और गोपीचन्द की लोक-गाथाएँ गाते हैं। सारंगी जोगियों की वेशभूषा का भी अनिवार्य अंग है। ब्रज तथा भोजपुरी प्रदेश में होली ढोल और झाल बजा-बजाकर मस्ती में गाई जाती है। अतः वाद्य-यन्त्रों का भी लोकगाथाओं में अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। जहाँ वाद्य-यंत्र उपलब्ध नहीं होता वहाँ स्त्रियाँ काठ के कठौते को उलटा करके लाठी के हूरे से उसकी पीठ को रगड़ती हैं। उससे एक विचित्र प्रकार की ध्वनि उत्पन्न होती है। कहीं-कहीं वे ताली बजाकर—विशेषकर झूमर के गीतों में—संगीत के अभाव की पूर्ति करती हैं।[१]

प्राचीन भारतीय लोकगाथाओं में नृत्य का समावेश था। धीरे-धीरे आगे यह क्रिया गौण होती गई। आज नृत्य का रूप प्रायः समाप्त-सा हो गया है। परन्तु लोकगीतों एवं लोकनाट्यों में नृत्य-क्रिया आज भी विद्यमान है। विशेष रूप से लोकनाट्यों-स्वाँग, यात्रा, नाटक और लीलाओं में नृत्य की परम्परा अक्षुण्ण रूप से सुरक्षित है। आधुनिक समय में इन्हीं नृत्यों को लोकनृत्य कहते हैं, जिसकी परिछाया आधुनिक नाट्य-गृहों तथा चल-चित्रों में देखने को मिलती है।[२]

४. स्थानीयता की गंध—

लोकगाथाओं में स्थानीयता की गंध विशेष रूप से पाई जाती है। लोक-गाथाएँ अपने समय और स्थान की गंध लिए रहती है। लोकगाथाएँ किसी भी प्रान्त की क्यों न हो वे अपने सफर के बाद किसी एक विशेष प्रांत में पहुँच कर वहीं की विशेषताएँ धारण कर लेती हैं। लोकगाथाओं में घटनाएँ चाहे कहीं की हों, कहानी चाहे किसी राजा या उमराव की क्यों न हो, उसमें स्थानीयता का गहरा रंग आ ही जाता है। यही कारण है कि किसी विशेष प्रांत की गाथाओं में वहाँ के जन-जीवन का रहन-सहन, आचार-विचार, खान-पान आदि का स्वाभाविक एवं सजीव चित्रण मिलता है। प्रो० किटरेज के अनुसार लोकगाथाएँ किसी घटना के कारण ही निर्मित होती हैं और इसके निर्माण के साथ ही साथ उस विशेष प्रांत के वातावरण और स्थानीयता का भी उसमें समावेश हो जाता है।[३]

---

१. लोकसाहित्य की भूमिका—कृष्णदेव उपाध्याय—पृ० ८७।
२. भोजपुरी लोकगाथा—डा० सत्यव्रत सिन्हा—पृ० ३०।
३. इंगलिश एन्ड स्कॉटिश पापुलर बैलेड्स—इन्ट्रोडक्शन—पृ० १६।

लोक-गाथाओं की यह स्थानीयता कहीं-कहीं ऐतिहासिकता के चित्रण में भी सहायक होती है। लोक-गाथाओं में स्थानीय ऐतिहासिक घटनाओं का भी वर्णन पाया जाता है। भोजपुरी के झूमर में 'हर्रादिया का राजा', बिहार की गाथाओं में 'बाबू कुँवरसिंह' का उल्लेख पाया जाता है। 'लोरिकी' में बिहार के कई नगर एवं गाँवों का वर्णन है। ये गाथाएँ अपने-अपने प्रान्तों से सम्बंधित होने के कारण वहाँ की स्थानीय विशेषताओं को लिए हैं।

सामाजिक शास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से लोकगाथाएँ बहुत महत्त्वपूर्ण होती हैं। इनमें प्रचलित धार्मिक कृत्यों, प्रथाओं या संस्थाओं का भी समावेश हो जाया करता है। सीधे नाथपंथ से सम्बद्ध गोपीचंद और भरथरी की लोकगाथाओं को हम छोड़ भी दें तो हमें 'सोरठी' की लोकगाथा के अन्तर्गत नाथधर्म का उल्लेख मिलता है।[1]

५. मौखिक परम्परा—

लोकगाथाएँ मौखिक परम्परा के रूप में आदिकाल से एक नदी की भाँति बहती चली आरही हैं। हमारा प्राचीन भारतीय साहित्य प्रारंभ में मौखिक ही था। वेदों की परम्परा भी मौखिक ही थी। वेद की शिक्षा शिष्यों को मौखिक रूप में ही दी जाती थी। लोकसाहित्य उसी प्रकार मौखिक परम्परा का ही साहित्य रहा है। समाज के 'मुख' में इसका आवास है। यही कारण है कि इसका लिपिबद्ध रूप नहीं मिलता। अतः मौखिक परम्परा उसकी एक विशेषता बन गई है। लोकगाथा का रूप अक्षुण्ण तथा सुरक्षित तभी तक बना रहता है जब तक कि यह परम्परा मौखिक बनी रहती है। लिपिबद्ध होते ही इसकी गति और विकास में बाधा पड़ जाती है। सिजविक के कथनानुसार यदि किसी गाथा को आपने लिपिबद्ध कर दिया तो यह निश्चित है कि आपने उसकी हत्या करने में योग प्रदान कर दिया। जब तक यह परम्परा मौखिक है तभी तक जीवन्त है अन्यथा नहीं।[2]

यह नितान्त सत्य है कि लिपिबद्ध करने पर लोकगाथाएँ समाज की सम्पत्ति न होकर किसी विशेष वर्ग की सम्पत्ति बनकर रह जातीं। वे एक शब्द बन जातीं जिसमें समाज की आत्मा की प्रतिध्वनि नहीं, वे एक तथ्य बन जातीं जिसमें सामाजिक विकास का प्रतिबिम्ब नहीं।[3] गूमर ने भी लिखा है कि मौखिक परम्परा किसी गाथा की प्रधान उपलब्ध कसौटी है।[4] इस कसौटी के समाप्त होते ही गाथाओं

---

१. भोजपुरी लोकगाथा—डा० सत्यव्रत सिन्हा—पृ० २१।

२. द बैलेड—सिजविक—पृ० ३६।

३. भोजपुरी लोकगाथा—डा० सत्यव्रत सिन्हा—पृ० २६।

४. ओल्ड इंगलिश बैलेड्स—इन्ट्रोडक्शन—पृ० ३६।

को वृद्धि में रुकावट आ जाना स्वाभाविक है। उसके पाठ निश्चित हो जाते हैं और किसी प्रकार के विकास, परिवर्तन और परिवर्द्धन की क्षमता उसमें नहीं रहती। यही कारण है कि आज भी लोक-गाथाओं की लिखित प्रति देखने को नहीं मिलती। कुछ लोक-गाथाएँ इधर प्रकाशित हुई हैं परन्तु वे उतनी अधिक लोकप्रिय नहीं हुई जितनी मौखिक। लिखित गाथाएँ लोक की सम्पत्ति न होकर साहित्य की सम्पत्ति हो जाती हैं। किटरेज का यह मत सत्य है कि लिपिबद्ध लोक-गाथाएँ लोक की सम्पत्ति न होकर साहित्य की सम्पत्ति हो जाती हैं।[१]

भाषा के अध्ययन की दृष्टि से भी जो विविधता मौखिक परम्परा के कारण लोक-गाथाओं में मिलती है वह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। लोक-गाथाओं में देश के विभिन्न भू-भागों पर अक्षुण्ण एकात्मकता और एकजातीयता की एक ऐसी भावना फैली है, जिसमें देश को एक सूत्र में बाँध देने की क्षमता है। इसी कारण भोजपुरी बोलने वालों में आल्हा-ऊदल के प्रति उतनी ही आत्मीयता है जितनी बुन्देलों में।[२]

६. अलंकृत शैली का अभाव—

हडसन ने काव्य को दो भागों में विभक्त किया है:—

(१) अलंकृत काव्य (Poetry of Art)

(२) संवर्द्धित काव्य (Poetry of growth)

अलंकृत काव्य वह कविता है जो किसी एक कवि द्वारा रची जाती है। इसमें रस, अलंकार, गुण आदि की योजना की जाती है। संवर्द्धित काव्य वह काव्य है जिसकी वृद्धि युग-युग में विभिन्न कवियों द्वारा की जाती है। कालिदास का 'रघुवंश' प्रथम का तथा व्यास द्वारा रचित 'महाभारत' द्वितीय का उदाहरण है। अलंकृत काव्य का कवि अपनी कविता को सुन्दरतम बनाने के लिए विभिन्न अलंकार, रस, रीति, छन्द आदि की अवतारणा करता है। यह रचना प्रयासपूर्वक की जाती है। परन्तु लोकगाथाओं में इस प्रकार की 'टेकनीक' को नहीं अपनाया जाता, उसमें इस 'टेकनीक' का अभाव रहता है। लोकगाथाओं में साहित्यशास्त्र के नियमों का भी पालन नहीं किया जाता। उसमें इस प्रकार की अलंकृत शैली का अभाव रहता है। लोकगाथा का सौन्दर्य सहज और स्वाभिक होता है जबकि अलंकृत काव्य का सौंदर्य कृत्रिम होता है। बालसौंदर्य और युवासौंदर्य में जो अन्तर है वही लोकगाथा और अलंकृत काव्य में है। लोकगाथाओं की वर्णन-पद्धति भी ऐसी सरल और सहज होती है जैसी माँ और शिशु का वर्तालाप।[३]

---

१. इंग्लिश एन्ड स्कॉटिश पापुलर बैलेड्स—इन्ट्रोडक्शन—पृ० १२।
२. भोजपुरी लोकगाथा—पृ० ३२।
३. ओल्ड इंग्लिश बैलेड्स—सं० गूमर—पृ० ३१.

पं० रामनरेश त्रिपाठी ने इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"ग्रामगीत और महाकवियों की कविता में अन्तर है। ग्रामगीत हृदय का धन है और महाकाव्य मस्तिष्क का।"[१] ग्रामगीत में रस है, महाकाव्य में अलंकार। रस स्वाभाविक है और अलंकार मनुष्य निर्मित""""ग्रामगीत प्रकृति के उद्गार हैं। इनमें अलंकार नहीं केवल रस है, छन्द नहीं केवल लय है, लालित्य नहीं केवल माधुर्य है।"[२]

लोकगाथा किसी एक कवि की रचना न होकर समाज की सम्पत्ति होती है। समाज की आदिम अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति इनमें हुई है। यह किसी भी शास्त्र के बंधन से मुक्त है। कला की दृष्टि से यह नितान्त अविकसित होती है। राबर्ट ग्रेव्स के कथनानुसार "लोकगाथाएँ कला की दृष्टि से अधिक विकसित नहीं होतीं। लोकगाथाओं की भावधारा काव्यात्मक बनाने के पहले ही काव्यात्मक रहती हैं, कल्पना द्वारा कलात्मक बनाने के पहले ही वह कलात्मक रहती हैं, गाने से पहले ही उसमें संगीतात्मकता रहती है।"[३] ग्रेव्स का यह कथन नितान्त सत्य है। अविकसित कला से ग्रेव्स का तात्पर्य ऐसी कला से है जिसमें छन्द-विधान, अलंकार-विधान आदि का अभाव हो। अत: लोकगाथाओं में अलकृत शैली का अभाव होना उसकी प्रधान विशेषता है।

७. उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव—

जिस प्रकार लोकगाथा में अलंकृत शैली का अभाव रहता है उसी प्रकार उसमें उपदेशात्मक प्रवृत्ति का भी अभाव पाया जाता है। लोकगाथाओं में लोकजीवन का सांगोपांग वर्णन गुण-दोष एवं आकांक्षाओं के साथ होता है। उसमें संस्कृत के 'नीतिशतक' तथा हिन्दी के नीति के दोहों की भाँति नीतिवचन नहीं मिलते। उसमें उपदेश-कथन की प्रवृत्ति न होकर कथानक को गति प्रदान करने वाली प्रवृत्ति पाई जाती है। लोकगाथाएँ कथा का आधार लेकर लोक का प्रतिनिधित्व करती हैं। वे सदाचार या नीति की शिक्षा न देकर गुण और दोषों का ब्यौरेवार वर्णन करती हैं। लोकगाथा अपनी कहानी खुद सुनाती है। उसमें रचनाकार की वैयक्तिक भावना बिल्कुल नहीं रहती। रचनाकार अपने दृष्टिकोण का न तो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता है और न उसके विपरीत ही कुछ कहता है। वह लोकगाथा में वर्णित चरित्रों का भी पक्ष नहीं लेता।[४]

---

१. कविता-कौमुदी (भाग ५)—पृ० ६।

२. वही—पृ० १।

३. द इंग्लिश बैलेड—पृ० १६।

४. इंग्लिश एन्ड स्कॉटिश पापुलर बैलेड्स—इन्ट्रोडक्शन—चाइल्ड—पृ० ११।

राबर्ट-ग्रेव्स का कथन है कि यदि लोकगाथा का गायक लोकगाथा को नैतिक या उपदेशात्मक बनाता है तो इसका अर्थ स्पष्ट है कि वह समुदाय (group) से विच्छेद करके सुसंस्कृत रचनाओं का पक्ष लेता है। इस पक्षपात के कारण उसमें और समुदाय में एक प्रकार की पृथकत्व की भावना उत्पन्न हो जाती है।[1]

ग्रेव्स का उपर्युक्त मत पाश्चात्य लोकगाथाओं पर तो लागू होता है परन्तु भारतीय लोकगाथाओं पर नहीं। भारतीय लोकगाथाओं में उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति कहीं-कहीं पाई जाती है यद्यपि गायक और समाज में एक प्रकार की अविच्छिन्नता है। प्रायः भारतीय लोकगाथाओं में शौर्य, प्रेम, देशभक्ति, आज्ञापालन आदि के अनेक प्रसंग पाए जाते हैं। गाथाओं में वर्णित चरित्रों के त्याग, तपस्या, सतीत्व आदि से शिक्षा तो मिलती ही है। इन आदर्श चरित्रों से हृदय आकर्षित व श्रद्धावनत भी होता है, परन्तु यह सब होते हुए भी उपदेश देने की प्रवृत्ति के लक्षण प्रायः नहीं मिलते। गाथाओं के अन्त में लोक मंगल की भावना अवश्य निहित रहती है।

८. रचनाकार के व्यक्तित्व का अभाव—

सिजविक का कथन है कि किसी भी भाषा की लोकगाथा का सर्वप्रथम तथा सर्वश्रेष्ठ गुण उसका व्यक्तित्व नहीं है बल्कि उसकी व्यक्तित्व-हीनता है। इसके विषय में मतभेद संभव है। परन्तु हमको तुरत इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचना चाहिए कि रचनाकार कोई व्यक्ति था ही नहीं। यह संभव है कि कलात्मक रचनाएँ मौखिक परम्परा के कारण व्यक्तिहीनता को प्राप्त करले।[2]

यह निश्चित है कि लोकगाथाओं का आदि रचनाकार अवश्य होता है परन्तु उसकी रचना में उसका व्यक्तित्व दिखाई नहीं पड़ता। लोकगाथाओं में "मैं" का तो नितान्त अभाव रहता है।[3] गूमर ने भी इसी तथ्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि परम्परा, विषय-प्रधानता तथा व्यक्तित्व-हीनता से युक्त इन गाथाओं में कथानक भी होता है। मौखिक परम्परा के साथ वर्ण्य-विषय की प्रधानता होते हुए भी व्यक्तित्व का पता नहीं चलता।[4] किटरेज का भी प्रायः यही मत है—"यदि संभव हो जाय कि कोई कथा एक सजग वक्ता के माध्यम के बिना स्वतः अपनी कथा कह सके तो लोकगाथा ऐसी ही कथा होगी।"[5]

---

१. द इंग्लिश बैलेड—पृ० २०।
२. द बैलेड—पृ० ११।
३. द इंग्लिश बैलेड—पृ० ६३।
४. ओल्ड इंग्लिश बैलेड—पृ० ६६।
५. इं० एन्ड स्का० पा० बै०—इ०—पृ० १०-११।

वास्तव में अलंकृत-काव्य में रचनाकार के व्यक्तित्व का महत्त्व अनिवार्य रूप से रहता है। वहाँ यह भी कहा जाता कि शैली ही व्यक्तित्व है। यही व्यक्तित्व उसे दूसरों की रचनाओं से पृथक् करता है। परन्तु लोकगाथाओं में रचनाकार के व्यक्तित्व का कोई महत्त्व नहीं होता। न तो वे वर्तमान में उपस्थित रहते हैं और न भूतकाल में उनकी सत्ता थी। हम निश्चित रूप से यह भी नहीं कह सकते कि कभी कोई अस्तित्व रहा हो।[१]

९. दीर्घ कथानक की विद्यमानता—

कथानक की दीर्घता लोकगाथाओं की एक और विशेषता है। प्राय: सभी लोकगाथाओं का कथानक विशाल होता है। काव्योत्कर्ष की दृष्टि से भले ही वह महाकाव्य की तुलना न कर सके परन्तु आकार की दृष्टि से लोकगाथाएँ महाकाव्य से स्पर्धा कर सकती हैं। जिस प्रकार महाकाव्य किसी चरित्र के जीवन का सांगोपांग वर्णन करता है उसी प्रकार लोकगाथाएँ भी कथाचरित्रों के जीवन का सांगोपांग वर्णन करती हैं। यही कारण है कि उनका रूप महाकाव्य की भाँति बृहत् हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक और कारण भी उनकी दीर्घता का है—वह है सम्पूर्ण समाज का सामूहिक सहयोग। क्योंकि प्रत्येक गायक उसमें अपनी कुछ न कुछ कड़ियाँ जोड़ता ही चला जाता है। 'महाभारत' जो आज एक विशाल रूप में प्राप्त होता है वह प्रारम्भ में एक छोटे आकार का 'जयकाव्य' मात्र ही था।

लोकगाथाओं के कथानक की यह दीर्घता ही उन्हें लोकगीतों से अलग कर देती है। लोकगीतों का आकार छोटा होता है क्योंकि उसमें जीवन के किसी एक अंश की भावपूर्ण व्यंजना रहती है जबकि लोकगाथाओं में सम्पूर्ण जीवन की सांगोपांग अभिव्यक्ति। लोकगाथा में कथानक को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है—यही उसकी दीर्घता का प्रमुख और महत्त्वपूर्ण कारण है।

अंग्रेजी मे दोनों प्रकार की (छोटे और बड़े आकार की) लोकगाथाएँ प्राप्त होती है। परन्तु भारतीय लोकगाथाओं का आकार अधिकांश रूप में विशाल होता है। भोजपुरी आल्हा ६२० बड़े साइज के पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है। प्रत्येक पृष्ठ में २८ पंक्तियाँ हैं। ढोलामारू, विजयमल, सोरठी, भरथरी, गोपीचन्द आदि गाथाओं का आकार भी कम छोटा नहीं। भोजपुरी में कुँवर विजयी सैकड़ों पृष्ठों में प्रकाशित हुई है। डा० ग्रियर्सन ने विजयमल की अधूरी कथा को ८०० पंक्तियों में प्रकाशित किया है। इससे सिद्ध होता है कि लोकगाथाओं का कथानक अत्यधिक विशाल होता है।

१०. टेक पदों की पुनरावृत्ति—

टेक पदों की पुनरावृत्ति लोकगाथाओं की सर्वप्रधान विशेषता है। टेक पदों से

---

१. इं० एण्ड स्का० पा० बै०—इन्ट्रोडक्शन—पृ० ११।

लोकगाथाओं का महत्त्व बढ़ जाता है। क्योंकि एक ही गीत को जितनी बार दुहराया जाता है उसका आनन्द उतना ही बढ़ जाता है। यही टेकपद की आवृति गीत को अधिक संगीतात्मक बना देती है और श्रोताओं को इससे अधिक आनन्द आता है।

टेकपदों से तीन लाभ होते हैं:—पहला यह कि, समस्वर के कारण एकरसता का निर्माण नहीं हो पाता दूसरा यह कि टेकपदों के कारण गायक को साँस लेने का अवसर मिल जाता है। टेकपदों की आवृति से एक बात और भी मालूम हो जाती है कि ये गीत पहले सामूहिक रूप से ही गाए जाते थे। गायक जब एक कड़ी गाता है तब समस्त समुदाय के लोग एक साथ मिलकर उन टेकपदों की आवृति करते हैं। आजकल जो हम समवेत स्वर में गाने की प्रवृति देखते हैं वह शायद इसी स्वभाव की सूचना देती है।[४] गूमर तो इन टेकपदो को लोकगाथाओं का महत्त्वपूर्ण तत्व मानता है। वास्तव में यह अत्यन्त ही प्राचीन है। आदिम संस्कारों के अवसर पर जनता द्वारा गाए जाने वाले गीतों से ही इसकी उत्पति हुई है। किटरेज ने भी इसे लोकगाथा की प्रधान विशेषता स्वीकार किया है।[१] तीसरा लाभ इन टेक-पदों से यह है कि इनके द्वारा श्रोताओं पर अच्छा प्रभाव डाला जाता है। यदि सीधे-साधे ढंग से कोई गायक गाता है तो जनता पर उसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। अत: बार-बार आवृति कर अधिक मात्रा में प्रभाव डालने का प्रयत्न किया जाता है। यही कारण है कि इन गाथाओं को जितना अधिक गाया जाता है उतनी ही उसकी मनोरमता बढ़ती जाती है।

अंग्रेजी लोकगाथाओं में टेकपदों की आवृत्ति तीन प्रकार की मिलती है:—[३] १. बर्डन (Burden), २. रिफ्रेन (Refrain) और ३. कोरस (Chorus).

हिन्दी लोकगाथाओं के टेकपदों का इस प्रकार का कोई नामकरण नहीं मिलता। कोरस, बर्डन और रिफ्रेन से बिल्कुल भिन्न है। बर्डन गाथाओं में प्रयुक्त उस चरण को कहते हैं जो गाथा की प्रत्येक पंक्ति के पश्चात अन्त में गाया जाता है। यह गाथा के केवल अन्त में ही नहीं गाया जाता। गीत की प्रत्येक पंक्ति के पश्चात एक ही प्रकार के शब्दों का बार-बार आना 'बर्डन' कहा जाता है।

लोकगाथाओं में कुछ पदों की आवृत्ति 'बर्डन' की भाँति प्रत्येक पंक्ति के बाद न होकर थोड़े-थोड़े समय के बाद हो उसे 'रिफ्रेन' कहते हैं। अर्थात निश्चित पदावली की निश्चित समय या स्थान के पश्चात् पुनरावृत्ति को 'रिफ्रेन' कहते हैं। (The refrain is the repetetion of a certain passage at regular intervals, and is thus of service in marking of stanza.) इससे प्रत्येक पद को अलग-अलग समझने में सहायता मिलती है।

---

१. द बैलेड—सिजविक—पृ० २७.

२. इंगलिश एण्ड स्का० पा० बै०—इन्ट्रोडक्शन—पृ० २१.

३. विस्तार के लिये देखिए— ओल्ड इंगलिश बैलेड्स—इन्ट्रोडक्शन—फुटनोट।

'रिफ्रेन' में एक ही पदावली की आवृत्ति होती है जिसे 'वृद्धिपरक आवृत्ति' (Incremental Repetetion) कहा जाता है। नृत्य, खेल आदि के समय गाए जाने वाले जनसाधारण के गान से इनका जन्म हुआ है। लोकगाथा की मौखिक परम्परा में इसकी स्थिति आवश्यक मानी गई है।

'कोरस' उस पूर्ण पद्य (whole stanza) को कहते हैं जो लोक-गाथा के प्रत्येक नए पद्य के बाद गाया जाता है।

ये टेकपद कुछ तो सार्थक होते हैं और कुछ निरर्थक। उदाहरण के लिए ब्रज का यह 'रजना' गीत देखिए: —

मेरी जल्दी खबरि सुधि लीजियो रजना।
कोठे ऊपर कोठरी रजना खड़ी सुखावे केस ॥
यार दिखाई दे गयो धरि जोगी को भेष ॥
कारी परि गई रजना।
पीरी परि गई रजना ॥—मेरी जल्दी खबर............
आगरे की गैल में परयो भुजंगी स्यांपु।
लोटै पीट फनु करै सरक बिलै में जाय ॥
मरि गई मरि गई रजना।
पीरी परि गई रजना ॥—मेरी जल्दी खबर............

उपर्युक्त गीत में 'मेरी जल्दी खबर' टेकपद सार्थक है। इसे 'रिफ्रेन' कहा जा सकता है। 'बर्डन' का उदाहरण ब्रज के इस 'लाँगुरिया' में देखने को मिल जाता है—

अनोखी मालिनी भैना, करै तौ डरपै काए कूँ।
तेरे हाथ को मूँदरा, लाँगुर दियौ गढ़ाई। अनोखी मालिनी..........
तेरे सिर की चूँदरी, भैना लाँगुर दई रँगाई। अनोखी मालिनी..........
× × × × × ×
रस की बीधरी लाँगुरा, आई गयो मेरी सेज। अनोखी मालिनी.........

यहाँ 'अनोखी मालिनी' टेकपद प्रत्येक पक्ति के साथ आ रहा है अतः इसे 'बर्डन' कहा जा सकता है।

भोजपुरी 'चैता' में 'हो रामा, आहो रामा, हे राम' ऐसे पद हैं जिनका कोई अर्थ नहीं। ऐसे टेक-पदों को निरर्थक टेकपद कहा जाता है।

इस प्रकार गाथाओं के इन टेकपदों का विशेष महत्त्व दिखाई देता है।

११. इतिहास की संदिग्धता—

प्रायः सभी विद्वान इस विषय में एक मत हैं कि लोकगाथाओं में या तो ऐतिहासिकता होती ही नहीं या उसका इतिहास संदिग्ध होता है। लोकगाथा का रचयिता कोई इतिहास-विशेषज्ञ नहीं होता। न तो उसे इतिहास का ज्ञान है और न उसे इति-

ह्रास निर्माण की चिन्ता। वह तो ऐतिहासिक तथा अनैतिहासिक घटनाओं को लेकर लोकगाथाओं की रचना करता है। परन्तु उसके लिए यह अनिवार्य शर्त नहीं कि यदि वह ऐतिहासिक घटना को लेकर चले तो उसका पूर्णरूपेण निर्वाह भी करे। फिर एक व्यक्ति तो इसका रचयिता होता नहीं। हर समय में हर व्यक्ति कुछ न कुछ अपना जोड़ता ही रहता है। अत: सच्चा इतिहास (जो प्रारम्भ में रहा होगा) भी समय-समय पर परिवर्तित व संवर्द्धित होते-होते झूठा पड़ जाता है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस लोकगाथा में वर्णित घटना या पात्र पूर्ण ऐतिहासिक है। बाबू कुँवर, गोपीचन्द, भरथरी, आल्हा आदि का वर्णन इतिहास में मिलता है परन्तु उनसे सम्बन्धित कुछ घटनाओं पर ऐतिहासिक दृष्टि से शंका उत्पन्न की जा सकती है। बिहुला, लोरिकी, बिजयमल, सोरठी आदि गाथाओं की ऐतिहासिकता तो नितांत संदिग्ध है। अत: यह कहना भ्रामक होगा कि अमुक लोकगाथा पूर्ण ऐतिहासिक है।

लोक-गाथाओं के प्रकार—

भारतवर्ष में लोकसाहित्य के विद्वानों ने लोकगाथा के प्रकारों पर अभी तक कोई विचार प्रस्तुत नहीं किया। विशेष रूप से इंगलैंड के विद्वानों ने इस पर पर्याप्त विचार किया है। पाश्चात्य विद्वानों में प्रो० कीटरेज और प्रो० गूमर का नाम उल्लेखनीय है।

(अ) प्रो० कीटरेज का वर्गीकरण—

प्रो० कीटरेज ने लोकगाथाओं को दो मुख्य भागों में विभक्त किया है—

(१) चारण गाथाएँ (Minstrel Ballads)

और (२) परम्परागत गाथाएं (Traditional Ballads)

(१) **चारणगाथाएं**—यह गाथाएं विशेष रूप से चारणों द्वारा गाई जाती हैं। मध्यकालीन यूरोप के राजदरबारों में चारण लोग 'हार्प' पर अपनी जीविका चलाने के लिए इन गाथाओं को गाया करते थे। चारणों द्वारा गाए जाने के कारण ही इन्हें 'चारणगाथाएं' कहते हैं। विशपपर्सी ने इन लोकगाथाओं की विस्तार से विवेचना की है और इन्हें प्रतिनिधि लोकगाथाएं स्वीकार किया है।[1] परन्तु प्रो० कीटरेज ने चारण-लोक-गाथाओं को परम्परागत गाथाओं से अलग माना है।[2]

(२) **परम्परागत गाथाएँ**—परम्परागत गाथाओं से तात्पर्य उन गाथाओं से है जो आदिम काल से मौखिक परम्परा के रूप में चली आरही हैं। इन गाथाओं का

१. रेलिक्स ऑव एन्शियन्ट इंग्लिश पोइट्री—इन्ट्रोडक्शन।
२. इं० एन्ड स्का० पा० बैलेड्स—इन्ट्रोडक्शन—पृ० २६।

प्रभाव तथा प्रचार आज तक अक्षुण्ण है। इनका रचनाकार भी अज्ञात होता है और इनका काल भी सदिग्ध होता है।[१] अनेक व्यवसायी लोग इन गाथाओं का संकलन कर इन्हें पत्रों में प्रकाशित करवाते थे। इस प्रकार की गाथाएँ ही आगे चलकर परम्परागत तथा लोकप्रिय (Popular) गाथाओं के नाम से प्रसिद्ध हो गईं।

(ब) प्रो० गूमर का वर्गीकरण—

प्रो० गूमर ने लोकगाथाओं को छः प्रधान भागों में विभक्त किया है[२]—

(१) प्राचीनतम गाथाएँ (Oldest Ballads),
(२) कौटुम्बिक गाथाएँ (Ballads of Kinship),
(३) अलौकिक गाथाएँ (Coronach and ballads of the Supernatural),
(४) पौराणिक गाथाएँ (Legendary Ballads),
(५) सीमांत गाथाएँ (Border Ballads),
तथा (६) आरण्यक गाथाएँ (Greenwood Ballads).

(१) **प्राचीनतम गाथाएँ**–इन गाथाओं की उत्पत्ति 'ग्रीस' देश से मानी जाती है। ये गाथाएँ आदिम काल से चली आरही हैं। प्रकृति के उपकरणों से ये गाथाएँ सम्बद्ध हैं। इन गाथाओं में समस्यामूलक गाथाओं (Riddle Ballads) का प्रमुख स्थान है। ये गाथाएँ प्राचीनकाल में प्रश्नोत्तर शैली में सामूहिक रूप से गाई जाती थीं। 'गिल ब्रेन्टन' की गाथाएँ, स्काटलैंड की गाथाएँ, लोकिनवार की गाथाएँ इसी प्रकार की गाथाएँ हैं। इन गाथाओं का विषय प्रमुख रूप से शुद्ध दाम्पत्य-प्रेम रहा है।

(२) **कौटुम्बिक गाथाएँ**– ये लोकगाथाएँ विशेष रूप से परिवार से सम्बंधित हैं। इनमें परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा व्यवहारों का चित्रण किया गया है। भारतीय लोकगाथाओं में इसका अत्यन्त मनोहारी चित्रण मिलता है। विशेष रूप से सास-बहू तथा ननद-भावज के सम्बन्धों की मधुर झाँकी देखने को मिलती है। परन्तु योरुप में केवल भाई-बहन के प्रेम को ही इन गाथाओं में चित्रित किया गया है। यद्यपि यह प्रेम इतना उच्चकोटि का और सात्विक नहीं है जितना भारतीय परिवार के भाई तथा बहिन का। वहाँ तो पर-पुरुष के साथ व्यभिचार तथा बलात्कार का वर्णन अधिक मिलता है।

(३) **अलौकिक गाथाएँ**—इस प्रकार की अलौकिक गाथाओं में मृत्युगीत, अन्ध-विश्वास पर आश्रित गीत तथा जादू के गीत आते हैं। यूरोप में मृत्युगीत की

१. एन्साइक्लोपीडिया अमेरिकाना—बैलेड्स—पृ० ६६.
२. द पापुलर बैलेड—पृ० १३५-२८७.

प्रथा अत्यन्त ही प्रचलित है। फॉकिका टापू के मृत्युगीत अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी तथा हृदय-विदारक होते हैं। एक व्यक्ति के मरण पर उसकी विधवा पत्नी पति की प्रशंसा कर उसके जीवन की अनेक घटनाओं का स्मरण करती है। वह इतना तीव्र विलाप करती है कि वहाँ उपस्थित अन्य स्त्रियाँ भी दुख से अभिभूत होकर मूर्छित हो जाती हैं और अपने नाखून से शरीर का मांस काटने लगती हैं, धरती पर गिर पड़ती हैं और मुख में धूल मलने लगती हैं।[1] वैसे संसार के सभी देशों में मृत्युगीत की परम्परा उपलब्ध होती है।

यूरोप में परियों की प्रेम-कथाएँ अत्यधिक प्रचलित हैं। इन गाथाओं में व्यक्ति परियों के प्रेम-पाश में फँस कर 'परीस्तान' तक की यात्रा करता है। इस प्रकार की अलौकिकता की भावना भारतीय लोकगाथाओं में नहीं मिलती। जादू, भूत-प्रेत से वशीभूत होने की चर्चा भी भारतीय लोकगाथाओं में नहीं मिलती।

(४) पौराणिक गाथाएँ—किसी प्राचीन पौराणिक कथा तथा किंवदन्ती के आधार पर जनता में प्रचलित लोकगाथा को पौराणिक गाथाएँ कहा जाता है। ये भी मौखिक परम्परा के रूप में प्राचीन काल से ही प्रचलित हैं। इन गाथाओं में किसी न किसी पौराणिक आख्यान को गीतों के रूप में गाया जाता है। भारत में भी इस प्रकार की गाथाएँ प्राप्त होती हैं। यूरोप के एक गीत में एक किसान का वर्णन है जो खेत बो रहा है, उसी रास्ते से मेरी जोसेफ और क्राइस्ट के जाने का भी वर्णन है। भोजपुरी में 'ढोलन' की गाथा भी ऐसी ही है। ढोलन को नल तथा दमयन्ती का पुत्र स्वीकार किया गया है और नल और दमयन्ती की कथा तो पुराणों में उपलब्ध होती ही है।

(५) सीमान्त गाथाएँ—ये गाथाएँ सीमान्त पर होने वाले युद्धों के वर्णनों से सम्बन्धित हैं। इंग्लैंड तथा स्काटलैंड के सीमान्त भागों में प्रचलित होने के कारण ही इन गीतों को सीमान्त गाथाएँ कहा जाता है। इन गाथाओं में सीमान्त पर होने वाले छोटे-छोटे युद्धों का ही वर्णन है महान् युद्धों का नहीं।

इनमें कुछ स्थानीय इतिहास से सम्बद्ध गाथाएँ भी हैं। १८५७ के भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम में भाग लेने वाले वीर कुँवरसिंह की गाथा इसी के अन्तर्गत आती है। अवधी के अनेक लोकगीतों में इस स्वतन्त्रता-संग्राम की चर्चा मर्मस्पर्शी शब्दों में की गई है। इस प्रकार के सभी गाथाओं को ऐतिहासिक गाथाओं की कोटि में भी रखा जा सकता है।

(६) आरण्यक गाथाएँ—इंग्लैंड के ग्रीनवुड नामक जंगल में राबिनहुड नाम का एक साहसिक व्यक्ति रहता था। वह अमीरों, राहगीरों को लूट-खसोट कर

---

१. द स्टडी ऑव फोक सांग्स—डा० ए० मार्टिनेंग्रो—पृ० २७२.

गरीबों की धन से सहायता करता था। शासन के नियमों को वह अपने इस उद्देश्य के लिए भंग भी करता था अतः उसे लुटेरा कहा गया। इस लुटेरे से सम्बन्धित अनेक गाथाएँ इंग्लैंड में प्रचलित हो गईं। ग्रीनवुड में रहने के कारण इन गाथाओं को भी 'ग्रीनवुड गाथाएँ' कहा गया। राबिनहुड सम्बन्धी अनेक गाथाएँ इंग्लैंड में प्रचलित हैं। किसी गाथा में राबिनहुड को लुटेरा बताया गया है तो किसी में उसे लुटेरे के रूप में चित्रित न कर केवल दीनों के रक्षक के रूप में चित्रित किया है। उसे राष्ट्रीय वीर (National Hero) तक स्वीकार किया गया। ऐसी गाथाओं को 'आउट ला बैलेड्स' भी कहा जाता है।

भारत में भी इस प्रकार की गाथाएँ उपलब्ध होती हैं। पश्चिमी उत्तर-प्रदेश के जिलों में सुल्ताना डाकू का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध था। वह भी अमीरों को लूटकर गरीबों की सहायता करता था। यही उसकी लोकप्रियता का कारण भी था। अतः वहाँ सुल्ताना डाकू के सम्बन्ध में अनेक गाथाएँ सुल्ताना के जीवन में ही प्रसिद्ध हो गईं। आज भी उसकी गाथाएँ बड़े प्रेम से गाई और सुनी जाती हैं। रास तथा नौटंकियों में भी सुल्ताना से सम्बन्धित लोकनाटक प्रस्तुत किए जाते हैं। यही स्थिति आगरा-ग्वालियर में डाकू मानसिंह की रही है। राजस्थान में जोरावरसिंह डाकू की बहादुरी के कई गीत प्रचलित हैं। काठियावाड़ में डकैतों की वीरता और उदारता के गीत बड़े प्रेम में गाए जाते हैं।

उपर्युक्त ग्रीनवुड गाथाओं को आरण्यक गाथाएँ कहा गया है। ये गाथाएँ प्रायः साहसिक व्यक्तियों (डकैतों) की वीरता तथा उदारता से सम्बन्धित हैं। अतः इन्हें हमारे विचार से आरण्यक गाथाएँ न कहकर साहसिक गाथाएँ कहा जाना चाहिए।

भारत में डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने लोकगाथाओं के प्रकार के सम्बन्ध में विचार किया है। उनके अनुसार लोकगाथाओं का वर्गीकरण दो दृष्टियों से किया जा सकता है—(१) आकार की दृष्टि से (२) विषय की दृष्टि से। आकार की दृष्टि से ये गाथाएँ या तो लघु होती हैं या बृहत्। भगवतीदेवी, कुसुमादेवी आदि गाथाएँ लघु आकार की हैं तथा हीर-राँझा, ढोला-मारू, आल्हा-ऊदल, आदि गाथाएँ बृहत् आकार की हैं। इनकी तुलना प्रबन्धकाव्यों से की जा सकती है।

(स) डा० उपाध्याय का वर्गीकरण—

डा० उपाध्याय ने विषय की दृष्टि से लोकगाथाओं को तीन प्रधान वर्गों में विभक्त किया है—[1]

---

१. लोकसाहित्य की भूमिका—पृ० ११५।

१. प्रेम-कथात्मक गाथा—(Love Ballads)
२. वीर-कथात्मक गाथा—(Heroic Ballads)
३. रोमांच-कथात्मक गाथा—(Supernatural Ballads)

(१) **प्रेमकथात्मक-गाथा**—जिन गाथाओं में प्रेम सम्बन्धी घटनाओं का उल्लेख प्रधान रूप से होता है, वे गाथाएँ प्रेमकथात्मक गाथाएँ कहलाती हैं। इन गाथाओं में प्रेम एक साधारण परिस्थिति में उत्पन्न न होकर विषम वातावरण में होता है और संघर्ष उत्पन्न करता हैं। भोजपुरी की 'कुसुमादेवी', 'भगवतीदेवी', 'लचिया' आदि गाथाएँ इसी प्रकार की हैं। 'बिहुला' की कथा तो प्रेम का प्रबन्ध काव्य है। इसमें बिहुला के अलौकिक लावण्य पर आकर्षित होकर बालालखन्दर का बिहुला को प्रेम में जीतने का प्रणयाख्यान है। 'भरथरी' में भरथरी के गुरु के उपदेश से घर छोड़कर चले जाने पर उसकी पत्नी के विरह का मार्मिक चित्र है। राजस्थान का 'ढोला-मारू' तो प्रेम का अजस्र-स्रोत है ही। पंजाब का 'हीर-राँझा' किसको अपने प्रेम से रस-मग्न नहीं करता।

अंग्रेजी में भी प्रेमगाथाओं की प्रचुरता है इनमें वहाँ की सामाजिक परिस्थितियों का पता चलता है। 'निर्दयी भाई' (Cruel Brother) नामक एक गाथा में बहन भाई की आज्ञा के बिना अपने प्रेमी से विवाह कर लेती है। फलस्वरूप उसका भाई उसे जान से मार डालता है।

(२) **वीर कथात्मक गाथाएँ**—इन गाथाओं में किसी वीर की शूरता तथा साहस का प्रभावशाली चित्रण होता है। इन गाथाओं में वीर पुरुष कहीं किसी आपद्-ग्रस्त अबला का उद्धार करता है, कहीं अपने पराक्रम से शत्रुओं को पराजित कर न्याय का पक्ष प्रबल करता है, कहीं युवती के पाणिग्रहण के लिए भयंकर संग्राम करता है। इन वीर गाथाओं में 'आल्हा' का स्थान सर्वोच्च है। आल्हा और ऊदल की अलौकिक वीरता, मातृ-भूमि की रक्षा के लिए उनका त्याग, महाप्रतापी पृथ्वीराज से भीषण युद्ध इस गाथा की प्रमुख घटनाएँ हैं। 'लोरिकायन' में लोरिकी की वीरता का चित्र है और कुँवर बिजयी में विजयमल के पराक्रम का उल्लेख है। कुँवर की साहसपूर्ण गाथा आज भी भोजपुरी प्रदेशों में आनन्द से गाई और सुनी जाती है।

(३) **रोमान्च-कथात्मक गाथा**—इन गाथाओं के अन्तर्गत 'सोरठी' की लोकप्रिय गाथा आती है। 'सोरठी' एक साधारण घर की कन्या थी। विवाह से पहले उत्पन्न होने के कारण उसकी माँ ने उसे नदी में बहा दिया था। एक मल्लाह ने उसे बचाया तथा घर लाकर उसका पालन-पोषण किया। धीरे-धीरे सोरठी युवा हुई और

---

१. लोकसाहित्य की भूमिका—डा० उपाध्याय—पृ० ११७।

उसका विवाह हो गया। सोरठी की यह कथा इतनी अलौकिक और रोचक है कि पढ़ते समय यही मालूम पड़ता है कि हम 'रोमान्स' पढ़ रहे हैं। अंग्रेजी में भी इस प्रकार की अनेक गाथाएँ हैं जिनमें रोमान्स का अत्यधिक पुट है।[1]

डा० उपाध्याय का उपर्युक्त वर्गीकरण अत्यन्त ही संकुचित है। प्रो० गूमर का वर्गीकरण अत्यन्त ही व्यापक और विस्तृत है। इसमें सभी प्रकार की गाथाएँ अन्तर्भुक्त हो जाती हैं। डा० उपाध्याय ने भी प्रो० गूमर के वर्गीकरण को अत्यन्त ही व्यापक और विस्तृत बताते हुए भी अपना वर्गीकरण प्रारम्भ में दिया है। डा० उपाध्याय द्वारा विभक्त लोकगाथाओं के वर्ग प्रो० गूमर के वर्गीकरण में आजाते हैं अतः अलग से अपना वर्गीकरण प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं थी।

उपर्युक्त लोकगाथाओं के वर्गों के अतिरिक्त एन्साइक्लोपीडिया अमेरिकाना में दो और वर्गों की चर्चा है, वे ये हैं—[1]

(१) प्रकाशित लोकगाथाएँ (Broad sheet Ballads or Stall Ballads)

(२) साहित्यिक लोकगाथाएँ (Literary Ballads)

(१) प्रकाशित लोकगाथाएँ—जब मुद्रण यन्त्रों का आविष्कार हुआ तब व्यवसायी लोकगाथा-गायकों ने एक बड़े पृष्ठ पर लोकगाथा प्रकाशित कर बेचना आरम्भ किया। इनमें रचनाकार का नाम भी रहता था। ये गाथाएँ ऐतिहासिक विषय से सम्बद्ध रहती थीं। इन्हें 'स्टॉल बैलेड्स' भी कहते हैं। भारत में भी अब प्रकाशित लोकगाथाएँ उपलब्ध हैं।

(२) साहित्यिक लोकगाथाएँ— ये वे लोकगाथाएँ हैं जिनकी रचना किसी एक कवि द्वारा की जाती है। परम्परागत लोकगाथाओं से प्रभावित होकर ही इन साहित्यिक लोकगाथाओं की रचना होने लगी। इंगलैंड में अनेक कवियों ने ऐसी रचनाएँ रची हैं जिनमें शेक्सपियर, वाल्टर स्काट, ब्राउनिंग आदि प्रमुख हैं। वर्ड्सवर्थ ने भी लोकगाथाओं की रचना की है। इन गाथाओं को 'कलात्मक लोक-गाथाएँ' (Art Ballads) तथा 'सुसंस्कृत लोकगाथाएँ' (Cultural Ballads) भी कहा जाता है। भारतवर्ष में अभी इस प्रकार की लोकगाथाएँ लिखी नहीं गईं। केवल परम्परागत लोकगाथाएँ ही प्रकाशित हुई हैं। प्रकाशित होने पर भी वे अपने गुणों में मौखिक के समान ही हैं।

---

१. एन्साइक्लोपीडिया अमेरिकाना—बैलेड्स—पृ० ६६।

७ | लोककथा

यह तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि आधुनिक युग की अपेक्षाकृत विकसित साहित्य की धारा की परम्परागत गंगोत्री लोकसाहित्य में ही है। यह मौखिक साहित्य विविध संस्कृतियों का दर्पण है। इसमें परम्परागत विश्वास, आचार-विचार, प्रथाएँ, जीवन के हर्ष-विषाद, अतीत-वर्तमान सभी कुछ सुरक्षित हैं। इस लोकसाहित्य में लोककथा का स्थान तो और भी अधिक महत्वपूर्ण है। व्यापकता और प्रचुरता की दृष्टि से इसका मूल्य निस्संदेह अवर्णनीय है। भारत तो लोककथाओं का अनन्त सागर है। सर्वप्रथम लोककथा का जन्म देने का श्रेय भी इसी भव्य-भूमि को है। "भारतीय कथा-साहित्य अत्यन्त प्राचीन है। भारतीय कथाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनका प्रभाव संसार के प्रायः सभी सभ्य देशों के कथा-साहित्य पर प्रचुररूपेण पड़ा है। इन कथाओं के यूरोपीय देशों में प्रचार की कहानी बड़ी लम्बी है। सर्वप्रथम इन कहानियों का अनुवाद अरबी और पहलवी भाषाओं में हुआ और इसके पश्चात् यूरोप की विभिन्न भाषाओं में इनके अनुवाद प्रस्तुत किए गए। यूरोप में प्रचलित 'इसाप्स फेबुल्स' (ईसप की कहानियों) में भारतीय प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।"[१]

समस्त मानव समूह में दो प्रकार की कथाओं का रूप पाया जाता है। एक रूप तो वह है जिसमें तत्कालीन घटनाओं तथा अनुभवों का संलाप-शैली में यथार्थ वर्णन होता है। नृतात्विक दृष्टि से इसका अध्ययन आवश्यक है क्योंकि इनमें न तो स्थायित्व होता है और न साहित्यिक सौंदर्य ही। इनका क्षेत्र अत्यन्त सीमित होता है। ये कहानियाँ आगे चलकर 'मिथ' या पौराणिक कथाओं का रूप धारण कर लेती हैं। कुछ कहानियों में लोककथा के तत्व मिल जाने के कारण उनका स्थान मौखिक-कथा-साहित्य-परम्परा में आजाता है। कथाओं का दूसरा रूप वह है जिसमें वे अपनी कथावस्तु तथा कथात्मक शैली के कारण साहित्यिक सौंदर्य प्राप्त कर लेती हैं। इनका रूप गद्यात्मक तथा पद्यात्मक दोनों प्रकार का होता है।

---

१. लोकसाहित्य की भूमिका—डा० कृष्णदेव उपाध्याय—पृ० १२४।

पौराणिक कथा तथा लोककथा —

पौराणिक कथा तथा लोककथा दोनों ही आदिकालीन-मानव के मौखिक साहित्य कहे जा सकते हैं। दोनों में कथात्मक ढंग से बात कही जाती है परन्तु कथा का आधार दोनों का भिन्न-भिन्न होता है। पौराणिक कथा को केवल कथा या आख्यान कहा जा सकता है। पौराणिक इसलिए कहा जाता है क्योंकि ये कथाएँ पुराणों में पाई जाती हैं। प्राचीन होने के कारण भी इन्हें पौराणिक कहा जाता है। इन कथाओं में सृष्टि की उत्पत्ति, देवी-देवताओं का वर्णन, प्राकृतिक तत्वों (जल, आकाश, वायु आदि) का निरूपण किया जाता है। इनका लक्ष्य केवल मनोरंजन न होकर सृष्टि के गम्भीर रहस्य को सुलझाना है। आदिकालीन मानव के धार्मिक विधि-विधानों (Ceremonials, rituals) के 'क्यों' का उत्तर ये पौराणिक कथाएँ ही देती हैं। संसार की महान् शक्तियों से सम्बद्ध होने के कारण इन कथाओं में 'आश्चर्य' और 'आतंक' की प्रधानता है। परन्तु लोककथाओं में इनके द्वारा मनोरंजन किया जाता है। इनमें 'आतंक' के स्थान पर 'कल्पना' की प्रधानता रहती है। पौराणिक कथा में 'धार्मिकता' की आवश्यकता है परन्तु लोककथा में यह आवश्यक नहीं। पौराणिक कथाओं को लोग सत्य मानते हैं परन्तु लोककथाओं को नहीं।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि पौराणिक शब्द से तात्पर्य 'पुराणों' से नहीं है। पौराणिक का अर्थ 'प्राचीन' है जो अधिक संगत है। युग-युगान्तर से जनजाति या समाज की सृष्टि की रचना तथा उत्पत्ति के सम्बन्ध में आधारभूत धारणा को ही पौराणिक कथा कहा जाता है। **अतः जिन कथानकों में सृष्टि की उत्पत्ति, रचना, विकास तथा नाश का वर्णन हो, दैवी घटना या देवी-देवताओं का वर्णन हो, जिसे जनजाति कल्पना न मानकर सत्य मानती हो और जो अत्यन्त प्राचीन काल में घटित मानी जाती हो, पौराणिक कथा कही जाएगी।** केवल देवी-देवताओं के आने से ही उसे पौराणिक कथा नहीं कहा जा सकता। वास्तव में पौराणिक कथाओं के लिए धार्मिक आस्था की आवश्यकता है।

पौराणिक कथा की उत्पत्ति तथा विशेषताएँ —

(१) **मानवीकरण (Personification)** - पौराणिक कथाओं में वर्णित सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, पशु, पक्षी का चित्रण इस रूप में किया जाता है कि वे मानव के समान ही व्यवहार करते दिखाई देते हैं। प्राकृतिक उपकरणों में मानवीय भावनाओं तथा क्रियाओं का आरोप ही मानवीकरण कहलाता है। अर्थात् पशु, पक्षी, बादल आदि भी मानव की तरह अनुभव करने लगें और कार्य करने लगें। जब आदिम मानव ने देखा कि इन पशु-पक्षियों में मानव से अधिक शक्ति है (क्योंकि वे उस पर आक्रमण भी करते हैं) तो वह उनमें दैवी शक्ति की सम्भावना कर उन शक्तियों से आतंकित होने लगा।

तब उसें यह विश्वास होने लगा कि इन प्रकृति के तत्वों में भी शक्ति है। ये भी मानव की तरह क्रोध-प्रेम, द्वेष-घृणा करते हैं। इसी को मानवीकरण कहा जाता है।

(२) **स्पष्टीकरण** (Explanation)—जब मानव ने देखा कि इन प्राकृतिक तत्वों में शक्ति हैं तो वह इन शक्तियों में स्पष्टीकरण खोजने लगा। इस रहस्यमय जगत को समझने की उत्सुकता उसमें उत्पन्न होने लगी। वह सृष्टि की उत्पत्ति, रचना तथा विकास का स्पष्टीकरण जानने का प्रयास करने लगा। उसने देखा कि मनुष्य में धूर्तता है, वह क्यों है ? उसे ज्ञात हुआ कि जानवरों में लोमड़ी धूर्त शिरोमणि है अतः समझ गया कि धूर्तता की जननी लोमड़ी है। इसी प्रकार मानव में विद्यमान चालाकी बन्दर से आई है। सूरज, बादल आदि भी मानव की तरह क्रिया करने वाली शक्तियाँ हैं। सूर्य क्रुद्ध होकर जगत को तपाता है। बादल क्रोध में गरजकर सृष्टि को डुबाता है आदि। इन शक्तियों का रहस्य सुलझाने की वह चेष्टा करता है। सृष्टि के रहस्य का स्पष्टीकरण वह सृष्टि की इन्हीं शक्तियों के मानवीकरण द्वारा ही ढूँढता है। इस प्रकार जो कथानक की रचना वह करता है उसे पौराणिक कथा कहते हैं।

(३) **प्रतिनिधिकरण** (Representation)—वास्तव में जब पौराणिक कथाओं में किसी लोमड़ी या बन्दर का वर्णन आता है या संसार की किसी घटना का वर्णन आता है तो वहाँ लोमड़ी से तात्पर्य सभी लोमड़ी को समझा गया। बन्दर से सभी बन्दर का अर्थ लिया गया। एक लोमड़ी या एक बन्दर तो प्रतिनिधि के रूप में आए हैं। इस प्रकार के प्रतिनिधिकरण का अर्थ स्पष्टीकरण ही है। एक बार कुत्ता और बिल्ली लड़ पड़े। वे इसलिए लड़े क्योंकि उनमें द्वेष था। इस प्रकार कुत्ते-बिल्ली का एक दूसरे से जो द्वेष दिखाई देता है इसका आदिकालीन कुत्ते-बिल्ली का एक बार लड़ पड़ना ही कारण है। क्योंकि उस कथा में ये लड़ पड़े थे अतः जो एक कथा में हो गया वह आगे भी चलता रहा। आदम और हव्वा ने एक बार पाप किया फिर वही पाप आगे भी चलता गया यहाँ तक कि उसकी संतानों में भी चलता चला जाएगा। आख्यानों की इस विचारधारा का आधार ही प्रतिनिधिकरण है।

(४) **प्राचीनता अथवा पौराणिक काल** (Mythological Period)—पौराणिक कथाएँ प्राचीनकाल से चली आ रही हैं। इन कथाओं का निर्माण कब और किसने किया—इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। ये मौखिक परम्परा के रूप जनजाति में प्राचीनकाल से ही प्रचलित हैं। ऐसा माना जाता है कि इन कथाओं में आने वाले 'पौराणिक व्यक्ति' पात्र की भाँति ही कार्य करते हैं। वे सृष्टि की रचना से भी पहले विद्यमान थे। ये पौराणिक पात्र ही सृष्टि की रचना करते हैं। ये पात्र काल्पनिक भी होते हैं और यथार्थ भी। परन्तु यह कहना नितांत असंभव है कि इनमें काल्पनिक कौन है और यथार्थ कौन है।

(५) **दार्शनिक आधार** (Philosophical Basis)—पौराणिक कथाएँ मानव की काल्पनिक रचना नहीं है। इतना अवश्य है कि इन कथाओं में आने वाले सूरज, बादल, पशु-पक्षी आदि मनुष्यों की भाँति कार्य करते हैं जो काल्पनिक-सा लगता है। परन्तु इसमें जनजाति को जितना महत्व दिया गया है वह अवश्य ही गम्भीर विचारों का परिणाम है, केवल कल्पना का नहीं। सृष्टि की उत्पत्ति, रचना, विधि-विधान पर आदिम मानव ने गम्भीर तथा दार्शनिक रूप से विचार किया था जो इन पौराणिक कथाओं का आधार बन गया है। यह दार्शनिक विचार इस प्रकार कार्य करता है जैसे एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से लड़ता है। अतः यह क्रिया सृष्टि के अन्य स्थानों पर भी अवश्य होती होगी। बादल और सूर्य में भी लड़ाई होती होगी। बादल को सूर्य अपने तीक्ष्ण बाणों से बेधता होगा जिससे खून की धार की तरह पानी निकलता होगा। बस यही दार्शनिक विचार इन्द्र और वृत्र के युद्ध का आधार होगा। यह दार्शनिक विचार मुख्य आधार है। परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि इसमें कल्पना का कोई स्थान नहीं। प्रारम्भ में तो कल्पना का ही सहारा मानवीकरण के लिए किया होगा। सूर्य-चन्द्र को 'मानव-सम' मानना यह कल्पना ही तो है। अतः दर्शन के साथ-साथ कल्पना का भी अंश इन कथाओं के जन्म का कारण रहा होगा।

(६) **विधि-विधानों का आधार** (Basis of rituals and ceremonials)—विधि-विधान आदिकाल से चले आ रहे हैं। इन्हीं का कारण जानने के लिए पौराणिक कथाओं की रचना हुई। विधि-विधानों में दो बातें मुख्य हैं—विधि (Custom) और निषेध (Taboo)। विधि से अर्थ है—यह करना है और निषेध का अर्थ है—यह नहीं करना है। इन्हीं विधि-निषेधों का सम्बन्ध जब किसी पौराणिक कथा से जोड़ा जाता है तब मनुष्य यह समझता है कि उसने कारण का पता लगा लिया। यद्यपि अभी उसे और कारण जानने की आवश्यकता है। परन्तु आदिकालीन मानव इस कारण की खोज में अधिक दूर तक जाना नहीं चाहता। 'होली' का त्यौहार क्यों मनाया जाता है? इस पर एक कथा की रचना हुई। एक बार जब शिवजी तपस्या में डूबकर पार्वती को भूल गए तब पार्वती ने कामदेव से उनकी तपस्या भंग करने की प्रार्थना की। कामदेव ने काम बाण छोड़े। शिवजी ने क्रुद्ध होकर अपने तीसरे नेत्र द्वारा उसे भस्म कर दिया। कामदेव की पत्नि रति विलाप करती शिव के पास आई। शिव को दया आई। उन्होंने कामदेव को वर दिया कि तुम बिना शरीर लोगों के मन में रहोगे। कामदेव का दूसरा नाम इसीलिए अनंग रखा गया। काम प्रत्येक व्यक्ति के मन को तरंगित करता रहता है। इसी तरंग और उल्लास की अभिव्यक्ति के लिए होली का पर्व मनाया जाता है। इसी प्रकार अन्य विधि-विधानों का समाधान पौराणिक कथाओं से किया गया है।

अन्तरंग और बहिरंग पौराणिक कथाएँ—

पौराणिक कथाओं के जानने वाले अन्तरंग और बहिरंग दो रूप होते हैं। किसी भी जनजाति की कथाओं को सभी व्यक्ति जानते हैं। यह वर्ग 'बहिरंग वर्ग' कहलाता है परन्तु एक वर्ग ऐसा भी है जो कथाओं के वास्तविक रहस्य को जानता है यह 'अन्तरंग वर्ग' होता है। यह कथा के भीतर छिपे अर्थों को भलीभाँति जानता है। यह अपना समय विधिविधानों तथा कथाओं को जानने में लगाता है। इसे 'पुरोहित-वर्ग' कहते हैं। यह 'वर्ग' उन विधि-विधानों के पीछे एक दैवी घटना को जोड़ देता है जिससे जनजाति इन विधानों पर आस्था रखे और इन्हें छोड़े नहीं। जनता तो कथाओं का बहिरंग रूप ही जानती हैं। यही कारण है कि समाज में आदिकाल से लेकर अब तक 'पुरोहितों' का सम्मान है। ऐसी अन्तरंग कथाएँ अपने कथानकों द्वारा विधि-विधानों की पुष्टि करती हैं। इस रहस्य को हर कोई नहीं जान सकता। इस रहस्य को उचित पात्र पर ही प्रकट किया जाता है और उसी को शिष्य भी बनाया जाता है। यहीं पर गुरु की महत्ता प्रतिपादित हो जाती है।

लोकवार्ता-क्षेत्र में पौराणिक कथा का भी अत्यन्त महत्व है। डा० सत्येन्द्र ने इस सम्बन्ध में काफी विचार किया है। उन्होंने कुछ विद्वानों के विचार प्रकट करते हुए लिखा है—"कुछ विद्वानों ने धर्म-गाथा को लोकवार्ताभिव्यक्ति नहीं माना। कुछ का तो कहना यह है कि धर्मगाथा का पूर्व में कुछ भी रूप रहा हो, हमारे समक्ष तो वह महान कवियों की रचना के रूप में आती है, इन विद्वानों का लक्ष्य ईलियड तथा महाभारत जैसी रचनाओं की ओर रहता है। कुछ का विचार है कि लोकवार्तातत्व का सम्बंध आदिम-मानव के वर्तमान अवशेषों से होता है किन्तु धर्मगाथा तो अतीतकाल से सम्बन्ध रखती है। यह भी कहा जाता है कि धर्मगाथा में आदिम मानस की अभिव्यक्ति नहीं, क्योंकि आदिम मानस का विकास कुछ निम्न क्रम से हुआ है—

(१) मन—इस शब्द का प्रयोग एक रहस्यात्मक शक्ति के अर्थ में मैलेनेशियन द्वीपसमूह में होता है। यह वस्तुतः आत्मा अथा आत्मशक्ति का भी मूल सार है। कुछ विद्वान इस क्रम विकास से सहमत नहीं। वे आत्मवत्वाद या ऐनिमेटिज्म से ही लोक-मानस का मूल मानते हैं। (२) परा-प्रकृतिवाद—प्राकृतिक पदार्थों के श्रद्धाभयोद्रेकी व्यापारों में किसी शक्ति की उद्भावना। (३) आत्मवत्वाद—आत्मवत् सर्व भूतेषु—मेरे जैसी बुद्धि, शक्ति, विवेक पशु-पक्षियों तथा पदार्थों में है। (४) पदार्थात्मवाद—समस्त पदार्थों में आत्मा है। (५) देववाद—देवताओं की कल्पना।

इन विद्वानों के विचार से इस पाँचवीं स्थिति पर पहुँचने पर ही धर्मगाथाओं का उदय हुआ। अतः यह मूल लोकमानस से सम्बद्ध नहीं। भाषा में भी जैसा कि मैक्समूलर ने माना, पहली अवस्था, धातु निर्माण की है। दूसरी, भाषाओं की मूल जातियों के जन्म की है। इस अवस्था में आर्य, सेमेटिक, टर्की जैसी जाति की भाषाओं ने

जातीय धर्म ग्रहण करना आरम्भ किया। तीसरी, धर्मगाथा पूरक है, जिसमें मूल शब्दों ने विकार युक्त होकर गाथाओं को जन्म दिया। इस अवस्था पर आकर धर्मगाथाएँ बनी। चौथी, लौकिक, इस अवस्था पर पहुँचकर राष्ट्रीय भाषाओं का निर्माण हुआ। धर्मगाथाओं के निर्माण में भाषा का बहुत हाथ रहा है। मैक्समूलर ने यही धारणा बना ली थी कि धर्मगाथा केवल भाषा का रोग 'मैलेडी ऑव लेंग्वेज' है। भाषा जब अपनी श्लेष-शक्ति अथवा असमर्थता के कारण एक के स्थान पर साम्य के कारण दूसरे शब्द को ग्रहण कर लेती है और अर्थ-विषयक परिवर्तन भी पैदा कर देती है, तब धर्मगाथा जन्म लेती है। अतः धर्मगाथा का सम्बन्ध लोकमानस से नहीं हो सकता। फिर धर्मगाथा से लोककथाएँ उत्पन्न हुई हैं। अतः लोककथाओं और लोकवार्ता की जननी को पृथक् ही मान्यता देनी पड़ेगी।"[1]

डा० सत्येन्द्र उपर्युक्त विद्वानों के मतों से कतई सहमत नहीं हैं। जो विद्वान धर्मगाथा को लोकवार्ताभिव्यक्ति नहीं मानते और उन्हें महाकवियों की रचना मानते हैं; यह डा० सत्येन्द्र को स्वीकार नहीं। वे धर्मगाथा को महाकाव्य से पूर्वजन्मा मानते हैं। उसी पूर्व रूप के कारण ही वे धर्मगाथाएँ हैं। उसी महत्व के कारण वे महाकाव्यों की इसी रूप में विषय बनी। दूसरा मतभेद डा० सत्येन्द्र का उन लोगों से है जो धर्मगाथा को केवल अतीतकाल से सम्बन्धित मानते हैं। उनका कहना है कि धर्मगाथाओं का सम्बन्ध उतना ही वर्तमान से है जितना लोकवार्ता के आदिम अवशेषों का वर्तमान से है। उनका तर्क है कि यदि धर्मगाथा का अतीत से सम्बन्ध है तो लोकवार्ता के आदिम अवशेषों को क्या बिना अतीत से सम्बन्धित किए आदिम अवशेष माना जा सकता है।[2] तीसरा मतभेद उनका वहाँ है जहाँ आदिम मानस के विकास-क्रम में पाँचवीं स्थिति में पहुँचने पर धर्मगाथाओं के उदय की स्थिति मानी गई है। डा० सत्येन्द्र यहाँ प्रश्न करते हैं कि क्या इस पाँचवीं अवस्था तक पहुँचने पर आदिम मानस की सत्ता मिट चुकी थी ? देववाद क्या लोकमानस की ही उद्भावना नहीं ? यह भी अब स्पष्ट हो गया है कि लोकवार्ता का मूल-लोकमानस से सम्बन्ध अनिवार्य नहीं। लोकमानस की जो दाय रूप में स्थिति है, उसकी अभिव्यक्ति भी लोकवार्ता का एक तत्व है। धर्मगाथाओं के विन्यास में लोकमानस व्याप्त है।[3]

इस प्रकार डा० सत्येन्द्र ने उपर्युक्त विद्वानों के तर्कों को काटकर यह सिद्ध कर दिया कि धर्मगाथा में मूलतः आदिम मानस (Primitive mind) ओत-प्रोत है। उसमें समस्त विकार, विकास और उद्भावना लोकमानस के परिणाम से है,

---

१. लोकसाहित्य विज्ञान—पृ० १९०-१९१ से उद्धृत।
२. वही—पृ० १९०।
३. वही—पृ० १९१।

संस्कृत-मानस की मनीषिता उसमें नहीं।[1] फ्रेजर का भी प्राय: यही मत था कि लोकवार्ता का मूल-मानस मैजिक (टोना) भाव का परिणाम है। डा० सत्येन्द्र का मत इसी से प्रभावित है। अतः अब यह सिद्ध है कि धर्मगाथाएँ लोकसाहित्य का ही एक अंग है और इसका अध्ययन भी उतना ही आवश्यक है जितना लोकगाथा, लोकगीत, लोकनाट्य आदि का। अन्तर केवल इतना ही है कि विकास की विविध अवस्थाओं में से गुजरती हुई ये गाथाएँ धार्मिक अभिप्रायों से अधिक सम्बद्ध हो गई हैं।

पौराणिक कथा तथा धर्मगाथा का रूप : परिभाषा—

(१) डा० सत्येन्द्र के शब्दों में लोकसाहित्य का वह अंश जो रूप में प्रकटतः तो होता है कहानी, पर जिसके द्वारा अभीष्ट होता है किसी ऐसे प्राकृतिक व्यापार का वर्णन जो साहित्य-स्रष्टा ने आदिम काल में देखा था और जिसमें धार्मिक भावना का पुट भी है—वह धर्मगाथा कहलाती है। इसके अतिरिक्त समस्त प्राचीन मौखिक-परम्परा से प्राप्त कथा तथा गीतसाहित्य भी लोकसाहित्य कहलाता है।[2]

(२) जान रस्किन के शब्दों में 'एक धर्मगाथा अपनी सरलतम परिभाषा में एक कहानी है जिससे एक अर्थ सम्बद्ध है, ऐसा अर्थ जो प्रथम प्रकट होने वाले अर्थ से भिन्न हो। ऐसी कहानी में ऐसा कोई अभिप्रेत अर्थ है यह उस कहानी की कुछ उन परिस्थितियों से साधारणतः विदित होता है जो असाधारण होती हैं, प्राकृतिक घटनाओं के रूपक पर बनी हैं—पहले आदि-मानव-समूह ने प्रकृति के इन दिव्य-व्यापारों को देखा और इन्हें मूर्तरूप में शब्द का अर्थ माना, अथवा शब्द के साधारण अर्थ में अस्वाभाविक होती है।[3]

(३) सोफ़िया बर्न धर्मगाथाओं को कारण-निरुपक-कहानी मानती है। इसमें विश्व, उसकी उत्पत्ति, प्रलय, जीवन, मरण, मनुष्य, पशु, जातीय-भेद, व्यवसाय-भेद, धार्मिक उपचार, पैतृक-प्रथाएँ तथा रहस्यमय व्यापारों के कारणों की व्याख्या रहती है। यह कारण प्रायः असंभव ही होता है, पर जो उन धर्मगाथाओं को मानते हैं, वे उन पर विश्वास भी करते हैं।[4]

हमारी दृष्टि से पौराणिक कथा उन कथाओं को कहते हैं जिनमें सृष्टि की उत्पत्ति, नाश, देवी-देवता तथा दैवी-घटनाओं का वर्णन हो, जिसे जनजाति काल्पनिक न मान यथार्थ मानती हो और आदिम काल में हुई घटनाओं में धार्मिक आस्था रखती हो।

---

१. लोकसाहित्य विज्ञान—पृ० १६२।
२. वही—पृ० १६१।
३. वही—पृ० १६३-१६४ से उद्धृत।
४. वही—पृ० १६४।

लोककथा का स्वरूप और परिभाषा—

जब से मनुष्य का इस पृथ्वी पर जन्म हुआ है तभी से कहानी का भी जन्म हुआ होगा। यही कारण है कि मानवीय कलाओं में कहानी कहने की कला सबसे प्राचीन है। आदिम युग से ही मानव-मन ने अपनी विचित्र अनुभूतियों को कथा का रूप प्रदान किया और इन कथाओं के माध्यम से ही वह अपने अपरिपक्व और अस्पष्ट जीवन-दर्शन को अभिव्यक्त करने लगा। यह अभिव्यक्ति दो रूपों में हुई—१. पौराणिक कथाओं के रूप में तथा २. लोककथाओं के रूप में। जिस कथा में कथा-वस्तु तथा उसकी कलात्मक कथन-प्रणाली एक साहित्यिक सौंदर्य प्राप्त कर लेती हैं लोककथा कही जाती है। लोककथा विश्वव्याप्त है। इसमें लोक जीवन नाना रूपों में प्रकट होता चला आरहा है। मानव के दुख-सुख, रीति-रिवाज, आस्थाएँ एवं विश्वास इन लोककथाओं में अभिव्यक्त होते रहते हैं। लोककथा मौखिक रूप में ही प्राप्य है।

लोककथा की परिभाषा देते हुए डा० सत्येन्द्र ने लिखा है—"लोक में प्रचलित और परम्परा से चली आने वाली मूलत: मौखिक रूप में प्रचलित कहानियाँ लोककहानियाँ कहलाती हैं।"[१]

वास्तव में कथा की ऐसी मौखिक परम्परा जिसमें लोकमानस के तत्व विशेष रूप से विद्यमान हों और जिनका उद्देश्य जन-मनोरंजन के अतिरिक्त प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से ज्ञानवर्द्धन भी हो वही हमारी दृष्टि से 'लोककथा' कहलाई जाएगी।

डा० सत्या गुप्त ने लोककथा की परिभाषा न देकर उसके स्वरूप पर विचार करते हुए लिखा है—"लोककथाओं में लोक-मानव की सब प्रकार की भावनाएँ तथा जीवन-दर्शन समाहित है। भूत जानने की जिज्ञासा, घटनाओं का सूत्र, कोमल व परुष भावनाएँ, सामाजिक-ऐतिहासिक परम्पराएँ, जीवन-दर्शन के सूत्र सभी कुछ लोककथा में मिल जाते हैं।"[२]

वास्तव में लोककथा की शास्त्रीय परिभाषा देना अत्यन्त ही कठिन है। इससे पूर्व भी इसकी परिभाषा देने का प्रयत्न कभी नहीं किया गया, प्रत्युत 'लोककथा' संज्ञा को एक साधारण अर्थवाचक शब्द के रूप में ही रहने दिया गया है, जिस प्रयोग, परम्परागत, वृत्तात्मक, विविध व्यंजना-रूपों के लिए किया जातारहा है।[3]

---

१. हिन्दी साहित्य कोश (भाग १)—पृ० ७४८।

२. खड़ी बोली का लोकसाहित्य—पृ० १७४।

३. स्टैंडर्ड डिक्शनरी ऑव फ़ोकलोर, माइथोलोजी एण्ड लीजेन्ड—भाग १—पृ० ४०८।

लोककथा की उत्पत्ति —

लोककथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है। उनके भिन्न-भिन्न मतों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) प्रसारवाद का सिद्धांत (Theory of Diffusion)—

इस मत के समर्थकों का कहना है कि जिस प्रकार भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार लोककथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे भी कुछ नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार भाषा एक स्थान से दूसरे स्थान तक फैलती है और मनुष्य तथा उसके सारे समाज में प्रसरित हो जाती है उसी प्रकार लोककथाएँ भी एक समाज से दूसरे समाज में 'प्रसार' की प्रक्रिया द्वारा पहुँचती हैं। कुछ विद्वान लोककथाओं का उद्गम-स्थल भारत या मैसोपोटामिया को मानते हैं। यहीं से लोककथाएँ विश्व में चारों ओर फैलीं। परन्तु यह अतिशयोक्ति पूर्ण कथन है। यदि ऐसा सम्भव होता तो संसार की लोककथाओं में काफी समानता होती। प्रत्येक देश तथा जाति की लोककथाओं में कथातत्त्व की भिन्नता सका प्रमाण है।

आलोचना—यह कथन तो सत्य है कि लोककथाओं का प्रसार होता है। वे मनुष्यों से भी तीव्र गति से यात्रा करती हैं। जादू के प्रभाव से वह 'सातों समुन्दर' पार कर दूसरे देशों में पहुँच जाती हैं। परन्तु यह कहना कि सर्वप्रथम उसकी उत्पत्ति भारत या मैसोपोटामिया में हुई, इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता।

(२) प्रकृतिरूपकवाद
(Nature Symbolism or Cosmogonic Origin)—

इस मत के विचारकों का कथन है कि प्रकृति के जितने रूप एवं घटनाएँ हैं, कल्पना के माध्यम से उनका रूपक बनाकर इन लोककथाओं में उनका सांकेतिक वर्णन किया जाता है। चाँद की कलाओं का घटना-बढ़ना, समुद्र का शांत रहना और पूर्णिमा पर मर्यादाहीन होना, बिजली का गिर पड़ना आदि घटनाएँ देखकर मानव इनको अपनी कल्पना का आधार बनाता है। वह इन्हें भी मानव के रूप में चित्रित करता है, मानवीकरण करता है। एक कम्बलधारी व्यक्ति के शरीर से कम्बल उतरवाने के लिए सूर्य और वायु की शर्त, सूर्य का वायु को इस शर्त में परास्त करना आदि प्राकृतिक घटना को कथा का रूप प्रदान किया गया। यह कल्पना द्वारा ही सम्भव हुआ।

आलोचना—यदि इस मत को स्वीकार किया जाता है तो इन लोककथाओं के एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने के लिए 'प्रसारवाद' को मान्यता देनी ही पड़ेगी। क्योंकि ये कथाएँ हर स्थान पर मिलती हैं। इसके अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण बात और है। पीछे पौराणिक कथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी यही कारण बताया गया है। जहाँ तक पौराणिक कथा और लोककथा में समानता है वहाँ तक तो यह सिद्धान्त ठीक है परन्तु जहाँ इन दोनों में अन्तर है वहाँ इसका समाधान कैसे हो? अतः यहाँ अन्य सिद्धान्तों का सहारा लेना पड़ जाता है।

(३) मनोविश्लेषणवाद (Psycho-analytic or Sex origin)—

फ्रॉयड के समर्थकों ने रूपकों का स्रोत प्राकृतिक घटनाओं को न मानकर यौन-प्रवृत्तियों को माना है। फ्रॉयड ने मन के दो भाग किए हैं। चेतन मन (Conscious) तथा अचेतन मन (Unconscious)। अचेतन मन ही हमारी मूल आदिम वासनाओं का केन्द्र है। मानस का अचेतन भाग चेतन से अधिक विस्तृत तथा शक्तिशाली होता है। कामशक्ति का कोष इस अचेतन मन में ही है। वास्तव में अचेतन मन का निर्माण प्रवृत्तिजन्य वासनाओं के दमन में होता है। ये दमित वासनाएँ प्रकाशन के लिए प्रयत्नशील रहती हैं। अचेतन की कामप्रवृत्ति वयस्क दृष्टि से विकृत कामप्रवृत्ति है, जिसकी तृप्ति सामाजिक जीवन में असंभव और अनैतिक है। वे दमित वासनाएँ जिनका हमें कोई ज्ञान नहीं होता, स्वप्नों में, दैनिक जीवन की भूलों में और अधिक प्रबल होने पर मानसिक रोगों में व्यक्त हुआ करती हैं। इसके कारण व्यक्ति विचित्र, असाधारण व्यवहार करता है पर, कारण वह स्वयं ही समझ नहीं पाता। यदि विश्लेषण के द्वारा यह दमित वासना चेतन मानस में आजाए तो व्यवहार की विचित्रताएँ दूर हो जाती हैं। इस प्रकार ये यौन-वासनाएँ बाहर निकलने का मार्ग ढूँढती हैं। इनका रूप बदलने से ही 'लोककथाएँ' उत्पन्न होती हैं। 'एक राजा की सात रानियाँ थीं।' सात रानियाँ ही क्यों? एक क्यों नहीं? क्योंकि मनुष्य की कामवासना एक नारी से पूरी नहीं होती। वह अनेक से अपने सम्बन्ध रखना चाहता है। उसकी यही वासना अपना चोलटा बदलकर आती है। 'मेरी सात रानियाँ' न कह कर वह अपने चेतन मन को छलता है। जब इस प्रकार 'लोककथा' में सात रानियों की चर्चा मनुष्य करता है तो वह राजा की जगह पर अपने को कल्पित करता है। इन मनोविश्लेषणवादियों का यही कहना है कि लोककथाओं की उत्पत्ति इसी अचेतन-मन में दबी कामवासना ही है जो अपने चोलटे को छिपाकर नक़ाब पहन कर बाहर आना चाहती है।

आलोचना—इस मत के अनुयायियों का यह कथन 'लोककथा' के सम्बन्ध में सही हो सकता है परन्तु हर स्थान पर ऐसा ही हो यह सम्भव नहीं। कुछ ही लोककथाओं के सम्बन्ध में यह बात लागू होती है सब के सम्बन्ध में नहीं।

(४) इच्छापूर्तिवाद (Doctrine of Wishfulfilment)—

मनोविश्लेषणवादियों के अनुसार अचेतन मन की दमित इच्छाएँ—चाहे वे यौन-सम्बन्धी हों या अन्य—पूर्ति चाहती हैं। यह पूर्ति स्वप्न, कल्पना आदि के माध्यम से होती है। अपनी इन अपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही मनुष्य साहित्य या कला-सृजन भी करता है। इसी की पूर्ति के लिए मानव ने लोककथाओं का ...। किया होगा जिनमें राक्षस, भूत-पिशाच, परियों आदि की कथाओं का जन्म होता है। मनोविश्लेषणवाद से अधिक उपयुक्त यह मत प्रतीत होता है।

(५) व्याख्यावाद (Explanatory Origin)—

पौराणिक कथाओं की भाँति ही लोककथाओं का कार्य अपने समय की रीतियों व्यवहारों, प्रथाओं तथा सामाजिक रूढ़ियों की मनोरंजक व्याख्या करना होता है। यहाँ तक कि चिकित्सा सम्बन्धी सिद्धान्तों की व्याख्या इन्हीं लोककथाओं के माध्यम से होती है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—चिकित्सा-शास्त्र में लहसुन को अमृत माना गया है। इसमें अम्ल को छोड़कर शेष सभी रस हैं। अतः संस्कृत में भी इसे 'रसोन' कहा गया है अर्थात जिसमें एक रस 'ऊन' (कम) हो। इस सम्बन्ध में कथा इस प्रकार है—सागर मंथन के अवसर पर अमृत निकला तो उसकी प्राप्ति के लिए देवता तथा असुरों में युद्ध होने लगा। तभी गरुड़ जी आकर उस अमृत कलश को उडाकर ले गए। ले जाते समय अमृत झलक कर कलश से नीचे गिरता भी गया। जहाँ गिरा वहीं वहीं लहसुन उत्पन्न हुआ। इस प्रकार लहसुन की उपयोगिता के लिए लोककथा का जन्म हुआ। इस प्रकार अन्य विषयों की व्याख्या करने के लिए भी लोककथाओं का जन्म हुआ।

आलोचना—इस व्याख्यावाद में कथा के अन्त में विधि-निषेध की चर्चा आई है। ऐसा होना कम चाहिए ऐसा नहीं होना चाहिए, इन वाक्यों से कथाओं का अन्त हुआ है। परन्तु कथा का प्रारम्भ तो इनसे भी पहले हो चुका है। इस प्रकार यह व्याख्यावाद कथा की उत्पत्ति के कारणों में से एक हो सकता है परन्तु निश्चित कारण नहीं।

(६) विकासवाद (Theory of Evolution)—

कथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में टायलर (Tylor) का मत है कि संसार में मानव समाज की आधारभूत मानसिक समानता (Psychical unity of mankind) के कारण सब स्थान के मनुष्यों का चिन्तन प्रायः एकसा होता है। अतः सभी स्थानों

पर एकसी कथाएँ प्राप्त होती हैं। सिड्रेला की एक कथा का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। सिड्रेला की सौतेली माँ उस पर अत्यधिक अत्याचार करती थी। एक बार सिड्रेला की सौतेली माँ तथा सौतेली बहिनों ने मिलकर उसे बन्द कर दिया और उसके साथ बुरा व्यवहार किया। परन्तु उसकी असली माँ की आत्मा ने तथा कुछ चूहों ने उसके बन्धन काट कर उसकी सहायता की। वह वहाँ से निकल भागी। भागकर वह अपने प्रिय राजकुमार से मिली और शादी कर आनन्द से रहने लगी। यह कहानी संसार में अलग-अलग रूपों में पाई जाती है और सैकड़ों रूपों में यह कहानी हमें मिलती भी है।

आलोचना—सौतेली माँ का अत्याचारी होना सब स्थानों पर एक-सा पाया जाता है। परन्तु इस चिन्तन की एकता को 'प्रसारवाद' द्वारा भी समझाया जा सकता है। अतः विकासवाद की सार्थकता न्यून हो जाती है। इसलिए यह सिद्धान्त भी अधिक उपयुक्त नहीं ठहरता।

(७) यथार्थवाद (Realism)—

आदिवासियों की यह प्रवृत्ति रही है कि वे यथार्थ घटनाओं का वर्णन बार-बार करते हैं। हर एक से वही घटना दुहराकर कहते हैं। इस प्रकार ये कथाएँ एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे के कानों तथा मुख से होकर ,बढ़-चढ़ कर, अपना रंग-रूप बदल कर एक नए ढंग में परिवर्तित हो जाती है। इसमें प्रायः अपने देश तथा जन-जाति की बातें जुड़ जाती हैं। इस प्रकार इसका रूप इतना बदल जाता है कि परिवर्तित घटना का पता लगाना अत्यधिक कठिन हो जाता है। इस प्रकार कथानक तो बदल जाते हैं साथ ही पात्र तथा शैली तक बदल जाती है। एक नई कथा ही जन्म ले लेती है जिसका आदि रूप यथार्थ ही होता था।

(८) समन्वयवाद—

उपर्युक्त सिद्धान्तों में से कोई भी सिद्धान्त लोककथाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पूर्ण नहीं माना जा सकता। प्रत्येक सिद्धान्त में कुछ दोष तथा अपवाद है। उपर्युक्त सिद्धान्तों में से चार सिद्धान्त प्रमुख हैं— १. प्रसारवाद २. प्रकृतिरूपकवाद ३. मनोविश्लेषणवाद ४. विकासवाद। **इन्हीं सिद्धान्तों को मिलाकर समन्वयवाद की स्थापना हमने की है। लोककथा की उत्पत्ति के मूल में ये ही चार सिद्धान्त प्रमुख हैं।**

भारत में लोककथा की परम्परा—

(१) **संस्कृत**—भारत वर्ष कहानियों की जन्मभूमि है अतः इसे कहानियों का देश भी कहा जाता है। कहानियाँ वैसे तो समस्त संसार में मिलती हैं परन्तु भारत तो कहानियों का मूल उद्गम ही है। वेद विश्वसाहित्य की प्राचीनतम पुस्तक है। वेद में न जाने कितने तत्त्व हैं जो कहानियों के रूप में हैं। ऋग्वेद के कई सूक्तों में जिन्हें

संवाद-सूक्त' कहते हैं ऋषि शुनःशेप तथा अन्य प्रसिद्ध कथाएँ उपलब्ध होती हैं। यमायमी और आश्विनी आदि की कथाएँ भी वेद में सर्वप्रथम देखने को मिलती हैं। इसके अतिरिक्त भार्गव, सुकन्या, च्यवन आदि की कथाओं का जन्मदाता भी वेद ही है।

पुराण को वेदों की व्याख्या माना गया है। बिना पुराणों के अध्ययन के वेद को नहीं समझा जा सकता ऐसा विद्वानों का मत है। वैदिक देवों की व्याख्या पुराणों में ही प्राप्त होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि वेदों की कहानियाँ पुराणों की कथाओं में आकर विकसित हुई हैं।

ब्राह्मण ग्रंथों में अनेक कथाएँ प्राप्त होती हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' में उर्वशी और पुरुरवा की प्रसिद्ध कथा है। शुनःशेप की कथा 'ऐतरेय ब्राह्मण' में वर्णित है। 'शाट्यायन ब्राह्मण' में महर्षि वृश की कथा है। 'शतपथ ब्राह्मण' में ही दधीचि की अत्यन्त लोकप्रिय कथा है।

ब्राह्मणों के पश्चात् उपनिषदों में भी अनेक कथाएँ उपलब्ध होती हैं। उपनिषदों में अगस्त्य-लोपामुद्रा, गार्गी-याज्ञवल्क्य, सत्यकाम, अश्वपति आदि अनेक लोकप्रिय कहानियाँ हैं। कठोपनिषद् तो कहानियों का ही ग्रन्थ है। नचिकेता की विख्यात कथा इसी का वर्ण्य-विषय है। अग्नि और यम की कथा भी जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है इसी उपनिषद् में उपलब्ध होती है।

संस्कृत में लोककथाओं का अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ गुणाढ्य द्वारा रचित पैशाची भाषा में 'बृहत्कथा' है। संस्कृत के नाटककारों का यह प्रेरणास्रोत रहा है। शूद्रक, भास, हर्ष आदि अनेक साहित्यकारों को भव्य कथानक देने वाला यही ग्रंथ है। संस्कृत में इसके तीन अनुवाद प्राप्त होते हैं—

(१) बृहत्कथा श्लोकसंग्रह—बुधस्वामी इसके रचयिता हैं। इसमें २८ सर्ग तथा ४५३९ श्लोक हैं।

(२) बृहत्कथा मंजरी—आचार्य क्षेमेन्द्र इसके रचयिता हैं। बृहत्कथा श्लोकसंग्रह ९वीं शताब्दी तथा बृहत्कथा मंजरी ग्यारहवीं शताब्दी की रचना मानी जाती है। इसमें ७५०० श्लोक हैं।

(३) कथा-सरित्सागर—आचार्य क्षेमेन्द्र के समकालीन सोमदेव इसके रचयिता हैं। इसमें कुल मिलाकर २४,००० श्लोक हैं। इसका अंग्रेजी में अनुवाद पेंजर द्वारा 'ओशन ऑफ स्टोरी' के नाम से किया गया है।

इस 'बृहत्कथा' को पैशाची में 'बड्डकहा' कहा जाता है। वास्तव में 'कथा-सरित्सागर' तो इसका संस्कृत अनुवाद है। इसमें वासवदत्ता, सुवर्णरेखा और वैतरणी की लोककथा उपलब्ध होती है। देवस्मिता और गुहसेन की कथा भी अत्यन्त प्रसिद्ध

कथा है। इसमें अठारह खंड हैं और प्रत्येक खंड में कई कथाएँ हैं। वास्तव में यह लोककहानियों का ही संग्रह है।

'पंचतंत्र' का संस्कृत साहित्य में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका भी पश्चिम की अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। इन कहानियों ने योरप की कहानियों को अत्यधिक प्रभावित किया है। यह भारतीय कहानियों का सबसे मौलिक और प्राचीन ग्रंथ माना जाता है। इसके लेखक विष्णु शर्मा हैं जिन्होंने राजकुमारों को नीति की शिक्षा दी है। यह ग्रन्थ पाँच खण्डों में (या तन्त्रों में) विभाजित है अतः इसका नाम 'पंचतंत्र' पड़ा है। लोककथा की दृष्टि से यह अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

'हितोपदेश' का स्थान पंचतंत्र के बाद आता है। नारायण पंडित द्वारा रचित यह रचना १४वीं शताब्दी की है। 'पंचतंत्र' के आधार पर ही ये नीतिकथाएँ रची गईं। यह अत्यन्त ही मनोरंजक एवं लोक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

शिवदास द्वारा रचित 'वैताल पंचविंशतिका' राजा विक्रम से सम्बन्धित पच्चीस कथाओं का संग्रह है। इस ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद 'वैताल पचीसी' के नाम से अत्यन्त ही लोकप्रिय है। इसमें राजा विक्रम की व्यावहारिक बुद्धि तथा प्रत्युत्पन्न-मतित्व का पर्याप्त परिचय मिलता है।

'सिंहासन द्वात्रिंशिका' का भी हिन्दी में अनुवाद किया जा चुका है। इसकी कथाएँ भी अत्यन्त ही मनोरंजक एक लोकप्रिय हैं।

सत्तर कहानियों का 'शुकसप्तति' संग्रह अत्यन्त ही लोकप्रसिद्ध है। ईसा की चौदहवीं शताब्दी में ही इसका अनुवाद 'तूतीनामा' के नाम से हो चुका है। इसके अतिरिक्त भट्ट विद्याधर द्वारा रचित 'माधवानल' तथा विद्यापति द्वारा रचित 'पुरुष-परीक्षा' भी लोककथा की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखती हैं। 'कथार्णव' शिवदास द्वारा रचित है जिसमें मूर्ख और चोरों की पैंतीस रोचक कथाएँ हैं। इस प्रकार संस्कृत में इन कथाओं का अक्षय भण्डार है।

२. पालि—कथा की दृष्टि से पालि में जातकों का स्थान महत्त्वपूर्ण है। जातकों में भगवान बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाएँ हैं। इन कथाओं में राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार, पशु-पक्षी सभी आ जाते हैं। इसके कहने वाले स्वयं भगवान बुद्ध ही हैं। ये कहानियाँ नीति प्रधान हैं। इसकी शैली पंचतंत्राख्यान जैसी है। सुत्तपिटक के दीघनिकाय और मज्झिमनिकाय में कई कथाएँ हैं। थेरगाथा तथा थेरीगाथा में भी कई सुन्दर कथाएँ हैं।

३. जैनसाहित्य (अपभ्रंश) में बौद्धसाहित्य की अपेक्षा अधिक कथाएँ मिलती हैं। 'नायाधम्म कहाओं' में अनेक रूपक कहानियाँ है। 'उवासगदसाओं' में

दस श्रावकों की मनोरंजक कथाएं हैं। पउम चरिय '(पद्मचरित्र)' और 'वसुदेवहिंडिका' में राम और कृष्ण की चरित्र-गाथाएं हैं। इसमें 'बृहत्कथा' की तरह ही अनेक कथाएँ हैं। कुछ धार्मिक कथाएं ऐसी भी हैं जिनको रोमांटिक रूप में प्रस्तुत किया गया है यथा समराइच्चकहा, उपमितिभव, प्रपंचकथा, तरंगवती आदि। धूर्ताख्यान तथा धर्म-परीक्षा भी इसी प्रकार के ग्रंथ हैं।

(४) हिन्दी—हिन्दी में लोककथाओं का साहित्य अत्यन्त उच्चकोटि का एवं प्रसिद्ध है। डा० सत्येन्द्र ने अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिसमें लोकवार्ता की परम्परा मिलती है। उन्होंने लिखा है—''और अब हम हस्तलिखित ग्रन्थों के शोध के पन्ने पलटते हैं तो हमें आश्चर्य में पड़ जाना पड़ता है। अनेकों पुस्तकें हैं जो इस लोकवर्ता को प्रकट करते हैं।''[1]

डा० सत्येन्द्र ने विषय प्रतिपादन की दृष्टि से उन पुस्तकों को साधारणतः सात विभागों में बाँटा है—

(१) लोककहानी—इसमें वे पुस्तकें आवेंगी जो लोकप्रचलित कहानियों को कहानियों के लिये ही रखती हैं।

(२) धर्ममहात्म्यकथा—इसमें व्रत से सम्बंधित कथाएँ, व्रत के महात्म्य को प्रकट करने वाली कथाएँ तथा ऐसी कथाएं आती हैं जिनका धार्मिक महत्व होता है।

(३) अवदान (Legends)

(४) वीरगाथाएं (Ballads)

(५) साधुकथा (Hageological)

(६) पौराणिक कथाएं (Mythological)

(७) उन कथाओं का वर्ग है जिनमें विविध लौकिक संस्कारों का उल्लेख है।

(८) विविध

कहानियों में सिंहासन बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, माधवानल-कामकंदला, कथा चार दरवेश, हितोपदेश, माधवविनोद, शुकबहत्तरी प्रसिद्ध कहानियों से सम्बन्ध रखते हैं। माधव विनोद में मालती-माधव की कहानी है। मूल ढोला तथा सैता का ढोला 'ढोला-मारू' की कहानी से सम्बन्धित है। विक्रम बिलास, किस्सा, कथा-संग्रह, मनोहर कहानियां विविध कहानियों के संग्रह हैं। किसी किसी में सौ तक कहानियां हैं।[2]

'कनकमंजरी' की कहानी लोकवार्ता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार 'राजा चित्रमुकुट' की कथा भी अत्यन्त लोकप्रिय कथा है। उस्मान की 'चित्रा-वली' मृगेन्द्र की 'प्रेम-पयोनिधि' चन्दन और मलयगिरि रानी की कहानी, अन्बा

---

१. ब्रजलोकसाहित्य का अध्ययन—पृ० ४२१.

२. वही—पृ० ४२१.

मालिनी और सरदार और नीर की कहानी लोकवार्ता की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मृगावती तो सूफी ढंग की प्रेम कहानी ही है।

इन हस्तलिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त ऐसा लोकवार्ता साहित्य भी है जो ग्रन्थों के रूप में प्राप्त हुआ है। ये 'धर्म-महात्म्य-कथा' सम्बन्धी हैं। इनमें गणेश जू की कथा, श्री सत्यनारायण की कथा, पूरनमासी और शुक्र की कथा, शिवव्रत कथा, एकादशी की कथा आदि अनेक कथाएँ हैं। जैनियों के व्रतों से सम्बन्धित भी अनेक कथाएँ उपलब्ध होती हैं। सूर्य महात्म्य तथा व्रतकथा-कोष कथाओं में ऐसे संग्रह हैं जिनमें व्रत के महत्त्व पर बल दिया गया है। धार्मिक दृष्टि से लिखी गई कथाएँ भी अनेक हैं जिनमें जैनियों का आदि पुराण है। महापद्म पुराण भी जैनियों का ही है।

सन्तकथा सम्बन्धी भी कुछ कथाएँ प्राप्त होती हैं जिनमें किसी महात्मा के चरित्र का दर्शन होता है। कबीर, नामदेव, पीपा, यशोधर आदि कथाएँ इसी प्रकार की हैं। इनमें चमत्कारों का अधिक वर्णन है जो लोकवार्ता के अंग हैं। इसी प्रकार किसी वीर पुरुष के वीर चरित्र का भी वर्णन है। ऐसे चरित्र जब लोकवार्ता पद्धति से लिखे जाते हैं तो उन्हें 'अवदान' कहते हैं। हम्मीर, कन्हावतीकथा की बात इसी प्रकार की कथाएँ हैं।

परन्तु अधिकांश कहानियाँ जैनियों की ही हैं जो 'धर्मोपदेशता' का अंग मानी जाती हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से हिन्दी में लिखित तथा मौखिक लोक-कथाओं से हमारा परिचय हो जाता है।[1]

लोककथाओं का वर्गीकरण—

यह पहले बताया जा चुका है कि लोककथाएँ परम्परागत होती हैं। यह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त होती है। यह परम्परा विशुद्ध रूप से मौखिक ही रहती है। अतः इसका क्षेत्र इतना व्यापक और विविध हो जाता है कि उसकी पहचान किसी एक कसौटी पर करना असंभव हो जाता है। लोककथा की विविध विधाएँ देशकाल की विविध परिस्थितियों के अनुसार प्रचलित हैं जिनमें पुराणकथाएँ दन्तकथाएँ, अनुश्रुतियाँ, परीकथाएँ, पशु-पक्षी-विषयक नीतिकथाएँ, स्थानीय गाथाएँ, वीरगाथाएँ आदि आ जाती हैं। वैसे लोकवार्ता-विदों के सम्मुख यह एक समस्या रही है कि समस्त लोककथाओं को संकलित कर विभिन्न कोटियों में वर्गीकृत किया जाए। संसार के लोकवार्ता-विदों ने अपनी-अपनी भाषाओं तथा क्षेत्रों की लोककथाओं का वर्गीकरण करने का भरसक प्रयत्न किया है। प्रयत्न यही किया गया है

---

१. विस्तार के लिए देखिए—ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन—पृ०४२२—४५१.

कि वर्गीकरण वैज्ञानिक एवं तार्किक हो। इस सम्बन्ध में 'फोकलोर सोसायटी ऑफ इंग्लैंड' के संस्थापक सर जार्ज लारेन्स गोमे का नाम उल्लेखनीय है।

<u>पाश्चात्य वर्गीकरण</u>—

सर जार्ज गोमे ने समस्त कथाओं को चार विभागों में वर्गीकृत किया है—

१. लोककथा (Folk-tales)

२. वीरगाथा (Hero tales)

३. वीरगाथा गीतिकाव्य (Ballads)

४. स्थान विशेष सम्बन्धी किम्वदन्ती या अनुश्रुति (Place Legends).

एन्टी आर्ने का वर्गीकरण अत्यन्त ही व्यापक है। उन्होंने समस्त कथाओं को तीन प्रमुख विभागों में वर्गीकृत किया है—

१. पशु-पक्षीकथा (Animal tales)

२. लोककथा (Folk-tales)

३. परिहास-कथा तथा चुटकुले (Jökes and Anecdotes).

एन्टी आर्ने ने तीन सौ कथा-रूपों को पशुपक्षी-कथा के अन्तर्गत, नौ सौ कथा-रूपों को लोककथा के अन्तर्गत तथा बारह सौ कथारूपों को परिहास-कथा तथा चुटकुलों के अन्तर्गत रखा है। एन्टी आर्ने के वर्गीकरण में पचीस-सौ कथा-कोटियाँ हैं।[1]

१. स्टिथ थामसन का वर्गीकरण—

(अ) गाथाएँ, स्थानीय या परम्परागत कथाएँ—इसके अन्तर्गत सृष्टि-उत्पत्ति-विषयक कथाएँ, परियों, भूत-प्रेतों, बौनों, अतिमानवीय, अर्द्ध-ऐतिहासिक स्थानीय कथाएँ आती हैं।

(आ) परीकथाएँ—इसे अंग्रेजी में 'फेयरीटेल' कहा जाता है जो जर्मन 'मार्खे' (Merchen) के लिए प्रयोग जाता किया है। ऐसी कथाएँ कल्पना तत्त्व पर आधारित रहती हैं।

(इ) पशुपक्षी-कथाएँ—इनमें पशुपक्षियों का मानव समान व्यवहार दिखाया जाता है। इनमें उपदेश की प्रधानता भी रहती है।

(ई) नीतिकथाएँ—पशुपक्षियों की कथाओं में भी नीति-तत्त्व मिलते हैं। जिन पशुपक्षी की कथाओं में नीति-तत्त्व प्रधान रूप से मिलते हैं उन्हें नीति-कथाएँ कहा जाता है।

---

१. देखिए—हिन्दी कथाओं में लोक तत्त्व—इन्दिरा जोशी द्वारा उद्धृत आर्ने का वर्गीकरण—पृ० २१।

(उ) पुराणकथाएँ—इस सम्बन्ध में पर्याप्त मत-विभिन्नता मिलती है। इसे लोककथा माना जाय या नहीं। पीछे हमने इसका पर्याप्त विवेचन किया है।

थॉमसन के इस वर्गीकरण को भारतीय लोकवार्ता-विदों ने आदर की दृष्टि से देखा है। फिर भी इसमें अनेक भ्रांतियाँ रह गई हैं। कारण स्पष्ट है कि थॉमसन महोदय सुदूरदेशीय थे। फिर भी इनके वर्गीकरण में दम है। इसके अतिरिक्त थॉमसन ने योरुप में वर्गीकृत लोककथा के भेदों को इस प्रकार प्रकट किया है—१. मार्खें (लोककथा), २. सागेन (वीरगाथा), ३. लीजेन्ड्स (गाथाएँ), ४. ट्रेडिशन्स (परम्परागत कथाएँ), ५. फेबल्स (नीतिकथाएँ), ६. एनिमल टेल्स (पशुपक्षी-कथाएँ), ७. मिथ्स (पौराणिक कथाएँ) आदि।[1]

भारतीय वर्गीकरण—

प्राचीन वर्गीकरण—

भारत के प्राचीन आचार्यों ने कथाओं को दो भागों में वर्गीकृत किया है—

(१) कथा और (२) आख्यायिका।

कथा का जन्म कवि की कल्पना द्वारा होता है जबकि आख्यायिका का आधार ऐतिहासिक इतिवृत्त होता है। वास्तव में आख्यायिका किसी ऐतिहासिक घटना को आधार बनाकर लिखी जाती है। बाणभट्ट की 'कादम्बरी', दण्डी का 'दशकुमार चरित' आदि कथा के उदाहरण हैं और 'हर्ष चरित' आख्यायिका का।

प्रसिद्ध ध्वनिशास्त्री आनन्दवर्धनाचार्य ने कथा के तीन भेद किये हैं—१. परिकथा, २. सकलकथा और ३. खण्डकथा। केवल इतिवृत्त मात्र को परिकथा कहते हैं। इसमें रसपरिपाक के लिए कोई स्थान नहीं रहता। ऐसी कथाओं में वर्णन की विचित्रता पाई जाती है। अभिनव गुप्त का भी यही मत है। सकलकथा में बीज (प्रारम्भ) से फलपर्यन्त समस्त कथा का सन्निवेश उपलब्ध होता है। हेमचन्द्र ने इस कथा को चरित का नाम दिया है और उदाहरण के रूप में 'समरादित्य कथा' का उल्लेख किया है। खण्डकथा एक देश प्रधान होती है।[2]

डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने आनंदवर्धन के अतिरिक्त हरीभद्राचार्य का भी नया वर्गीकरण प्रस्तुत किया है जो अत्यन्त ही मौलिक है। इनके अनुसार कथाओं के चार प्रकार है—१. अर्थकथा, २. कामकथा, ३. धर्मकथा और ४. संकीर्ण कथा।

"अर्थकथा का विषय अर्थ की प्राप्ति है। कामकथा में प्रेम का वर्णन अपनी प्रधानता रखता है। इस प्रकार की कथाओं की संख्या अत्यधिक है। धर्मकथा धार्मिक

---

१. स्टॅन्डर्ड डिक्शनरी ऑव फोकलोर—माइथोलोजी एण्ड लीजेन्ड—(भाग २) पृ० ४०६।
२. लोकसाहित्य की भूमिका—कृष्णदेव उपाध्याय—पृ० १२८ (प्र० सं०)।

आख्यानों से सम्बन्ध रखती है। इस कथा की अभिलाषा करने वाले श्रेष्ठ तथा धार्मिक मनुष्य बतलाये गये हैं। × × × परन्तु दोनों लोकों की इच्छा रखने वाले संकीर्ण कथा के प्रेमी मध्यम कहे गये हैं।[१]

आधुनिक वर्गीकरण—

डा० सेन का वर्गीकरण—

डा० दिनेशचन्द्र सेन जो बंगप्रदेश की लोककथाओं के अनुसंधान कर्ता हैं 'बंगाल की लोकवार्ता साहित्य' (१६२०) नामक ग्रन्थ में लोककथाओं को चार विभागों में वर्गीकृत किया है—

(१) रूपकथाएं (Supernatural tales)—ऐसी कथाएं जिसमें अमानवीय तथा अप्राकृतिक,अद्भुत वस्तु एवं घटना का वर्णन होता है, रूपकथाएं कहलाती हैं। इसके अन्तर्गत भूत-प्रेत, दानव-देवता आदि की कथाएं आती हैं। अलौकिकता इसका प्रधान अंग माना जाता है। ऐसी कथाएं प्राय: सभी प्रांतों में प्राप्त होती हैं।

(२) हास्यकथा (Humorous tales)—ऐसी कथाओं को सुनकर श्रोताओं में हास्य की उत्पत्ति होती हो, हास्यकथाएं कहलाती हैं, । बालकों को यह अत्यधिक आनन्द देती हैं।

(३) व्रतकथा (Religious & tales)—ये कथाएं किसी विशेष पर्व या त्यौहारों पर सुनाई जाती हैं।

(४) गीतकथा (Nursery tales or Cradle tales)—ये कथाएं बच्चों को पालने में झुलाते समय कही जाती हैं। बूढ़ी दादी या नानी बच्चों को गोद में सुलाते समय इन्हीं कहानियों को कहती हैं।

डा० सत्येन्द्र का वर्गीकरण—

डा० सत्येन्द्र ने स्थूल दृष्टि से कहानियों को आठ बड़े भागों में बाँटा है।[२]

१. गाथाएं, २. पशुपक्षी सम्बन्धी अथवा पंचतंत्रीय, ३. परी की कहानियाँ, ४. विक्रम (Adventures) की कहानियाँ, ५. बुझौवल सम्बन्धी, ६. निरीक्षण गर्भित कहानियाँ, ७. साधु-पीरों की कहानियाँ (Hageological) और ८. कारण निर्देशक कहानियाँ (Aeteological) तथा ६. बाल कहानियाँ।

डा० सत्येन्द्र ने गाथाओं के अन्तर्गत उन सभी कहानियों को ले लिया है जो धर्मगाथा, लोकगाथा, पँवाड़ा या वीरगाथा कही जाती हैं। पशुपक्षी-सम्बन्धी अथवा पंचतंत्रीय कहानियों को उन्होंने दो भागों में बाँटा है। एक साभिप्राय, जिनसे कोई न कोई

---

१. लोकसाहित्य की भूमिका—कृष्णदेव उपाध्याय पृ०१२८—१२६। (प्र०सं०)

२. [illegible]

शिक्षा निकलती है; दूसरी वे जिनसे कोई शिक्षा नहीं निकलती। डा० सत्येन्द्र ने परी की कहानियों के भी कई वर्ग किए हैं। एक वर्ग ऐसा है जो यथार्थ में परियों, अप्सराओं, विद्य-कन्याओं विद्याधारियों आदि से सम्बन्धित है। दूसरे वर्ग में वे कहानियाँ आती हैं जिनमें दानवों का उल्लेख है। तीसरा वर्ग ऐसा है जिनमें डाकिने या जादू-चमत्कार की कहानियाँ आती हैं। विक्रम की कहानियों में वीर नायक का उज्ज्वल तथा यशोमय चरित्र प्रदर्शित किया जाता है। इसके भी दो भाग किए गए हैं। एक इतिहास-पुरुषाश्रित (आवदान) तथा दूसरा अनैतिहासिक-पुरुषाश्रित। बुझौवल कहानियाँ भी दो प्रकार की होती है। एक में तो समस्याओं, नीतिपरक बातों को सुलझाने तथा परीक्षण करने का उद्योग रहता है और दूसरे में समस्याएँ या पहेलियाँ शर्त के रूप में आती हैं। निरीक्षणगर्भित कहानियों में किसी के स्वभाव, धर्म आदि के सम्बन्ध में जो ज्ञान हुआ है वह रहता है। इनका रूप प्रायः चुटकुलों का सा रहता है। विविध जातियों से सम्बन्ध रखनेवाली कथाएँ भी इसके अन्तर्गत आती हैं। साधु-पीरों की कहानियाँ पहुँचे हुए साधु-पीरों की कहानियाँ है। इनमें साधु-पीरों द्वारा संकट-निवारण, पुत्र-लाभ कराना आदि चमत्कारों का उल्लेख रहता है। कारण-निर्देशक कहानियों में व्यापार का कारण प्रकट किया जाता है।

इन आठ बड़े वर्गों के अतिरिक्त डा० सत्येन्द्र ने बालकहानी का एक और वर्ग स्वीकार किया है। उन्होंने इन कहानियों की भूमि को मनुष्य की तीन वृत्तियों में बाँटा है। १. विश्वास-प्रतिपादक-वृत्ति, २. आश्चर्य-उद्दीपक-वृत्ति और ३. समाधान-कारक-वृत्ति। ये तीनों वृत्तियाँ विकसित अवस्था में ही प्रतिफलित होती हैं। अबोध बाल-मानस की वृत्तियाँ इनसे संतुष्ट नहीं होती। उनका संसार छोटा होता है और वे उसी जगत की वस्तु से अपना साहचर्य बनाए रखना चाहते हैं। उनका कथानक संक्षिप्त, कल्पनातिरेक कौतूहल-उत्पादक होता है।

उपर्युक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त डा० सत्येन्द्र ने वस्तु के स्वभाव की दृष्टि से कहानियों को तीन विशद वर्गों में भी बाँटा है—

१. गाथाएँ (मिथ), २. वीरगाथाएँ अथवा अवदान (लीजेन्ड), ३. कहानियाँ इस समस्त वर्गीकरण को उन्होंने एक फलक द्वारा प्रदर्शित किया है जो इस प्रकार है:—[1]

---

1. लोकसाहित्य-विज्ञान—पृ० २११।
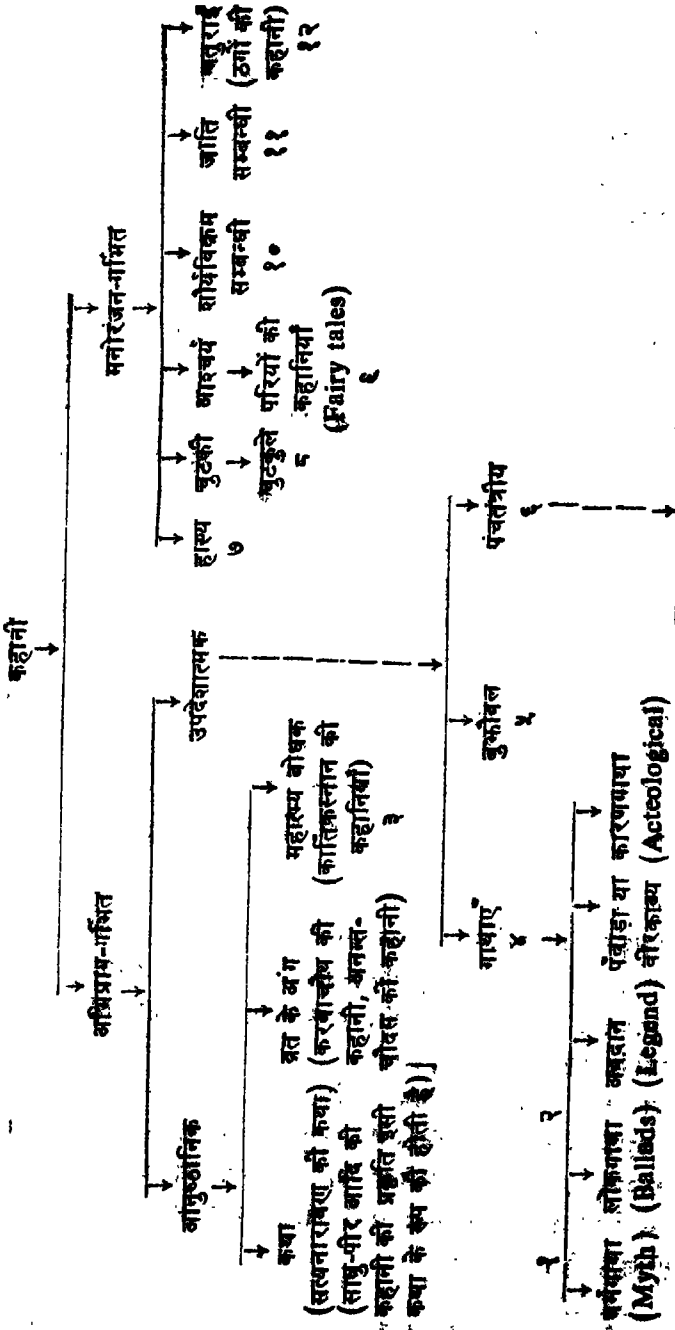
यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि जर्मनी शब्द 'सागेन' (Sagen) के अन्तर्गत इस वर्गीकरण की संख्या १, २, ३ तथा ४ आ जाती हैं। ९ तथा १० भी कभी-कभी आ जाती हैं। जर्मनी शब्द मार्खे (Marchen) परियों की कहानियों के लिए आता है। अंग्रेजी शब्द ट्रेडिशन के क्षेत्र में १०, ११ संख्या वाली कहानियाँ आवेंगी।

डा० उपाध्याय का वर्गीकरण—

डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने वर्ण्य-विषय की दृष्टि से लोककथाओं को छः वर्गों में विभाजित किया है—[१]

१. उपदेश-कथा
२. व्रत-कथा
३. प्रेम-कथा
४. मनोरंजन-कथा
५. सामाजिक-कथा
६. पौराणिक-कथा

डा० उपाध्याय का मत है कि लोक-साहित्य में जो कथाएं उपलब्ध होती हैं वे अधिकांशतः प्रथम वर्ग से सम्बन्धित हैं। 'पंचतंत्र' तथा 'हितोपदेश' की कथाएँ उपदेशात्मक ही हैं। 'हितोपदेश' शब्द का अर्थ ही कल्याणकारी उपदेश है। यद्यपि ये कहानियाँ पशु-पक्षियों के मुख से निकली हैं तथापि इनमें उपदेश अन्तर्निहित है।

धार्मिक क्रिया-कलापों में व्रतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सत्यनारायण की कथा, गणेश जी की कथा, अनन्त चौदस की कथा, करवाचौथ की कथा, अहोई आठें की कथा, गनगौर की कथा आदि व्रतकथा के अन्तर्गत आती हैं।

प्रेमकथाओं के अन्तर्गत माता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन आदि के प्रेम की सुन्दर झाँकी देखने को मिलती है। लोककथाओं में दाम्पत्य-प्रेम का वर्णन नितांत पवित्र और शुद्ध है। उनमें कामवासना की तनिक भी गंध नहीं।

कुछ कथाएँ केवल मनोरंजन-प्रधान हैं। बालक इन कथाओं को बड़े चाव से सुनते हैं।

सामाजिक कथाओं में समाज का वर्णन मिलता है। राजा का न्याय, बहु-विवाह, बाल-विवाह आदि विषयों का उल्लेख इन कथाओं में उपलब्ध होता है।

लोककथाओं में पौराणिक कथाएँ अधिक-मात्रा में उपलब्ध हैं। शिव, दधिचि, हरिश्चन्द्र, नल-दमयन्ती, गोपीचन्द, भरथरी, सरवनकुमार, सारंगा आदि कथाएँ पौराणिक कथाओं के अन्तर्गत ही आती हैं।

इस प्रकार डा० उपाध्याय ने अपना वर्गीकरण करते हुए इन कहानियों के अतिरिक्त अन्य कहानियों को इन्हीं श्रेणियों में अन्तर्भुक्त करने का प्रस्ताव रखा है।

उपर्युक्त वर्गीकरणों में डा० सत्येन्द्र का वर्गीकरण अधिक व्यापक तथा अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक भी है। प्रायः सभी लोककथाओं का अन्तर्भाव उनके वर्गीकरण में हो जाता है।

---

१. लोकसाहित्य की भूमिका पृ० १२६—१३१

हमने लोक-कथाओं को वर्ण्य-विषय की दृष्टि से दस मुख्य भागों में वर्गीकृत किया है :—

नीति तथा उपदेश कथा:—अधिकांश लोककथाएँ नीति तथा उपदेशपरक हैं। उपदेश की प्रवृत्ति इन कथाओं का मूल है। पंचतंत्र की कथाएँ तथा हितोपदेश की कथाएँ इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं। इन कहानियों में पशु तथा पक्षियों के माध्यम से नीति तथा उपदेश देने की प्रवृति के दर्शन होते हैं। इन कहानियों के माध्यम से लोककथाकार समाज को नीति-पालन का आदर्श उपदेश देता है।

२. वीरकथा:—इन कथाओं में किसी इतिहास-प्रसिद्ध नायक की यशोगाथा एव पराक्रम का वर्णन मिलता है। कथाएँ ऐसी भी हैं जिनके पात्र अनैतिहासिक हैं। वीर गाथाओं को भी इनके अन्तर्गत रखा जा सकता है।

३. परीकथा:—परी कथाओं में परियों की क्रियाओं व स्वभाव का आश्चर्य-जनक एवं कौतूहल-जनक वर्णन मिलता है। कहीं अप्सराओं का वर्णन भी है तो कही दिव्य कन्याओं का। दानव तथा डाहिनों का भी वर्णन इन कथाओं में मिलता है जिनमें जादू तथा चमत्कारिक क्रियाओं का वर्णन है।

४. धार्मिककथा:—भारतीय लोकजीवन में धर्म का स्थान अत्यधिक महत्त्व-पूर्ण है। व्रत तथा अन्य धार्मिक विधि-विधानों से सम्बन्धित अनेक लोककथाएँ प्राप्त होती हैं। विशेष त्यौहार, व्रत, तथा धार्मिक अनुष्ठानों पर विशेष कथाएँ हैं। इन व्रतों के अवसर पर इन कथाओं को पढ़ने और सुनने का एक अलग महत्त्व है। इनमें सत्यनारायण, अनन्तचौदस, करुआ चौथ, अहोई आठें, गणेश चौथ आदि अनेक कथाएँ हैं। इन कथाओं का इतना अधिक महत्व है कि ये लोकजीवन का आवश्यक अंग बन गई है।

५. प्रेमकथा:—इन कथाओं में 'प्रेम' को अधिक महत्व दिया गया है। इनमे लोक के पारीवारिक प्रेम के सभी पहलुओ का बड़ी सुन्दर रीति से स्पर्श किया गया है। माता तथा पुत्र के प्रेम की प्रगाढ़ता, पति-पत्नी के प्रेम की अनन्यता, भाई-बहन के प्रेम की त्यागमय दृढ़ता आदि इन कहानियों में सहज एवं स्वाभाविक रूप में चित्रित है। दाम्पत्य प्रेम का अलौकिक आदर्श—जो काम-वासना से हीन है—इन कथाओं में प्रदर्शित हुआ है।

६. बालकथा:—इन कथाओं में बालकों के मनोरंजन की कथाएँ हैं। डा० सत्येन्द्र ने इन कथाओं का विभाजन, मुख्य विभाजन से अलग किया है। वास्तव में ये कहानियाँ बाल-मनोवृत्ति की सूचक हैं। संगीतात्मकता इन कहानियों का प्राण है। इसके अतिरिक्त कौतूहल, चमत्कार, कल्पना इन कथाओं के विशेष रोचक पहलू हैं।

७. **सामाजिककथाः**—जिनमें समाज की समस्याओं का चित्रण तथा उन्हें सुलझाने का विधान हो वे सामाजिक कथाएँ कहलाती हैं। इनमें समाज की प्रथाएँ, सामाजिक सम्बन्ध, सामाजिक स्थिति आदि का चित्रण मिलता है।

८. **रूपकथाः**—इन कथाओं के अन्तर्गत विशुद्ध रूप से भूत-प्रेत, दानव, डाहिनी आदि की कथाएँ आती हैं। इनमें अमानवीय, अप्राकृतिक तथा अद्भुत वस्तुओं का वर्णन होता है। अलौकिकता का पुट इसका आवश्यक अंग है।

९. **समस्यात्मककथाएँः**—डा० सत्येन्द्र ने इन कथाओं को बुझौवल या पहेलियों के अन्तर्गत रखा है। वास्तव में इन कथाओं में कुछ समस्याएँ होती हैं जिनको सुलझाने का प्रयास किया जाता है। इनमें समस्याएँ शर्त के रूप में भी रखी जाती हैं।

१०. **पीरकथाः**—सिद्धों, सन्तों तथा पीरों की कथाओं को पीर-कथा कहा जाता है। इनमें सन्तों तथा पीरों के आश्चर्यजनक चमत्कारों का वर्णन मिलता है। संकट-निवारण, पुत्र-प्राप्ति आदि से सम्बंधित अनेक कथाएँ पीर-कथाएँ ही हैं। पीरों के आशीर्वाद एवं चमत्कार से ही समाज तथा व्यक्ति का संकट दूर होता है तथा वह ऐश्वर्यवान् तथा पुत्रवान् भी होता है।

लोककथाओं की विशेषताएँ—

डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने लोककथाओं की विशिष्टताओं को निम्नांकित आठ भागों में विभक्त किया है :—[1]

(१) प्रेम का अभिन्न पुट।
(२) अश्लील श्रृंगार का अभाव।
(३) मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों से निरन्तर साहचर्य।
(४) मगल कामना की भावना।
(५) सयोग में कथाओं का अन्त।
(६) रहस्य रोमांच एवं अलौकिकता की प्रधानता।
(७) उत्सुकता की भावना।
(८) वर्णन की स्वाभाविकता।

१. प्रेम का अभिन्न पुट—

लोककथाओं में प्रेम का अभिन्न पुट पाया जाता है। इन लोककथाओं में प्रेम का वर्णन स्वाभाविक रूप में हुआ है। प्रेम के कई रूपों का चित्रण इन कथाओं में मिलता है। कहीं माता-पुत्री का वात्सल्य वर्णन है तो कहीं भाई-बहन का पवित्र प्रेम। माँ तथा बेटे का भी वात्सल्य-प्रेम इन कथाओं में सहज एव सरल रूप में हुआ है। पति-पत्नी का भी पवित्र तथा विलास-रहित प्रेम इन कथाओं में अलौकिक एवं

१. लोकसाहित्य की भूमिका—पृ० ११२—(प्र० सं०)।

आदर्श रूप में चित्रित हुआ है। प्रेममार्गी कवियों की प्रेमगाथाएँ इसी आधार-शिला पर टिकी हैं। इस प्रकार इन कथाओं में प्रेम का वर्णन अधिक मात्रा में उपलब्ध होता है। इसके साथ ही साथ ये प्रेम-वर्णन अपने में एक आदर्श हैं।

२. अश्लीलता का अभाव—

आदर्श एवं अलौकिक प्रेम के कारण इन कथाओं में कहीं भी अश्लील एवं कुत्सित प्रेम के वर्णन नहीं होते। कहीं भी मन की घुटन, दमित-वासनाएँ, विलास-प्रिय प्रेम इन कथाओं का वर्ण्य-विषय नहीं बन पाया। न तो कहीं सौंदर्य लोभ है और न कहीं काम-लिप्सा। डा० उपाध्याय के अनुसार ग्रामीणों द्वारा गढ़ी गई होने पर भी इन कथाओं में कहीं भी ग्राम्यता नहीं आने पाई। प्रेम का भद्दा प्रदर्शन जो आधुनिक कहानियों की विशेषता है, लोककथाओं में उपलब्ध नहीं होता।

३. मूल प्रवृत्तियों से निरन्तर साहचर्य—

लोककथाओं में मानव-जीवन की मूल प्रवृत्तियों से निरन्तर साहचर्य स्थापित किया गया है। डा० उपाध्याय का मूल प्रवृत्तियों से तात्पर्य उन वस्तुओं से है जो मानव के जीवन में अन्वय-व्यतिरेक से अनुस्यूत हैं। सुख-दुःख, आशा-निराशा, काम, क्रोध, मद, लोभ, एषणा आदि ऐसी ही प्रवृत्तियाँ हैं जो सदा से बनी रही हैं और बनी रहेंगी। इन्हीं मूल प्रवृत्तियों का वर्णन इन कहानियों में उपलब्ध होता है। आधुनिक कहानियाँ क्षणिक घटना को लक्षित कर लिखी जाती हैं अतः उनका प्रभाव स्थायी नहीं होता। लोककथाएँ विशेष घटना या पात्र को लेकर नहीं लिखी जातीं, जीवन की मूल प्रवृत्तियों को लेकर लिखी जाती हैं। इन कथाओं की घटनाओं में एक शाश्वत सत्य रहता है। 'मानिकचन्द' की कथा में भाग्य-परिवर्तन को सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है।

४. मंगल-कामना की भावना—

इन कथाओं की प्रधान विशेषता मंगल-कामना की भावना है। इन कथाओं में यह विशेष बात होती है कि इनमें संसार के कल्याण की भावना निहित रहती है। इन कथाओं का कथाकार लोक में शांति की कामना करता है। संसार में सभी को सुखी देखना चाहता है। उसकी यही अभिलाषा है।

५. सुख और संयोग में कथाओं का अन्त—

लोककथाओं का अन्त सुखान्त होता है दुःखान्त नहीं। संयोग में ही कहानी समाप्त होती है वियोग में नहीं। इन कथाओं में सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, आशा-निराशा, हानि-लाभ सभी कुछ वर्ण्य-विषय के रूप में आए हैं परन्तु अन्त सदैव सुखान्त ही रहा है। कथा का प्रारम्भ, विकास, चरमसीमा भले ही आपत्तियों, निराशा तथा दुःख से भरा हुआ क्यों न हो परन्तु उसका अन्त सुखान्त ही होता है। सारी विपत्तियाँ

अपने आप दूर हो जाती हैं और नायक का मार्ग प्रशस्त एवं सुखमय होता चला जाता है। भारतीय जन-जीवन कुछ ऐसा हो चला है कि उसके मन में जीवन के सुखमय अन्त का चित्र कभी नहीं आ सकता। अतः भारतीय साहित्य (नाटक, आख्यायिका आदि) सुखान्त हैं दुखान्त नहीं। यही स्थिति लोककथाओं की भी है। प्रायः लोक-कथा के अन्त में यह वाक्य लिखा मिलता है—

"जैसे उसके सुख के दिन लौटे वैसे सभी के लौटें।"

६. अलौकिकता की प्रधानता—

कुछ लोककथाओं में अलौकिकता की प्रधानता होती है। इन कथाओं का वर्ण्य-विषय भूत-प्रेत, परी-दानव, अतिमानवीय शक्तियों से सम्बन्धित रहस्य-रोमांच से पूर्ण रहता है। ऐसी कथाओं में 'अद्भुत रस' की प्रधानता रहती है। ऐसी कथाएँ पाठकों के आकर्षण तथा मनोरंजन का कारण बन जाती हैं। इन्हीं कथाओं के अन्तर्गत वीर राजाओं के अद्भुत पराक्रम तथा अलौकिक वीरता के दर्शन भी होते हैं। साधारण लोग ऐसी कथाओं को बड़े आनन्द के साथ सुनते हैं।

७. उत्सुकता की भावना—

इन कथाओं की प्रधान विशेषता कथा में उत्सुकता की भावना बनाए रखना है। श्रोताओं को उत्सुक बनाए रखने के लिए कथाओं में कौतूहल या जिज्ञासा (Suspense) का होना आवश्यक है। जिन कथाओं में ऐसा नहीं होता, उनमें आकर्षण भी उत्पन्न नहीं हो पाता। कथानक के आगे के अंश को सुनने की जिज्ञासा ही 'सस्पेन्स' कहलाती है। ऐसा विशेषकर रूप-कथाओं में ही देखने को मिलता है। बार-बार श्रोता यह जानने को ही उत्सुक रहता है कि 'आगे क्या हुआ ?' 'इसके बाद क्या हुआ ?'

८. वर्णन की स्वाभाविकता—

यह लोककथाओं की प्रधान विशेषता है। घटना का उसी रूप में यथार्थ वर्णन लोककथाओं का प्रधान लक्षण माना जाता है। इसमें कल्पना या अतिशयोक्ति का वर्णन नहीं मिलता। इन कथाओं में भारतीय संस्कृति का सच्चा चित्र मिलता है। जहाँ आधुनिक कहानियों में अतिरंजना की प्रवृत्ति है वहाँ इन कथाओं में प्रायः इसका अभाव है।

लोककथाओं की शैली—

लोककथाओं में अभिव्यक्त मानव-जीवन अत्यन्त ही सरल और सादा चित्रित किया गया है। क्योंकि आदिम जन-जातियों तथा सामान्य लोक का जीवन अकृत्रिम और स्वाभाविक है। यही स्वाभाविकता लोककथाओं की प्रधान विशेषता है। इसके अतिरिक्त इन कथाओं में अतिरंजना की प्रवृत्ति भी नहीं दिखाई देती। अतः लोककथाओं की भाषा तथा शैली भी अत्यन्त ही सरल और सीधी-सादी है। वाक्य

प्रायः छोटे-छोटे तथा भावपूर्ण हैं। मिश्र वाक्यों का इनमें अभाव है। भाषा का शब्दाडम्बर, आलंकारिक चमत्कार तथा पांडित्य इन कथाओं में नहीं मिलता। सहजता इन कथाओं की शैली का प्राथमिक गुण है। शब्द-विधान भी सहज और स्वाभाविक है। अनगढ़, भौंडे तथा क्लिष्ट शब्दों की योजना का इन कथाओं में अभाव है। भाषा विषयानुकूल है। विषय जितना स्वाभाविक है शैली भी उतनी ही स्वाभाविक है। जैसे "एक राजा था। उसके सात लड़के थे। सातों बड़े वीर थे।" इत्यादि। इन कथाओं के सम्बन्ध में डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने लिखा है—"ये कथाएँ अबाध गति से प्रवहमान सरिताओं की भाँति हैं जिनमें अवगाहन कर जन का मानस आनन्द लेता है। जिसका जल निर्मल तथा शीतल होने के कारण पान करने वालों को संजीवनी शक्ति प्रदान करता है।"[1]

लोककथाओं में चम्पूकाव्य की शैली का प्रयोग मिलता है। संस्कृत के आचार्यों ने चम्पू को गद्य-पद्यमय काव्य कहा है। लोककथाओं में भी गद्य-पद्य का मिश्रित रूप देखने को मिलता है। वैसे लोककथाएँ गद्य में उपलब्ध होती हैं परन्तु उनमें बीच-बीच में पद्यों का भी प्रयोग देखने को मिल जाता है। इस प्रकार पद्यों का प्रयोग पाठकों तथा श्रोताओं पर स्थायी प्रभाव डालने तथा आकर्षण एवं मनोरंजन को बढ़ाने के लिए किया गया है। इस प्रकार के गद्य-पद्य के मिश्रण ने त्रिवेणी-संगम की भाँति कथाओं का महत्त्व एवं प्रभाव अत्यधिक बढ़ा दिया है।

लोककथाओं में संवादशैली का भी प्रयोग देखने को मिलता है। यह संवाद-शैली प्राचीन उपाख्यानों में उपलब्ध होती है। यम-यमी, उर्वशी-पुरुरवा के आख्यान में इसी शैली का प्रयोग हुआ है। यह आख्यान गद्य तथा पद्य दोनों में लिखा गया है। इस प्रकार इन कथाओं की शैली का उत्स ये वैदिक उपाख्यान ही हैं।

लोककथाओं में संकेत-शैली तथा लघिमा-शैली का भी कहीं-कहीं प्रयोग मिलता है। जादू-टोना, परी-कथा, भूत-प्रेत की कथा तथा पराक्रम की कथाओं में इस लघिमा-शैली का प्रयोग हुआ है। पशु-पक्षी की कथाओं में इस शैली के दर्शन होते हैं।

लोककथाओं की शैली व्यावहारिक है। इसमें बोलचाल के तथा दैनिक जीवन में व्यवहार किए जाने वाले शब्दों की ही अधिक योजना है। मुहावरे एवं लोकोक्तियों का प्रयोग भी इन कथाओं में आकर्षण पैदा कर देता है। इनके द्वारा कथन में 'तीव्रता' तथा प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। भाषा में भी एक प्रकार का विशेष बल आ जाता है जो श्रोताओं के हृदय पर अमिट प्रभाव छोड़ जाता है। कहीं-कहीं अलंकारों का भी प्रयोग दर्शनीय है।

---

१. लोकसाहित्य की भूमिका—पृ० ११५ (प्र०सं०)

शैली-तत्त्व की दृष्टि से डा० सत्येन्द्र ने लोककथाओं की निम्नलिखित विशेष बातों पर हमारा ध्यान आकर्षित किया है:—[1]

१. कहानी का आरम्भ—कहानी के विविध रूपान्तरों के आरम्भ की तुलना ही नहीं, विविध क्षेत्रों में कथन शैली की आरम्भिक शब्दावली भी तुलनीय होती है, और अध्ययन योग्य होती है।

२. कहानी का अन्त—कहानी का अन्त भी आरम्भ की तरह एक बोल लिए रहता है और पृथक्-पृथक् क्षेत्रों में अपनी-अपनी विशेषता के साथ रहता है। इनका भी तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

३. कहानी में आवर्तक मुहावरे, वाक्यांश या पद्यांश—कहानी कहते-कहते बीच में कुछ समान शील-स्थलों पर समान शील-शब्दावली उपयोग में आती है। ऐसी समान शील-शब्दावली को एक ही कहानी में अथवा विविध कहानियों में क्षेत्रीय भेद से तुलनात्मक अध्ययन का विषय बनाया जा सकता है—

कागद हो ताइ बाँचिये
करम न बाँचो जाइ

जैसी शब्दावली या पद्यांश न जाने कितनी लोककहानियों में आता है, यह तुलनापूर्वक अध्ययन का विषय होगा कि किस कहानी में किस प्रभाव और परिणाम के लिए इसका उपयोग किया गया है।

४. कहानी में रूप-वर्णनों, प्रकृतिखंडों (बियाबान बन-खंड) के वर्णनों तथा अन्य सज्जाओं, बाजारों, स्थानों के वर्णनों की एक परिपाटी होती है, जिसमें विशेष शब्दावली का प्रयोग होता है। इसका अध्ययन भी अपेक्षित है।

५. लोक-कहानी भी अलंकारों के उपयोग से शून्य नहीं हो सकती। किस प्रकार के उपमानों का उपयोग उसमें हुआ है, यह अध्ययन रोचक और उपयोगी है।

६. कहानी में मोड़ देने, या सनसनाहट पैदा करने या किसी अनोखी बात को लाने, आदि के लिए कुछ विशेष प्रणाली काम में आने लगती है, इसके अध्ययन से कहानी कहने वाले और कहानी कहने की परम्परा का परिचय मिलता है और कुछ सांस्कृतिक तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों का भी उद्‌घाटन होता है।

७. लोककहानी में किन्हीं वस्तुओं तथा पदार्थों के वर्णन की एक विशेष प्रणाली का उपयोग होने लगता है। आभूषणों का वर्णन, घोड़ों का वर्णन, दावतों का वर्णन, राज्यसभा का वर्णन, तथा ऐसे ही अन्य वर्णन विशेष ढंग में कहानी से

---

१. लोकसाहित्य-विज्ञान—पृ० ३८५-३८६।

कहानी में दुहराए जाते हैं। इनमें केवल ४ की भाँति विशेष शब्दावली की ही दुहरावट नहीं होती, वस्तुओं की भी दुहरावट होती है।

८. कथनशैली में कथक्कड़ के बोलने में जो उतार-चढ़ाव होता है, वह भी सीमित अध्ययन का विषय है। इस अध्ययन के लिए ध्वनि-तात्विक प्रयोगशाला के यंत्रों की भी सहायता लेनी होगी।

९. अपने बोलने या कहानी कहने में कथक्कड़ किस प्रकार के प्रयोगों से पाठक के भावों को उत्तेजित करते-करते चरम पर ले जाता है यह भी शैली-तत्व का ही विषय है।

लोककथा तथा आधुनिक कहानियों में अन्तर—

यह हम पहले ही बता चुके हैं कि कथा कहने तथा सुनने की प्रवृत्ति उतनी ही प्राचीन है जितना कि स्वयं मानव-जीवन। मानव प्रारम्भ से ही संसार में घटित होने वाली घटनाओं को जानने की चेष्टा करता रहा है। वह कौतूहल-प्रिय प्राणी है। अतः वह प्रत्येक घटना को जिज्ञासा एवं कौतूहल की दृष्टि से देखता आया है। हमारी लोककथाएँ इसी का परिणाम है। आदिम मानव की यह जिज्ञासा-वृत्ति लोककथाओं में उभरकर आई है। इन कथाओं में इतना रस और आकर्षण है कि अर्द्धकथानक के रचयिता श्री बनारसीदास जैन तो दुकान का सारा कारोबार छोड़कर इन लोककथाओं (मधुमालती और मृगावती) को ही पढ़ा करते थे—

अब घर में बैठि रहिं, जाहिं न हाट बाजार।
मधुमालती मृगावती पोथी दोई उचार॥

यह बात केवल कवि बनारसीदास के लिए ही सत्य नहीं वरन् सभी पाठकों पर चरितार्थ होती है। आज भी लोककथाओं की लोकप्रियता एवं व्यापकता का यही रहस्य है।

वास्तव में लोककथा और आधुनिक कहानी में महान् अन्तर है। लोककथा का रचयिता कहानी-कला के सिद्धान्तों से सर्वथा अनभिज्ञ था या यों कहिए उसे कला के रूप और शिल्प-पक्ष की बिल्कुल चिन्ता नहीं थी। लोककथाओं में विषय-वस्तु की मनोरंजकता, उसमें अनायास प्रकट होने वाला विनोद और ज्ञान तथा अनुभव की शिक्षा उसकी लोकप्रियता का कारण बन गई है। लोककथा का रचयिता इस बात की भी तनिक चिन्ता नहीं करता था कि उसने क्या कहा और कैसे कहा। परन्तु आधुनिक कथाकार इस प्रकार के शिल्प पर अधिक बल देता है।

लोककथाओं का कथानक विख्यात, ऐतिहासिक, पौराणिक तथा विशुद्ध काल्पनिक भी होता है। बड़े ही सीधे-सादे ढंग से वह अपनी कथा प्रारम्भ करता है। उसका वर्ण्य-विषय प्रायः धार्मिक तथा राजा-रानी की घटनाओं से सम्बद्ध

हीं हुआ करता है। सामाजिक वैषम्य, आर्थिकशोषण तथा राजनैतिक हलचल से ये कथाएँ दूर रहती हैं। इनमें एक प्रकार से सुखी समाज का चित्रण होता है। अस्वाभाविक एवं अलौकिक घटनाओं का समावेश अधिक रहता है। ऐसी चमत्कार-पूर्ण घटनाओं के कारण ही इन कथाओं में मनोरंजकता, कौतूहल तथा आकर्षण अधिक रहता है। प्रेम तथा वीरता की भावना की प्रधानता लोककथाओं में रहती है। प्रेम का आदर्श एवं पवित्र रूप अधिक चित्रित किया जाता है। कथाओं में नीति एवं शिक्षा का भी महत्व होता है। प्रायः लोककथाओं का अन्त सुखात्मक होता है। लोककल्याण की भावना भी इनमें निहित रहती है।

आधुनिक कहानियों का कथानक यथार्थ जीवन की घटनाओं से सम्बद्ध होता है। उसमें काल्पनिक घटनाओं को किसी प्रकार भी स्थान नहीं दिया जाता। आधुनिक कहानियों में समाज का यथार्थ चित्रण रहता है। सामाजिक संघर्ष तथा क्रान्ति, आर्थिक-शोषण, राजनैतिक विप्लव आज की कहानियों का मूल विषय है। इन कहानियों में समाज की यथार्थ घटनाएँ ही चित्रित की जाती हैं। काल्पनिक, अस्वा-भाविक एवं अलौकिक घटनाओं को बिलकुल महत्व नहीं दिया जाता। मनोरंजन के साथ-साथ इन कहानियों का सामाजिक महत्व भी होता है। इन कहानियों का प्रारम्भ सीधे-सादे ढंग से नहीं होता और न इनका अन्त केवल सुखात्मक होता है। अधिकांश कहानियों का अन्त दुःखात्मक भी होता है। आज की कहानियों में घटनाओं पर अधिक बल नहीं दिया जाता। प्रेम आज की कहानियों का विषय अवश्य होता है परन्तु उनमें पवित्रता के स्थान पर काम-लिप्सा, कुंठा तथा विलास का अधिक चित्रण होता है। अधिकांश लोककथाएँ आकार में छोटी होती हैं। उनकी कथा भी संक्षिप्त होती है परन्तु यह शर्त आज की कहानियों पर लागू नहीं होती।

लोककथाओं के पात्र प्रायः ऐतिहासिक या काल्पनिक (राजारानी) होते हैं। देवी-देवता, सेठ-साहूकार, भूत-प्रेत आदि की भी प्रधानता रहती है। जनसाधारण के पात्र कम ही उपलब्ध होते हैं। पात्रों का रूप-वर्णन या उनका वाह्य-सौन्दर्य ही अधिक चित्रित किया जाता है। इनके पात्र भी प्रायः एकसे स्थिर चरित्र वाले होते हैं।

परन्तु आज की कहानियों के पात्र जनसाधारण के पात्र होते हैं और यथार्थ होते हैं। इनका वाह्य रूप-वर्णन अप्रधान रहता है। मन के चित्रण पर अधिक बल दिया जाता है या यों कहिए पात्रों का मनोविश्लेषण किया जाता है। पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व को अधिक महत्व दिया गया है। आज की कहानी के पात्र नित्य परिवर्तन-शील, भिन्न-भिन्न चरित्र वाले तथा स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाले होते हैं। वे लोक-कथाओं के पात्रों की भाँति कठपुतली मात्र नहीं होते। लोककथाओं के अधिकांश पात्र अलौकिक होते हैं परन्तु आज की कहानी के पात्र ऐसे नहीं।

लोककथाओं मे संवाद का स्थान उतना महत्वपूर्ण नहीं होता जितना आज की कहानी का। लोककथाओं में प्राचीन जन-जीवन का सरल और स्वाभाविक चित्रण होता है अतः संवादों में भी उतनी ही सरलता एवं स्वाभाविकता मिलती है। परन्तु आज की कहानी में संवाद पात्र के मन की स्थिति को प्रकट करने वाले साधन बन गए हैं। कथा तथा चरित्रों को विकास देने के लिए भी संवाद का निर्माण आज की कहानी में किया जाता है। ये संवाद मन की गुत्थियों को सुलझाने के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं। अतः ये अस्पष्ट, क्लिष्ट तथा सांकेतिक होते हैं।

लोककथाओं की भाषा-शैली भी सरल, स्वाभाविक एवं सीधी-सादी होती है। इन कथाओं की शैली स्थूल, इतिवृत्तात्मक और वर्णनात्मक होती है। कहानियों का प्रारम्भ सीधे-सादे वाक्यों से होता है जैसे—'एक राजा था। उसकी सात रानियाँ थीं। परन्तु आधुनिक कहानियों का प्रारम्भ तो अत्यन्त नाटकीय होता है। कहीं-कहीं वातावरण चित्रण से भी कथा का प्रारम्भ किया गया है। लोककथाओं की कथा प्रायः अन्य-पुरुष शैली में होती है जब कि आज की कहानी उत्तम पुरुष 'मैं' की शैली में भी लिखी जाती है।

लोककथाओं की भाषा भी सरल और सहज होती है। वाक्य छोटे-छोटे तथा भावपूर्ण होते हैं। परन्तु आज की कहानियों की भाषा आडम्बरपूर्ण, कृत्रिम तथा क्लिष्ट होती है। सभ्य समाज की होने के कारण तथा अभिजात वर्ग की होने के कारण उसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक मिलता है। वाक्य भी बड़े-बड़े होते हैं। मन की उलझी गुत्थियों के कारण भाषा में भी उलझाव पाया जाता है।

लोककथाओं में आदिम सरल व सादा जनजीवन का चित्रण मिलता है। अन्ध-विश्वास, जादू-टोना, मंत्र आदि से युक्त वातावरण ही अधिक चित्रित किया गया है। लोककथाओं में प्रायः ऐतिहासिक तथा सामंतकालीन जन-जीवन के साथ ग्रामीण जनजीवन को भी प्रस्तुत किया गया है। परन्तु आज की कहानी में आधुनिकयुगीन नई चेतना तथा वातावरण को चित्रित करने का अधिक प्रयास किया गया है। सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक गतिविधियों को ही अधिक दर्शाया गया है।

लोककथाओं का उद्देश्य केवल मनोरंजन है। साथ-साथ नीति-सम्बन्धी शिक्षाएँ भी लोककथाओं में दी गई हैं। परन्तु आधुनिक कहानी में मनोरंजन के साथ-साथ समाज की विषमताएँ भी चित्रित की गई हैं। मानवमन की दुर्बलता मनो-विज्ञान तथा मनोविश्लेषण के द्वारा सुलझाई गई है।

वास्तव में लोककथा आदर्शवादी है तो आज की कहानी यथार्थवादी। लोक-कथाओं में अतिमानवीय तथा अलौकिक शक्तियों को अधिक प्रदर्शित किया गया है। लोककथा का कोई रचयिता नहीं होता। वह अपनी मौखिक परम्परा में ही जीवित है। परन्तु आधुनिक कहानी का रचयिता होता है और उसका लिखित रूप भी होता

है। यद्यपि लिखित रूप लोककथाओं का भी स्वीकार किया गया है परन्तु अधिकांश रूप में वह मौखिक परम्परा के रूप में ही जिन्दा है। लोककथाओं में आदिम असभ्य जीवन को स्थान दिया गया है जब कि आज की कहानी में सुसभ्य, अभिजात तथा सुसंस्कृत वर्ग-चेतना पर अधिक बल दिया गया है।

बस, यही अन्तर लोककथा और आधुनिक कहानी में है।

लोककथा के निर्माण-तत्त्व—

डा० सत्येन्द्र ने लोककथा के निम्नलिखित निर्माण-तत्त्व बताए हैं—[१]

(१) लोकमानस (Folk mental Element)

(२) कथारूप (Tale form)

(३) पात्र (Personages)

(४) अभिप्राय, कथानक-रूढ़ि या कथा-तन्तु (motif)

(५) सामान्य घटना (Incidents)

(६) संघटना (Organisational sections of a tale)

(७) अक्षरकथा तथा कथामानक (Tale type)

(८) उपयोग दृष्टि (Utility point of view)

(९) अलंकरण (Ombellishment)

(१०) वातावरण।

लोककथा को वास्तविक लोककथा होने के लिए लोकमानस की अन्तःव्याप्ति आवश्यक है। यही एक ऐसा तत्त्व है जो उसे साहित्यिक कहानी से एकदम भिन्न कर देता है। लोकमानस के एक ही कथा में कई स्तर उपलब्ध होते हैं। क्योंकि लोककथा एक लम्बी यात्रा कर आज तक आ पाई है। विभिन्न युग की संस्कृतियों के अवशेष किसी न किसी रूप में लोकमानस में विद्यमान रहते हैं और वे कथा के निर्माण-तत्त्वों के रूप में अपने अस्तित्व को प्रकट करते रहते हैं। अतः इन्हीं मानसिक तत्त्वों के स्तरों का उद्घाटन अनिवार्य हो जाता है।

कथारूप लोककथा का एक आवश्यक तत्व है। यही एक ऐसा तत्व है जो कथा को कथा का रूप प्रदान करता है। यह वर्णन तथा विवरण तत्व है। प्रत्येक कहानी अपनी-अपनी चाल से भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है। इन रूपों का उल्लेख डा० सत्येन्द्र ने इस प्रकार किया है—

१. स्तबक कहानी—किसी आरम्भिक कथा के द्वारा दो-चार व्यक्ति जमा हो गए और अपनी-अपनी कहानी कहने लगे।

---

१. लोकसाहित्य-विज्ञान—पृ० २१३।

२. शृंखलित कहानी—एक कहानी आरम्भ हुई, कुछ दूर चलकर उसमें से दूसरी कहानी निकली, उसमें से तीसरी निकली और आगे इसी प्रकार, एक कहानी के ही कथानक तत्व में से दूसरी और दूसरी में से तीसरी फूटती चलती हैं।

३. बूमेरंग कहानी—एक आरम्भिक कहानी से कोई ऐसा तत्व प्रस्तुत हो गया जो लौट-लौट कर नई-नई कहानियों का आरम्भ करता है। बैताल पचीसी के रूप की।

४. यात्रा कहानी—कहानी का एक प्रमुख पात्र एक कहानी बनाता चलता है। उस कहानी के समाप्त होने पर फिर आगे चलकर दूसरी कहानी बनाता है, फिर और आगे चलकर तीसरी, इसी प्रकार बढ़ता जाता है और कहानी बनाता जाता है।

५. ऐकिक कहानी—एक कथा रूप में अनेक सरल कथाएँ आजाती हैं। कथारूपों से लोकतत्व की दृष्टि से कथा के अध्ययन में किसी प्रकार की सहायता नही मिलती। कथावक्ता की अपनी पद्धति तथा विशेषता के कारण इसमे स्थान तथा व्यक्ति के अनुसार भेद होता रहता है। अतः कथा-रूपों का क्षेत्र संकुचित हो जाता है। जिन सरल कथाओ में से कथारूप बने होते है उनका प्रचलन और क्षेत्र बढ़ जाता है। इन सरल कथाओं के रूप के अध्ययन के लिए एक 'कथामानकरूप (Tale type) निर्धारित किया गया। इस प्रकार का अध्ययन कार्ल क्रोह्न, स्टिथ थामसन तथा एन्टी आर्ने ने किया। जैसे धर्मगाथा की एक कथा पात्र और स्थल के नाम बदल कर दूसरे युग में क्षेत्र बदल कर चल पड़ती है, वैसे ही एक काल तथा देश से दूसरे काल या देश मे वही कहानी स्थानीय आवश्यकतानुसार पात्र तथा स्थलों के बदले नाम से प्रचलित हो जाती है। इससे एक 'मानकरूप' निर्धारित किया जा सकता है। इससे कथाओं की तुलना और अन्तर को समझा जा सकता है।

आगे चलकर श्रीमती बर्न के अध्ययन द्वारा एक नया रूप सामने आया जिससे सरल कथाओं को 'अक्षर कहानियों' में विभाजित कर मानकरूप स्थिर किया गया।

अक्षर कहानी को सरल कहानी का वह लघुतम रूप स्वीकार किया गया है जिससे अधिक और लघुतम रूप हो ही नहीं सकता। जिस कथा में पात्र-घटना-क्रिया-प्रतिक्रिया मात्र हो वही अक्षर कहानी है। घटना में कहानी के तत्व अवश्य हों, केवल घटना न होकर उसमें कथातन्तु (motif) का विशेष स्थान हो। इनमें परियाँ, आदमखोरनियाँ, दानव, सूर्य, पशु-पक्षी आदि अद्भुत प्राणी भी हो सकते हैं। इसके साथ-साथ आकर्षक कथा-घटना भी अभिप्राय हो सकती है। इन कथातन्तुओं में परम्परा से चली आती हुई कहानी में प्रयुक्त कोई भी तत्व सम्मिलित हो सकता है। परन्तु इनमें कोई न कोई बात ऐसी होनी चाहिए जिसे लोक उसे बार-बार याद करे। इसकी अपनी कुछ न कुछ विशेषता होनी चाहिए। जैसे कोई राजकुमार लकड़ी के

जादूई घोड़े पर बैठकर, हाथ में जादुई छड़ी धारण कर चन्द्रलोक को गया। इसमें जादूई घोड़ा, छड़ी, यात्रा, चन्द्रलोक आदि कथातन्तुओं का प्रयोग हुआ है जो आज भी जीवित लोकतन्तु हैं और जिन्हें पीढ़ियाँ-दर-पीढ़ियाँ पसन्द करती हैं। अतः कथा-तन्तु में असाधारण तत्व होना आवश्यक है।

संघटना पर विचार करते हुए डा० सत्येन्द्र ने लिखा है—"संघटना वह व्यवस्थापना का तत्व है जो एक कथा में विविध तत्वों को मिलाकर कथारूप में प्रस्तुत करता है। आरम्भ और अन्त की संयोजना, विविध अक्षर कहानियों में कलातन्तुओं और घटनाओं तथा पात्रों का संयोजन, विविध सरल कहानियों में अक्षर कहानियों को जोड़कर तथा सरल कहानियों का कथारूपों में समावेश करने का ढंग संघटना ही तो है। उपयोग-दृष्टि का संयोजन कैसा और कैसे किया गया है, यह भी संघटना का क्षेत्र है।"

प्रत्येक कहानी किसी उद्देश्य-विशेष से, किसी विशेष आयुवर्ग के लिए खड़ी होती है। यही उसमें उपयोग-दृष्टि है।

लोककथाओं में विनोदात्मकता अथवा कथन की मनोरम प्रणाली भी मिलती है। इसे भी भुलाया नहीं जा सकता।

किसी भी लोककथा के अध्ययन के लिए उपर्युक्त सम्पूर्ण तत्वों का विश्लेषण और अध्ययन परमावश्यक है। भौगलिक एवं ऐतिहासिक प्रणाली के द्वारा ही इन लोककथाओं का अध्ययन संभव है। अतः इन पर विशेषरूप से बल देने की आवश्यकता है।

१. मोटिफ तथा टेल टाइप—

'मोटिफ' को कथानक रूढ़ि, प्ररूढ़ि तथा अभिप्राय भी कहा जाता है। हिन्दी साहित्यकोश के अनुसार—'सामान्यतया रूढ़ि और अभिप्राय का प्रयोग एक दूसरे के पर्याय के रूप में किया जाता हैं। अभिप्राय—जिसे अंग्रेजी में 'मोटिफ' कहते हैं, उस शब्द अथवा एक साँचे में ढले हुए उस विचार को कहते हैं, जो समान परि-स्थितियों में अथवा समान मनः स्थिति और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किसी एक कृति अथवा एक ही जाति की विभिन्न कृतियों में बार-बार आता है। विभिन्न कला-रूपों के अपने अलग-अलग अभिप्राय भी होते हैं। चित्रकला में अभिप्राय का अर्थ होता है, "कोई चल या अचल, सजीव या निर्जीव, प्राकृतिक अथवा काल्पनिक वस्तु जिसकी अलंकृत एवं अतिरंजित आकृति मुख्यतः सजावट के लिए किसी कलाकृति में बनाई जाय।" प्रत्येक देश के साहित्य में भी अनुकरण तथा अत्यधिक प्रयोग के कारण कुछ साहित्य सम्बन्धी रूढ़ियाँ बन जाती हैं और यांत्रिक ढंग से उनका प्रयोग साहित्य में होने लगता है; इन सभी रूढ़ियों को साहित्यिक अभिप्राय कहते हैं।

भारतीय साहित्य में परकाय प्रवेश, लिंगपरिवर्तन, पशुपक्षियों की बातचीत, किसी बाह्य वस्तु में प्राणों का बसना आदि कितने ही अभिप्राय हैं। ये सभी कथानक-रूढ़ियाँ प्रधानतया दो प्रकार की हैं। एक, लोकविश्वास पर आधारित, दूसरी, कवि कल्पित। हिन्दी साहित्य में सबसे पहले हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में इन साहित्यिक अभिप्रायों की ओर ध्यान आकर्षित किया।"[१]

लोककहानी की चर्चा करते हुए हिन्दी साहित्यकोश में 'अभिप्राय' पर इस प्रकार विचार किया गया है—"वस्तुतः जब तक कहानियों के अध्ययन का आधार कहानी-रूप 'टेल-टाइप' रहा, यह विवाद चलता रहा। अब लोककहानियों का आधार रूढ़-तन्तु अथवा अभिप्राय (motif) हो गया है। विश्व की अधिकांश कहानियों में एकसे रूढ़तन्तु मिलते हैं। इन तन्तुओं का अध्ययन करने से विदित होता है कि वे सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्र रूप से निर्मित हो सकते हैं। लोककहानियों के ये समस्त तुलनात्मक, ऐतिहासिक और रूढ़-तन्तु-विषयक अध्ययन रोचक ही नहीं, महत्त्वपूर्ण भी हैं। इसमें शब्द-शास्त्र के लिए भी सामग्री है, और नृविज्ञान का तो यह एक आधार है।"[२]

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि पहले लोककहानियों के अध्ययन का आधार कथा-रूप या 'टेलटाइप' रहा था। अब लोककहानियों के अध्ययन का आधार अभिप्राय (motif) हो गया है जिसे डा० सत्येन्द्र ने रूढ़तन्तु या मानक-प्रणाली या अभिप्राय भी कहा है।[3] डा० कन्हैयालाल सहल ने अभिप्राय के लिए 'प्ररूढ़ि' शब्द को अधिक उपयुक्त माना है। उनका कथन है–' मैं समझता हूँ,आवृत्ति के साथ-साथ मूल अभिप्राय में कथा को गति देने की शक्ति पाई जाती है। 'प्ररूढ़ि' शब्द में आवृत्ति और गति दोनों का भाव एक साथ पाया जाता है, इसलिए मोटिफ के पर्याय के रूप में प्ररूढ़ि शब्द अपनाया जा सकता है।"[४]

'टेलटाइप' क्या है ? डा० सत्येन्द्र ने इसे कथा-मानक-रूप कहा है। वस्तुतः 'मोटिफ' तथा 'टेलटाइप' में कुछ अन्तर है। 'मोटिफ' का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। क्योंकि अनेक देशों की लोककथाओं में एक ही प्रकार के अभिप्राय मिल सकते हैं परन्तु 'टेलटाइप' का क्षेत्र सीमित होने के कारण वह किसी देश-विदेश की भौगोलिक सीमा तक ही सीमित है। वास्तव में किसी लोककथा को जानने, नामकरण करने, उसे संकेत में सूचित करने तथा योगायोग को ठीक-ठीक समीकृत करने के लिए ही

---

१. हिन्दी साहित्यकोश—(भाग १)—पृ० २०५।

२. वही—पृ० ७४८।

३. लोकसाहित्य-विज्ञान—पृ० २७१।

४. लोककथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ—(उपक्रम)—पृ० ६-१०।

मानक रूप निर्धारित किए जाते हैं। डा० सत्येन्द्र ने इस पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए लिखा है जिसका सारांश इस प्रकार है—पाश्चात्य विद्वानों ने जब संस्कृत का अध्ययन किया तो उससे एक-एक विद्या-विषयक पुनराहरण की लहर दौड़ गई। विद्वानों से पता लगा कि संस्कृत में बहुत कुछ ऐसा है जो उनके यहाँ भी उपलब्ध होता है। उस अनुभव ने उन्हें तुलनात्मक अध्ययन की प्रेरणा दी। अतः तुलनात्मक लोकवार्ता का अध्ययन इस युग में पनपा। पश्चिम और पूर्व की लोक-कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन होने लगा। इस अध्ययन से यह उपलब्ध हुआ कि एक ही कहानी विविध आर्य भाषाओं तथा अन्य भाषाओं के क्षेत्रों में नाम रूप के संशोधन और गौण परिवर्तन, परिवर्द्धन के साथ मिलती हैं। उस मूल रूप को खोजकर प्रस्तुत करने से ही मानक-रूप (टेलटाइप) का जन्म हो गया। अब तो यह अनुसंधान किया जाने लगा कि ऐसे कितने मानक-रूप हो सकते हैं जो इस प्रकार पश्चिम-पूर्व के आर्य क्षेत्रों में मिलते हैं। इसके साथ यह भी अनुसंधान किया जाने लगा कि यह मानक-रूप पहले कहाँ बना? उसका मूल जन्म-स्थान कहाँ है? बेन्फे ने तो यह स्पष्ट कहा है कि पश्चिम की कहानियाँ भारत से आई है। इसी युग में आर्य भाषा परिवार की सत्ता भी स्वीकृत हो चुकी थी। विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया कि आर्य भाषा-भाषियों के पूर्वज एक ही स्थान पर रहते थे। वहाँ से वे विविध क्षेत्रों में फैल गए। भाषा के कुछ समान तत्व उत्पन्न हो चुके थे जब ये आर्य एक परिवार की भाँति एक मूल स्थान में रहते थे, बिखरे नहीं थे। इसी सिद्धान्तानुसार लोकवर्ता और लोककहानी अथवा धर्मगाथा के सम्बन्ध में भी यह परिकल्पना की जाने लगी कि बहुत-सी कहानियों ने मूल मानक-रूपों का जन्म भी बिखरने से पूर्व ही आर्यों के मूल स्थान से हुआ था। वहीं से विविध दलों में भिन्न-भिन्न प्रदेशों में ये फैले और साथ में अपने उन मानक-कथा-रूपों को भी लेते गए और उनके योगायोग से अनेकों कथा-रूप प्रस्तुत हुए।[1]

बर्न महोदय ने अपनी पुस्तक 'हैण्डबुक ऑव फोकलोर' में ऐसे सत्तर (७०) रूप दिए हैं जिनका विवेचन डा० सत्येन्द्र ने अपनी पुस्तक में दिया है। ऐन्टीआर्ने की कथा-रूपों की अनुक्रमणिका भी उन्होंने प्रस्तुत की है जिसका विवेचन विस्तारभय से हम नहीं कर रहे हैं।[2]

मोटिफ' के विषय में डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने लिखा है— साधारणतया 'मोटिफ' शब्द का प्रयोग परम्परागत कथाओं के किसी तत्व के लिए किया जाता है। परन्तु इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि परम्परा का वास्तविक अंग बनने के

---

१. लोकसाहित्य-विज्ञान—पृ० २१६-२२१।
२. वही—पृ० २२२-२६३।

लिए यह तत्त्व (Element) ऐसा प्रसिद्ध होना चाहिए कि इसे सर्वसाधारण जनता स्मरण रख सके। अतएव यह तत्त्व साधारण न होकर असाधारण होना चाहिए। माता को मोटिफ नहीं कह सकते परन्तु निर्दयी माता या विमाता 'मोटिफ' की संज्ञा प्राप्त कर सकती है। हिन्दी लोकगीतों में 'दारुनिया सास' मोटिफ का अच्छा उदाहारण है। इसी विषय को इस प्रकार समझाया जा सकता है—

'राम कपड़ों को पहनकर शहर को गया।' इसमें कोई उल्लेख योग्य मोटिफ नहीं है। परन्तु यह कहा जाए कि "मोहन दिखाई न पड़ने वाली (अदृश्य) पगड़ी सिर पर बाँधकर जादू के घोड़े पर सवार होकर, आकाश मार्ग से उस अद्भुत देश को गया जो सूर्य के पूर्व और चन्द्रमा के पश्चिम में था।" तो इसमें चार मोटिफ हैं (१) अदृश्य पगड़ी (२) जादू का घोड़ा (३) आकाशमार्ग से यात्रा, और (४) अद्भुत देश।

भारतीय लोक-कथाओं में शृगाल या शशक को बड़ा चालाक, धूर्त, तथा 'काइयाँ जानवर' के रूप में चित्रित किया है। इसी प्रकार से गधा मूर्ख, भारवाही पशु के रूप में दिखाई पड़ता है। ये दोनों ही इस प्रकार की कथाओं के 'मोटिफ' हैं। लोककथाओं में हीरामन तोते का मनुष्य की बोली में बोलना, लिलही घोड़ी पर चढ़ कर किसी व्यक्ति का भगना तथा विशेष प्रकार के पक्षियों (कौवा, तोता आदि) द्वारा सन्देश भिजवाना मोटिफ के अन्तर्गत आता है।[१]

डा० स्टिथ थामसन के अनुसार अभिप्राय (motif) कथा का वह लघुतम तत्व है जो परम्परा में स्थिर रूप से रहने की शक्ति रखता है। इस प्रकार की शक्ति रखने के लिए उनमें कुछ असाधारणता और अपूर्वता होनी चाहिए। अभिप्राय कथानक के निर्माण तत्व हैं।

डा० सत्येन्द्र ने अभिप्राय को कथानक का मूलतत्त्व स्वीकार करते हुए लिखा है—"लोक-कथा का परम्परागत रूप, सांस्कृतिक रूप, मनोवैज्ञानिक रूप, नैतिक रूप और परिभ्रमणकारी रूप अभिप्राय ही परिलक्षित होता है। संसार भर की लोक-कथाओं की एकता इसी के द्वारा अभिव्यक्त की गई है।"[२]

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में—कहानियों के लिए 'अभिप्रायों' का वैसा ही महत्व है जैसा किसी भवन के लिए ईंट-गारे का, अथवा किसी मन्दिर के लिए नाना भाँति की सज्जा से उभरे हुए शिलापाटों का। अभिप्राय द्वारा संस्कृति का परम्परित स्वरूप सुरक्षित मिलता है। प्रादेशिक कथाओं के रूपान्तरों की जन्मगत एकता इन्हीं में परिलक्षित होती है। पर एक देश में ही इतने रूपान्तरों का प्रचलन क्यों? अभिप्राय एक से रहने से भी लोक-कथाओं में इतनी विभिन्नता क्यों? यहाँ रूपतत्त्व के दो कारण कार्य करते हुए उपलब्ध होते हैं। एक तो परिवर्तन-

---

१. लोकसाहित्य की भूमिका—पृ० १७४—१७५ (द्वि०सं०)।
२. लोक साहित्य विज्ञान—पृ० २७३।

शील शैली, दूसरी, सांस्कृतिक विभिन्नता।"

लोकवार्ता में मूल अभिप्राय का प्रयोग अधिकांश रूप में किया गया है। लोक-कथाओं में तो इसका अत्यधिक महत्त्व है ही परन्तु लोक-कला में आकल्पन (Design) और विविध रूपों में भी इन अभिप्रायों का स्थान है जिनकी बार-बार आवृत्ति होती है और जो दूसरे रूपों के साथ अपनी एक विशिष्ट पद्धति तथा शैली के साथ जुड़े रहते हैं। लोकसंगीत में भी अभिप्रायों की यही स्थिति है।

यह तो स्पष्ट ही है कि परम्परागत लोक-कथाओं में आवृत होने वाले अत्यन्त सरल प्रत्यय (Concept) भी मूल अभिप्रायों का रूप धारण कर लेते हैं। परियाँ, जादूगरनियाँ, दैत्य, डाकी, क्रूर-सौतेली माताएँ, बोलने वाले पशु-पक्षी अथवा जीव-जन्तु, असंख्य लोक-कथाओं में मूल अभिप्रायों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार अद्भुत और आश्चर्यजनक लोक, जादू के देश, जादू के उपकरण तथा असाधारण भौतिक दृश्य मूल अभिप्रायों के रूप में व्यवहृत हुए हैं। कभी-कभी स्वतः एक छोटी कहानी भी जो महत्वपूर्ण अथवा मनोरंजक हो तथा श्रोताओं के लिए जिसमें प्रचुर आकर्षण विद्यमान हो, मूल अभिप्राय का काम दे सकती है।[1]

स्टिथ थामसन ने अभिप्राय को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है—

(१) वार्त्ता-कथाओं में देवता, असाधारण पशु, आश्चर्यजनक प्राणी जैसे चुड़ैल, राक्षस, अप्सरा, और परम्परित मानवचरित्र जैसे प्रिय सबसे छोटा बच्चा या क्रूर सौतेली माँ।

(२) कुछ एक ऐसी वस्तुएँ जो कथा-व्यापार में काम आने वाली होती हैं: जादू की वस्तुएँ असाधारण रिवाज, अनोखे विश्वास।

(३) स्थान कुछ एक घटनाओं का है—जिनमें बहुत से अभिप्राय आ जाते हैं।

अभिप्राय के क्षेत्र में ब्लूमफील्ड तथा थामसन ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। हिन्दी में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त, डा० सत्येन्द्र, डा० कन्हैयालाल सहल तथा डा० सावित्री सरीन (ब्रज लोक कहानियों में अभिप्रायों का अध्ययन) का कार्य वैज्ञानिक पद्धति पर होने के कारण श्लाघनीय है।

वैसे अभिप्रायों के रूपों की तो कोई गणना है ही नहीं, फिर भी विषय स्पष्टीकरण के लिए हम कुछ अभिप्रायों पर विचार करेंगे—

१. **नायक और सहायक अथवा दो भाई**—ऐसी कहानियों में दो भाइयों द्वारा मिलकर किसी विकराल दैत्य को मारकर सुन्दरी प्राप्त करने की कथा आती है। राम की कथा में भी राम-लक्ष्मण द्वारा धनुष-भंग की कथा है। कृष्ण-बलराम द्वारा अनेक राक्षसों को मारने की कथा है। अधिकांश कहानियों में दो भाइयों की चर्चा मिलती है।

---

१. लोककथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ—डा० कन्हैयालाल सहल-पृ० १८।

२. **वर्जन**—प्रायः कहानियों में मिलता है कि किसी विशेष पात्र को भवन के सब कक्षों में आने की स्वतन्त्रता है परन्तु एक कमरा वर्जित है। वर्जित कोठरी, वर्जित दिशा की कहानियाँ लोक में बहुत प्रचलित हैं। आदम और हव्वा की कथा का भी मूल अभिप्राय वर्जन ही है।

३. **सत्क्रिया**—सत्क्रिया में 'यदि पद्धति' का प्रयोग अधिक मिलता है। प्रायः पात्र कहता है कि यदि मैंने अपने धर्म का पालन किया है, यदि मैं सच्चे गुरु का शिष्य हूँ तो ऐसा हो जाए।

४. **मूर्ति-चित्रदर्शन से प्रेम**—अधिकांश लोक-कथाओं में (इस प्रकार की) इस अभिप्राय का प्रयोग दो-दो बार भी हुआ है। पहला—जिसका सम्बन्ध चित्र-दर्शन से है। दूसरा ऐसा भी है कि किसी सुन्दरी की जूती को देखकर कोई राजकुमार (पर पुरुष) मुग्ध हो जाता है और वह बलात् उसे प्राप्त करता है।

५. **बाधा**—प्रायः देखा गया है कि प्रेयसी की प्राप्ति में नायक को अत्य-त्रिक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। पद्मावती की कथा में रत्नसेन को कई बाधाओं का सामना करना पड़ा था।

६. **भविष्यवाणियाँ**—भविष्यवाणी अलौकिक पक्ष द्वारा कही जाती है या पक्षी द्वारा भी कहलाई जाती है। किसी पेड़ के नीचे एक राजकुमार थक कर लेटा है। ऊपर पक्षी बात कर रहे हैं। वे यह भविष्यवाणी करते हैं कि राजा यदि वहाँ जाए तो उसे यह प्राप्त हो जाएगा।

७. **लौटने की प्रतिज्ञा**—ऐसी कथाओं में जहाँ नायक किसी दैत्य के चंगुल में फँस जाता है तो वह दैत्य से कहता है कि इस समय मुझे छोड़ दो। मैं अमुक कार्य करके लौटूँगा तभी तुम मुझे खा लेना। गाय और शेर की भी कथाओं में यही अभिप्राय है।

इसी प्रकार के अन्य कई अभिप्राय हैं।[1] इसके अध्ययन से यह सिद्ध हो जाता है कि ये कहानियाँ ही पुरानी नहीं हैं वरन् उसमें आने वाले विविध अभिप्राय भी बहुत पुराने हैं।

२. लघुछन्द कथा (Drolls)—

लघुछन्द कथाओं का लोकसाहित्य में अपना विशेष महत्व है। ये गेय नहीं होते। इन्हें पाठ्यगीत कहा जाता है। वास्तव में ये मुख्यतः, कहानियाँ ही होती हैं जिनका अपना अलग ही महत्त्व है। इन कहानियों का वृत्त लघु होता है और इनमें दुहरावट होती है। कहानी का प्रभावपूर्ण अंश छन्दबद्ध होता है। इन कहा-नियों में एक सहज सरलता है जिससे ये बाल-मनोवृत्ति को संतुष्ट करने वाली हो

---

1. विस्तार के लिए देखिए—लोकसाहित्य-विज्ञान—डा० सत्येन्द्र पृ० २२२—२८६, तथा लोक-कथाओं की कुछ प्रवृत्तियाँ—डा० कन्हैयालाल सहल तथा मध्यकालीन हिन्दी

जाती है। कौतूहल का भाव इतना प्रबल नहीं रहता, जितना एक बात को छोटे प्रभविष्णु शब्दों में कहने का।[1]

डा० सत्येन्द्र ने इनके दो भेद किए हैं:—

१. साधारण, तथा २. क्रम संवर्द्धित

१ साधारण—साधारण प्रकार में डा० सत्येन्द्र को केवल आठ लघुछन्द कहानियाँ प्राप्त हुई हैं। इन कहानियों में 'झिगुली टोपी वाली चिड़िया' की कहानी लम्बी होते हुए भी मनोरंजक है। कहानी संक्षेप में इस प्रकार है—

एक चिड़िया थी। उसे एक कपास का टेंट मिल गया। उसे लेकर वह ओटने वाले के पास गई और बोली—

"ओटा ओटी कर दै, जाकी औटा ओटी कर दै"

इसके बाद वह धुनिया के पास गई और बोली—

"धुन्ना-धुन्नी कर दै, जाकी धुन्ना धुन्नी कर दै"

इसके बाद वह कातने वाले के पास गई और बोली—

"काताकूती कर दै, जाकी काताकूती कर दै"

फिर वह कोरिया के पास गई और उससे बोली—

'बुन्ना बुन्नी कर दै, जाकी बुन्ना बुन्नी कर दै"

फिर वह दरजी के पास गई—

"मेरी झिगुली टोपी सी दै रे मेरी झिगुली टोपी सी दै"

और इसके बाद वह रंगरेज के पास गई और बोली—

'मेरी लाल टोपी रंग दै रे मेरी लाल टोपी रंग दै"

इस प्रकार टोपी पहन कर वह सड़क पर आ बैठी। वहाँ राजा की सवारी निकलने वाली थी। जब सवारी निकली तो उसे देख चिड़िया ने कहा—

"जो हम पै सो राजाहू पै नायँ
जो हम पै सो राजाहू पै नायँ"

इस पर राजा को गुस्सा आया और उसने उसकी टोपी छीन ली तब वह बोली—

"हम पै हती तो राजा ने छीनी
राजा ऐसो कंजूस मेरी टोपी छीन ली।"

राजा ने उसे टोपी लौटा दी तो फिर वह बोली—

"राजा ऐसो डरपोक मेरी टोपी दै दई"

इसके बाद राजा ने चिड़िया को हाथी के पैरों के नीचे डलवाने का हुक्म दिया, तब वह बोली—

---

[1] प्रबन्ध-काव्यों में कथानक रूढ़ियाँ—ब्रजविलास श्रीवास्तव।

१. लोकसाहित्य-विज्ञान—डा० सत्येन्द्र—पृ० ५११।

"आज तो खूबुई देह दबाई
आज तो खूबुई देह दबाई"

फिर राजा ने काँटों में फेंक दी—

"हमारे कुच-कुच कान छिदाए"

बाद में राजा ने उसे कुएँ में फिकवा दिया तो वह बोली—

"राजा ने खूबुई गंगा न्हवाए"

फिर उसे किनारे पर डाल दिया गया। सूख जाने पर वह उड़ गई।

इस प्रकार की लघुछंद कथाएँ उन लघुछन्द कथाओं से भिन्न हैं जिन्हें बर्न महोदया ने भारोपीय लोककहानियों के मूलरूपों में दी है। बर्न महोदया ने केवल एक यह रूप दिया है—

१. सज्जन की एक लड़की से सगाई हो गई, वह लड़की कोई मूर्खता का काम कर बैठी।

२. सज्जन ने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक उसे उतनी ही कुछ और मूर्खाएँ नहीं मिल जातीं वह विवाह नहीं करेगा।

३. उसे तीन मूर्खाएँ मिल गईं, वह लौटा और विवाह कर लिया।[1]

२. **क्रम सम्वृद्ध कहानी**—श्री शरतचन्द्र मित्र के अनुसार—"क्रम-सम्वृद्ध लघु-छन्द कहानियाँ वे हैं जिनमें कथा-वृत्त लघु और सन्तुलित वाक्यों से आगे बढ़ता है, और जिसके प्रत्येक चरण पर तत्सम्बन्धी पूर्व के सभी चरण दुहराए जाते हैं, यहाँ तक कि अन्त तक पहुँचने पर समस्त चरणों की पुनरावृत्ति हो जाती है।" डा० सत्येन्द्र ने 'दौल वाले कौए' की कहानी का उदाहरण दिया है। कहानी काफी लम्बी है। प्रारम्भ बड़ी सीधी एवं सरल भाषा से होता है। फिर उसका रूप बदल कर पद्य में आ जाता है। इसे ठीक-ठीक पद्य भी नहीं जा सकता क्योंकि पद्य के कई गुण इसमें नहीं मिलते। न तो मात्राओं का संतुलन है न एक से वजन के पद। चरणों की भी सीमा नहीं। संगीतात्मकता भी नहीं। कहानी जैसे-जैसे आगे बढ़ती है एक-एक चरण उसमें जुड़ता चला जाता है। कहानी फिर अन्तिम चरण तक पहुँच कर फिर उल्टे क्रम से लौट पड़ती है। यह साधारण गद्य में ही होता है। उदाहरण के रूप में कथा का कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

एक कौआ कँऊँ तै एक दौल लै आऔ। एक ठूँठ पै बैठिकें जैसेंई बाने खाइबे को मनु करौ, कै बु दौल बाकी चौंच में ते निकरि कै ठूँठ में समाइ गयौ।

---

1. लोकसाहित्य-विज्ञान—डा० सत्येन्द्र—पृ० ५१५।

बाने ओत कोसिस करी, बडो मूँड़ मारो, परि बु दौल न निकरयो। तब बु बढ़ई पै गयो और कही कै—

'बढ़ई-बढ़ई, ठूँठ उखारि। ठूँठ चन्ना देई नाँ। मैं चब्बूँ का ?'

बढ़ई ने कही चल हट, मैं जरूर तेरे एक चना के लें वा ठूँठए उखारिबे जाँगो। कौआ तब राजा पै गओ, और कही कै—

राजा-राजा, बढ़ई डाँड। बढ़ई ठूँठ उखारै नाएँ। ठूँठ चन्ना, देई ना। मैं चब्बूँ का ? कथा इसी प्रकार बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक पहुँच जाती है।

"चैंटी-चैंटी हाथी पथारि, हाथी नदिया सोखै नाँए, नदिया आँच बुझावै नाएँ, आँच लाठी जारै नाएँ, लाठी कुत्ता मारै नाएँ, कुत्ता बिलई दौरै नाएँ, बिलई मूसै खावै नाएँ, मूसै कपड़ा फारै नाएँ, रानी राजा रूठै नाएँ, राजा बढ़ई डाँडै नाएँ' बढ़ई ठूँठै उखारै नाएँ, ठूँठ चन्ना देई नाएँ। मैं चब्बूँ का ?"

चैंटी झट्ट तैयार है गई। बू हाथी पै आइकै बोली—घुसित्यूँ सूँडि मैं। हाथी ने कही नाएँ मैं अभाल नदियाए सौखितुँ। नदिया ने कई मौए चों सोंखतुए मैं अभाल आँचें बुझाएँ देतिऊँ..बढ़ई ने कई नहीं महाराज ठूँठ उखारिवे में का लगतुए। कुबतौ और एक बसूला में ठूँठ के द्वै टूँक कद्दए। दौल निकरि आओ। कौआ बाइ लै के उँड़ गओ।

इस प्रकार इस कहानी में जैसे चढ़ाव आता है वैसे उतार भी हो जाता है। नदी और हाथी को छोड़ कर सभी पात्र साधारण अनुभव के हैं। मनुष्य और पशु सभी इसके पात्र हैं। इन कहानियों में मनोरंजन के साथ-साथ किसी न किसी वस्तु और व्यवसाय की सभी अवस्थाओं का ज्ञान भी हो जाता है। ये कहानियाँ बालोपयोगी अधिक हैं। बाल-मनोवृत्ति के अनुकूल ही इनकी कथाएँ हैं। क्रम सम्वर्द्धन से स्मरण शक्ति को सहायता मिलती है। पद्यबद्ध चरणों का समावेश इसी लिए किया गया है। इसीसे लोकसाहित्य में इनका विशेष महत्त्व है।

८ | लोकनाट्य

मानव-जीवन की भाँति ही लोकनाट्य अत्यन्त प्राचीन है। आदिसृष्टि में जब मनुष्य उत्पन्न हुआ होगा तो उसने अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए भाषा को पहले न अपनाकर संकेतों से ही काम लिया होगा। बच्चे की भाँति ही उसने रोना, हँसना, संकेत करना आदि व्यापारों से ही काम लिया होगा। यह संकेत ही अभिनय का प्रारंभिक रूप रहा होगा। आगे चल कर ज्यों-ज्यों उसका विकास होता गया उसने अपनी इस अभिनयात्मक प्रवृत्ति को परिष्कृत कर नाट्यकला के रूप में परिवर्तित कर दिया। इसके अतिरिक्त उसने पशु-पक्षी तथा निर्जीव पदार्थों से भी बहुत कुछ सीखा होगा। पक्षियों को चहचहाते तथा बन्दरों को नाचते-कूदते देख वह भी नाचने-कूदने लगा होगा। इस प्रकार प्रकृति के नाना रूपों से उसने बहुत कुछ सहयोग लिया होगा। लोकजीवन में आज भी पशु-पक्षियों को पालना इसी बात का द्योतक है। इस प्रकार जड़-चेतन को अपने जीवन का साथी बनाकर ही उसने मनोरंजन किया होगा। वैसे मानव जीवन का प्रारम्भ ही अत्यन्त नाटकीय है। इस प्रकार उसके जीवन में अन्तर्निहित यही चेतना ही लोकनाटकों का मूल स्रोत है।

लोकनाट्य : विकास और परम्परा—

नाटकों का प्रारंभिक रूप हमें वेदों में देखने को मिलता है। सरमा, यम-यमी आदि के रूपक का आधार लेकर ही नाटकों का निर्माण किया गया। इस नाट्य अथवा अभिनय के आधार पर चित्रांकन का सूत्रपात हुआ। मूर्तिरचना, पुत्तलिका-कौतुक का आविर्भाव इसके बाद ही हुआ। विकसित होते-होते यह पुत्तलिका-कौतुक काष्ठ-पुत्तलिका-कौतुक में परिवर्तित हो अत्यन्त ही लोकप्रिय रूप बन गया। नाटक तथा छाया-अभिनय के रूप में इसका प्रयोग होने लगा। पुराणकाल तथा महाकाव्य-काल में कठपुतलियों का एक क्रमबद्ध रूप हमें देखने को मिलता है। बृहत्कथा, पंचतन्त्र, आदि में भी कठपुतलियों की चर्चा आई है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के युग में भी कठपुतलियों का इतिहास प्राप्त होता है। अनेक लोककथाओं में विक्रमादित्य के सिंहासन की बत्तीस पुतलियों की चर्चा हुई है। यह परम्परा आज तक चली आ रही है। लोकजीवन में आज भी इनका बड़ा महत्त्व है।

नाटक की उत्पत्ति के मूल में कठपुतलियों का बहुत बड़ा योग रहा है।

नाटक का 'सूत्रधार' शब्द कठपुतलियों से ही हमें प्राप्त हुआ है। जिस प्रकार कठपुतलियाँ नचाने वाला अनेक कठपुतलियों को सूत्र (डोरा) के द्वारा पकड़ कर नचाता है उसी प्रकार आधुनिक नाटकों में सूत्रधार भी नाटक के पात्रों को निर्देश देकर उनसे विभिन्न प्रकार के अभिनय कराता है। इससे स्पष्ट है कि नाटकों का उदय लोकनाट्यों के रूप में हुआ है।

नाटक के सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री भरत द्वारा रचित 'नाट्यशास्त्र' (ई० पू० तीसरी शताब्दी) में प्राप्त होती है। नाट्य-शास्त्र के कुछ उल्लेखनीय प्रंसगों के द्वारा यह बात सिद्ध होती है कि नाटक विशेष परिस्थितियों में उत्पन्न सामाजिक-चेतना का परिणाम है। नाटक का उद्देश्य जनसाधारण का आनन्द और ज्ञानवर्द्धन करना था। भरत के अनुसार ब्रह्मा ने नाट्यशास्त्र की रचना सभी वर्णों के मनोरंजनार्थ ऋग्वेद से शब्द, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गान और अथर्ववेद से रस लेकर पंचम वेद के रूप में की।[1] इससे स्पष्ट होता है कि नाटक की उत्पत्ति के मूल में वर्ग-स्वार्थ की भावना नहीं थी। इस पंचम वेद की रचना, कहा जाता है कि शूद्रों के लिए की। परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि शूद्र शब्द का अर्थ अशिक्षित लोक-समाज है। ऋग्वेद के इन्द्र और मरुत वार्तालाप-सम्बन्धी मन्त्रों से लोक-नाट्य और साहित्यिक नाट्य-परम्परा को विद्वानों ने विकसित माना है।

नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई मत प्रचलित हैं। डा० रिजले का मत है कि नाटक की उत्पत्ति मृतकपूजा से हुई। मृतक वीरों की आत्मा को प्रसन्न करने के लिए उन्हीं के चरित्र का नाटकीय अभिनय किया गया। डा० पिशेल ने कठपुतलियों से नाटकों की उत्पत्ति मानी है। मैक्समूलर का अनुमान है कि ऋग्वेद में कुछ ऐसे प्रसंग हैं जिन्हें नाटकीय संवाद के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। संभवतः ऐसे संवाद से ही नाटकों की उत्पत्ति हुई हो। प्रोफेसर लेवी का भी यही मत है। कीथ ने ऋतु-उत्सवों में होने वाले नृत्यों के मूल में नाटकों की खोज की है। उनके अनुसार वैदिक ऋचाएँ नाट्य-कला के प्रारम्भिक सूत्रों का प्रतिनिधित्व करती हैं। कीथ ने कोरा जाति के मदोत्सव पर सोमपान के समय इन्द्र द्वारा कहे गए मंत्र को स्वगत-कथन का रूप बताया है। नाटकों का यह आदिम रूप आज भी आदिम जातियों के मांगलिक अनुष्ठानों पर दिखाई देता है।

इस प्रकार कुछ विद्वानों के अनुसार अनुष्ठानिक नृत्यों में सांकेतिक मुद्राओं से नाटक की उत्पत्ति मानी है। कहने का अभिप्राय यह है कि मनोरंजन की दृष्टि से नाटक का प्रचार प्रारम्भ से ही चला आ रहा है।

वेदों के अतिरिक्त लोकनाट्य का दूसरा स्रोत रामायण और महाभारत के

---

१. नाटयशास्त्र १।१७-१८

गायकों में माना जाता है। इन्हीं गायकों के द्वारा रामलीला और रासलीला का संभवतः प्रचार हुआ होगा। इन्हीं गायकों को पतंजलि ने शोभिक और ग्रान्थिक कहा है। इस प्रकार के अभिनय में अभिनय करने वाले दो वर्गों में बँट जाते थे। एक कृष्ण के पक्ष का बन जाता था दूसरा कंस के पक्ष का। इस प्रकार के अभिनय द्वारा कथा प्रदर्शित की जाती थी। यह बात उल्लेखनीय है कि कृष्ण-कथा को आर्य तथा आर्येतर जातियों में अधिक महत्व मिला। कृष्ण की लीलाएँ लोक-वार्ता के रूप में पहले से ही इन जातियों में विद्यमान थी। आगे चलकर संस्कृत-नाट्यों में इसकी अवतरणा हुई। इस प्रकार संस्कृत नाटकों के उद्भव में लोक-नाट्य और लोकमंच का महत्वपूर्ण स्थान था। इसी लोकशैली का आगे चल कर पर्याप्त विकास हुआ। पात्रों की दृष्टि से भी विचार किया जाय तो विदूषक तथा रहस्य-भेद खोलकर लड़ाने वाले पात्र, खलनायक आदि लोककल्पना से ही विकसित हुए हैं। नारद, विभीषण, जयचन्द और माहिल जैसे लौकिक पात्र इसके उदाहरण हैं।

सुखान्तकी नाटकों के मूल में लोकमंगल की कामना ही परिलक्षित होती है। प्रहसन और भाण लोकनाट्यों के ही विकसित रूप हैं।

मध्ययुग की परिस्थितियों का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संस्कृत लोकनाटकों की परम्परा लोकजीवन से दूर होकर निर्जीव हो चली थी। मुस्लिम शासकों का आश्रय न मिलने से यह नाटक मन्दिरों तक ही सीमित रह गए। परन्तु भक्तिपरक आन्दोलन ने उस निर्जीव एवं उद्देश्यहीन परम्परा को पुनर्जीवित कर दिया। कृष्णलीला की नाटकीय अभिव्यक्ति राजदरबार तथा जनसाधारण के मंचों पर फिर से अभिनीत की जाने लगी। इसी रासलीला के साथ-साथ रामलीला का भी विकास हुआ। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक लोकमंच ही लोकसमाज का रंजन करता रहा। सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वल्लभाचार्य जी के प्रयत्नों से इसमें कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने कृष्ण-कथा से सम्बन्धित अभिनय को रासलीला के रूप में प्रचारित कर गीत-नाट्य-परम्परा को लोकमंच पर स्थापित किया। यह परम्परा आगे चलकर लोकमंच के कलात्मक तत्वों से विकसित हुई। वल्लभाचार्य के समान गोस्वामी तुलसीदास ने भी रामलीला की स्थापना की जिसकी मंडली सर्वप्रथम रामनगर काशी में स्थापित की गई और संभवतः रामलीला की इसी विकसित परम्परा ने दक्षिण में कथकली के रूप में लोकप्रियता अर्जित की जो आजतक चली आ रही है।

इसी मध्ययुग में आगे चलकर सामाजिक कथानकों का भी विकास हुआ। औरंगजेब के समय में सांग (स्वांग) या नकल के अभिनय का प्रचार मिलता है। इनमें प्रेमकथाओं के अभिनय के साथ-साथ तत्कालीन परिस्थितियों पर भी मधुर व्यंग्य किए जाते थे।

१९वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही लोकनाटकों का रूप धूमिल पड़ने लग गया। १८५७ के गदर के बाद लोककलाएँ लुप्तप्रायः सी हो गईं, फिर भी अलग प्रान्तों में लोकरंजन के लिए लोक-नाट्य का कोई न कोई रूप चलता रहा।

लोकनाट्य : परिभाषा और स्वरूप

लोकनाटकों से अभिप्राय उन नाटकों से है जिनके अभिनय के लिए किसी प्रकार के रंगमंच की तैयारी नहीं करनी पड़ती। ऐसे नाटकों में हमें जन-जीवन तथा लोक-समाज के हर्ष व उल्लास की उचित अभिव्यक्ति मिलती है, और साथ ही इनमें संगीत की भी प्रधानता होती है। इस प्रकार लोक-नाटकों में हमें नृत्य, संगीत और अभिनय—ये तीन तत्व प्राप्त होते हैं जो जनमानस की प्रेरणाओं तथा कामनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति हैं।

लोकनाटकों की परिभाषा तथा विशेषताओं के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विचार उल्लेखनीय हैं—

"संसार के प्रायः सभी देशों में नाटक के आदि रूप का उदय किसी न किसी धार्मिक भावना अथवा चेतना के फलस्वरूप हुआ है। वीरपूजा की भावना अथवा धार्मिक आदेश जो कि प्रायः प्राणिमात्र के हृदय में किसी न किसी अंश में निहित रहता है, धीरे-धीरे नाटक का रूप धारण कर लेता है। यद्यपि अपने आदि रूप में यह नाटक बड़ा ही साधारण और अपरिमार्जित होता है।"[१]

"लोकनाटक सामूहिक आवश्यकताओं और प्रेरणाओं के कारण निर्मित होने से लोककथानकों, लोकविश्वासों और लोकतत्वों को समेटे चलता है और जीवन का प्रतिनिधित्व करता है।"[२]

"लोक-नाट्य की विशेषता उसके लोकधर्मी स्वरूप में निहित है। लोकजीवन से उसका अंगअंगी का नाता है। वाह्याडम्बरों और नागरिक सुसंस्कृत चेष्टाओं के बिना, लोक के मनोभावों और प्रतिक्रियाओं का स्वतन्त्र विकास केवल लोकधर्मी नाट्यशैली में ही संभव है। लोकवार्ता का एक स्वतन्त्र अंग होने के कारण लोक-जीवन में इन नाटकों का अपना अनोखा आकर्षण है।"[३]

"लोकनाट्य लोक-रंजन का आडम्बरहीन साधन है जो नागरिकों के मंच से अपेक्षाकृत निम्न स्तर का, पर विशाल जन के हर्षोल्लास से संबन्धित है। ग्रामीण जनता में इसकी परम्परा युगों से चली आ रही है। चूँकि 'लोक' में ग्रामीण एवं

---

१ हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन,—देवपाल खन्ना, पृ० १५।

२ भारतीय नाट्य साहित्य,—सम्पादक—डा० नगेन्द्र, पृ० ८४।

३ लोकधर्मी नाट्य-परम्परा—श्याम परमार, पृ० ७।

नागरिक जन सम्मलित हैं। अतः लोक-नाट्य एक मिले-जुले जन-समाज का मंच है। परिष्कृत रुचि के लोक के लिए जिन नाटकों का विधान है उसकी आधार-भूमि यही लोकनाट्य है।" १

अतः लोकनाटक शास्त्रीय तंत्र तथा रचना-विधान से इतर लोकमानस की सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति है जिसमें लोकपरम्परा तथा चिरविकसित नाट्य-रूढ़ियों का प्रदर्शन लोकमंच पर होता है। इस लोकमंच का निर्माण भी लोक-मानसिक होता है जो व्यवसायार्थ न होकर अखाड़े के रूप में गली-गलियारों में विद्यमान रहता है। सभी लोकक्षेत्रों के उपादानों से निर्मित इन नाटकों का रचयिता भी लोक होता है।

लोकनाटक : नाट्य धर्मिताएँ—

प्राचीन भारतीय रंगमंच में दो प्रकार की नाट्य धर्मिताएँ पाई जाती हैं—

१. नाट्य-धर्मी
२. लोक-धर्मी

नाटक के स्वरूप तथा प्रकृति अथवा नाटक के तत्वों (कथा-वस्तु, नेता तथा रस) से सम्बन्धित नियमों तथा सिद्धान्तों को नाट्य-धर्मी के उदाहरण के रूप में स्वीकार किया गया है। भरत के विशाल ग्रन्थ 'नाट्य-शास्त्र' को नाट्यधर्मी रूढ़ियों का महान् ग्रंथ कहा जाता है। परन्तु यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि नाट्य की वास्तविक प्रेरणाभूमि लोकजीवन ही है। भरत ने नाट्यशास्त्र में यह स्वीकार भी किया है—

लोकधर्मी भवेत्त्वन्या नाट्यधर्मी तथापरा।
स्वभावो लोकधर्मी तु विभावो नाट्यमेव हि॥ २०३॥ (इक्कीसवां अध्याय)

अर्थात् जो स्वाभाविक है वह लोकधर्मी है और जो विभाव है वह नाट्यधर्मी है। इस नाट्यधर्मी को नृत्यनाटक भी कहा गया है। प्राचीन नाटकों की यही विशेष नाट्यशैली थी। परन्तु ऐसे नाटकों के पीछे लोकमानस है इसे अस्वीकार भरत ने भी नहीं किया।

यह निर्विवाद है कि लोकनाटकों में जन-जीवन के उल्लास एवं उनकी भावनाओं को ही अभिव्यक्ति मिलती है। इसे नाट्यधर्मी नाटकों की भाँति शास्त्रीय नियमों में बाँधा नहीं जा सकता। क्योंकि लोक-नाटकों का क्षेत्र असीमित है। समस्त चराचर जगत उसका लोकमंच है। अतः असंख्य भाव-चेष्टाएँ तथा जन-जीवन की अनवरुद्ध सहज प्रवृत्तियों को कला के शास्त्रीय नियमों में बाँधना नितान्त

---

१ भारतीय लोकसाहित्य—श्याम परमार पृ० १७१।

असंभव है। अतः 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर लोकनाटकों का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' के तेरहवें अध्याय में लोकधर्मी नाट्य-परम्परा के लक्षणों पर विचार करते हुए लिखा है—

स्वभावभावोपगतं शुद्धं तु विकृतं तथा।
लोकवार्ता[1] क्रियोपेतमङ्गलीलाविवर्जितम् ॥ ७१ ॥
स्वभावाभिनयोपेतं नाना स्त्रीपुरुषाश्रयम्।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु सा स्मृता ॥ ७२ ॥

लोकधर्मी का अर्थ हुआ—'स्वाभाविक ढंग से प्रकट हुआ'। इसके दो भेद हैं—१. शुद्ध स्वाभाविक तथा २. विकृत स्वाभाविक। दोनों का आधार एक ही तत्व—लोकवार्ता लौकिक क्रियाएँ—हो। अंगलीला नहीं होनी चाहिए। (लोक-नाटक में) अभिनय स्वाभाविक हो, अनेक प्रकार के स्त्री-पुरुष हों। ऐसा नाट्य ही लोकधर्मी कहा जाता है।

लोकनाटक तथा शास्त्रीय नाटक : अन्तर—

लोकनाट्यों का क्षेत्र असीमित है। इसकी आधारभूमि लोकमानस है। लोक (जन-जीवन) के उल्लास एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति इन नाटकों में हुई है। समस्त चराचर जगत ही इन नाटकों का क्षेत्र है। इन नाटकों में जन-जीवन की असंख्य भाव-चेष्टाएँ अबाध रूप में अभिव्यक्त हुई हैं। अतः इन्हें शास्त्रीय नियमों में बाँधा नहीं जा सकता। शास्त्र के स्थान पर इनमें लोकपरम्परा एवं लोकरूढ़ियों को ही अधिक महत्व मिला है।

शास्त्रीय नाटकों के तीन प्रमुख तत्व स्वीकार किए गए हैं। कथावस्तु, नेता तथा रस। लोकनाटकों का भी तात्विक अध्ययन सुविधा की दृष्टि से किया जा सकता है। लोकनाटकों के तत्व हैं—लोककथा, गीत, नृत्य, मिथ (पुराण) तथा यथार्थ जीवन-प्रसंग। शास्त्रीय-नाटकों में कथातत्व की अत्यन्त अपेक्षा रहती है। उनमें कार्यावस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों एवं संधियों के निर्वाह की आवश्यकता होती है। यह शास्त्रीय-विधान उसमें परमावश्यक होता है। परन्तु लोक-नाटकों में इन विधानों की कोई आवश्यकता नहीं होती। घटनाएँ गीत और नृत्य के ताल-मेल से

---

१. 'लोकवार्ता' शब्द को स्वीकार करने वाले तथा अस्वीकार करने वाले विद्वान् यह देखलें कि 'लोकवार्ता' शब्द आजकल की देन नहीं। स्वयं भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में इस शब्द का प्रयोग किया है। अतः जो विद्वान इस शब्द की महत्ता स्वीकार नहीं करते, वे देखलें कि भरत ने इस शब्द का कितने व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। अतः इस शब्द का इतिहास 'नाट्यशास्त्र' (ई० पू० तीसरी शताब्दी) से भी पहले का है।

टकराती-बलखाती आगे बढ़ती हैं। यह एक नदी के प्रवाह की भाँति कभी व्यवस्थित और अव्यवस्थित रूप में आगे बढ़ती चली जाती है। मानव-जीवन भी जिस प्रकार कभी व्यवस्थित रहता है और कभी अव्यवस्थित, उसी प्रकार लोकनाटकों की भी स्थिति है। यही कारण है कि लोकनाटकों को जीवन (चराचर) की प्रतिच्छवि कहा जा सकता है।

लोकनाटकों का मंच जन-जीवन के बीच खुला क्षेत्र है। गली-गलियारे, नदी-नाले, वन-पर्वत, खेत-खलिहान, द्वार-उपवन, कहीं भी यह स्वतः रच उठता है। इस मंच के लिए कोई साज-सज्जा नहीं करनी पड़ती। किसी प्रकार के प्रसाधनों को जुटाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। चारों ओर की जन-परिधि ही अपने सहज-स्वाभाविक रूप में इसका रंगमंच है। ऐसे स्थान पर ही इसका मंच अपने आप उभर उठता है। "न इसमें पट-परिवर्तन के प्रसाधन की अपेक्षा है, न दृश्य-परिवर्तन की आवश्यकता। वही चारों ओर से दर्शक-खचित मंच-पीठ राजमहल है, दीन की कुटी अथवा गृहस्थ का घर है। वही दूसरे ही क्षण विदेश हो गया, राजसभा युद्धभूमि हो गई और विरह-भूमि मिलन-मन्दिर में परिणत हो गया। जैसे महादर्पण को ज्यों-ज्यों घुमाइए, त्यों-त्यों उसमें विराट जीवन की बहुरंगी प्रतिच्छवि अपने-आप खिचती चलती है, ठीक उसी प्रकार लोक-रंगमंच की, उसके अनौपचारिक, आग्रहहीन मंचपीठ और अन्ततः उसके सहज रंगमंच की प्रकृति है। लोक-रंगमंच के दृश्य-पक्ष, उसके सम्पूर्ण वास्तुपक्ष के स्वप्न-द्रष्टा जैसे दर्शक वर्ग हैं। लोकनाट्य और उसके रंगमंच का दर्शक केवल दर्शक ही नहीं है, वह उस रंगमंच का सक्रिय अभिन्न भाग भी है—उसका सरंक्षक और रसरंजक दोनों।"[1]

शास्त्रीय नाटकों में मंचपीठ तथा दर्शक दीर्घा के पीठ एक पर्दे का विधान होता है। यह पर्दा अंक तथा दृश्यांतर पर खुलता है तथा बन्द होता है। ऐसा लोकनाटकों में नहीं होता। लोकनाटकों का मंच चारों ओर से खुला होता है। उसमें किसी प्रकार के पर्दे का विधान नहीं होता। जैसा जीवन सहज होता है कोई दुराव नहीं होता उसी प्रकार नाटकों में भी कोई दुराव नहीं होता। शास्त्रीय नाटकों के दर्शकों तथा मंच की स्थिति प्रायः औपचारिक होती है। वहाँ दर्शक केवल दर्शक है। केवल आनन्दभोक्ता मंचपीठ से दूर। परन्तु लोकनाटकों में इस प्रकार की दूरी एवं औपचारिकता नहीं मिलती। "लोक-रंगमंच में कुछ भी कहीं से भी औपचारिकता, दूरी नहीं है। यहाँ तक कि प्रवेश और प्रस्थान भी अनौपचारिक है। सब कुछ माना लिया हुआ, सबकी सजीव परिकल्पना पूरी की हुई। सब कुछ इतना यथार्थ, इतना यथार्थ कि सब यथार्थ का भ्रम ही उठ जाए और दर्शक उसका अविच्छिन्न अंश

---

१. रंगमंच और नाटक की भूमिका—लक्ष्मीनारायणलाल—पृ० ४१।

होकर उसमें जैसे रंगरत हो जाए। क्योंकि लोकमंच पर वह जो कुछ देख रहा है, वह सब कुछ जैसे अपनी यथार्थ प्रतिच्छवि देख रहा है। और उसके जीवन की जो क्षति थी, शायद वह वहाँ पूर्ति पा रही हो।"[१]

लोकनाटकों की भाषा तथा अभिनय शास्त्रीय नाटकों की भाँति कृत्रिम तथा सुसंस्कृत नहीं होता। शास्त्रीय नाटकों का विकास तो कला, दर्शन और काव्यतत्त्वों के समन्वय से ही हुआ है परन्तु लोकनाटक में जीवन और आनन्द ही अभिव्यक्त हुआ है। यह हमारे जीवन के साथ ही उत्पन्न हुआ है और हमारे मन और संस्कार के साथ ही यह विकसित भी हुआ है। अतः भाषा और अभिनय के क्षेत्र में भी यह हमारे जीवन की तरह सहज और स्वाभाविक रहा है। लोकनाटकों का उद्देश्य भी शास्त्रीय नाटकों की भाँति निर्दिष्ट नहीं होता और न एकांगी ही होता है। उसका दर्शनमंत्र तो यह है—"हे ईश्वर, जैसे उस राजा की, उस प्रेमी की, सती की, वीर पुरुष और सत्यव्रतधारी की मनोकामना पूरी हुई, हे प्रभु, उसी भाँति सबकी इच्छा-मनोकामना पूरी हो।" यह दर्शन-मंत्र, उससे संस्पर्शित मन का अशीष लोकरंगमंच की अपनी परम्परागत विशेषता और उसकी एकांत शक्ति है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

अनुष्ठानगत रंग-परम्पराएँ—

डा० लक्ष्मीनारायणलाल ने कुछ अनुष्ठानगत रंग-परम्पराओं का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है[२]—

१. मंच के लिए दर्शक-खचित उसी के बीच की धरती, अथवा दर्शक सहित कोई भी निरपेक्ष स्थान।

२. रूप-सज्जा के लिए कुमकुम, खड़िया, गेरू, काजल और मुर्दाशंख।

३. प्रकाश के लिए मशाल।

४. वस्त्र-सज्जा के लिए सामान्य कपड़े—पर गीतों की कड़ियों में लिपटकर वे पात्रानुकूल अनुभूत होने लगते हैं।

५. कभी-कभी चेहरों पर मुखौटे और अतिरिक्त रूप-सज्जा।

६. रंग-प्रसाधन के लिए सही वस्तु की नकल—जैसे घोड़े के लिए काठ का घोड़ा और उस पर बैठा हुआ जैसे यथार्थ सवार।

७. गति और कार्य से दृश्य, स्थान, काल तथा उसके परिवर्तन का सहजबोध।

लोकनाट्य रूढ़ियाँ—

यह पहले ही हम कह चुके हैं कि लोकनाटक एवं लोकमंच के लिए शास्त्रीय

---

१. रंगमंच और नाटक की भूमिका—लक्ष्मीनारायणलाल—पृ० ४१।
२. वही—पृ० ४२।

नाटकों की भाँति शास्त्रीय नियम तथा विधि-विधान नहीं होते। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इस शास्त्र-नियम-विहीनता, रंगशास्त्र विहीनता, और मंच तथा दृश्यगत औपचारिक तत्वों के अभाव को देखकर कोई यह कहे कि लोकनाटक में रूढ़ियाँ नहीं होतीं। रूढ़ियाँ तो हर प्रकार की नाट्यकला एवं रंग-प्रकार के लिए आवश्यक है। वास्तविकता तो यह है कि रूढ़ियाँ तो स्वभावतः उनमें धर्मनिष्ठ रहती हैं। यह बात दूसरी है कि लोकनाटकों की रूढ़ियाँ अलिखित रहती हैं। डा० लक्ष्मी-नारायणलाल ने लोकनाटकों की रूढ़ियों की ओर निम्नलिखित संकेत दिए हैं जो उल्लेखनीय हैं—

१. दृश्यों और अंकों के स्थान पर नाटकीय व्यापार के पूर्ण अंश।

२. नाटक की रचना-विधि में एक प्रकार की शिथिलता, जिसके भीतर स्वाँग, नकल, आशुसंवाद तथा हास्य-व्यंग के लिए क्षेत्र प्राप्त होना होता है—जिससे लोकनाटक में सामाजिक चेतना और उसका तीव्र स्वर उभर जाता है।

३. दृश्य समायोजन का अतिविश्वासी रूप—दर्शकों के बीच में कहीं कुछ भी औपचारिक नहीं।

४. उन्मुक्त मंच के कारण नाट्य-व्यापार की अनुकृति में सहज सीधापन।

५. संगीत और नृत्य के सहज तत्व।

लोकनाटक तथा इसके रंगमंच की रूढ़ियों तथा इसकी परम्पराओं के अध्ययन से जो बात सबसे अधिक आकर्षक और जीवन्त लगती है वह है इसकी इस दिशा में अबाध गतिशीलता। परिवर्तित होते हुए सामाजिक प्रसंग और परिप्रेक्ष्य के साथ उसकी रूढ़ियाँ भी सदा परिवर्तित और विकसित होती रहती हैं। इसका फल यह भी हुआ है कि आंचलिक तथा क्षेत्रीय जन-प्रकृति तथा वहाँ की मनोरंजन-पद्धति के अनुसार एक ही लोकनाटक के विविध रूप-शैलियाँ देश में विकसित हो जाती हैं। और उनके सामूहिक अध्ययन से लोकरंगमंच की अतुलशक्ति का आभास मिलता है।[1]

लोकनाट्य लोकसाहित्य का अंग है—

डा० सत्येन्द्र ने लोकनाट्य के सम्बन्ध में यह शंका प्रकट की है—क्या लोक-नाट्य लोकसाहित्य के अन्तर्गत आता है? इस शंका के उठने का कारण भी है। क्योंकि नाटक और रंगमंच को शास्त्रों ने शताब्दियों पूर्व से अपना प्रतिपाद्य विषय बना लिया है। यही कारण है कि नाटक और रंगमंच को लोकक्षेत्र की वस्तु स्वीकार नहीं किया गया।

वास्तव के यह एक महत्वपूर्ण भ्रम है। भारत में लोकनाटक और रंगमंच स्पष्ट रूप से प्रमुख स्थान रखता है जिसकी एक सुदीर्घ परम्परा भी है। इसी के

---

१. रंगमंच और नाटक की भूमिका—लक्ष्मीनारायणलाल—पृ० ४१।

साथ लोकरंगमंच के निर्माण, अभिनय तथा नाट्यवस्तु का मूल विधान लोकवार्ता-परक तथा लोकमानसिक होता है।

डा० सत्येन्द्र ने अपनी इस शंका का निवारण करते हुए लिखा है—"लोक-रंगमंच लोक की अपनी वस्तु है, यह व्यवसायार्थ नहीं होता। इसके अखाड़े अवश्य होते हैं। ये अखाड़े समस्त रंगमंच के अनुष्ठान को गुरु-शिष्य की गाँठ में बँध कर खड़े होते हैं। प्राय: सभी में एक धार्मिक धुरी भी रहती है। कुछ विधि तथा निषेध रहते हैं। ये विधि-निषेध लोक-मानस के तत्व से युक्त होते हैं। 'क्यों' का उत्तर इनके सम्बन्ध में नहीं पूछा जा सकता।"

आगे डा० सत्येन्द्र ने लिखा है—"लोकरंगमंच का नाट्य-संगीतात्मक होता है। गेयता की इसमें प्रधानता रहती है। इस गेयता का रूप शास्त्रीय नहीं होता। यह सहज लोकसंगीत के तत्वों से युक्त होते हैं। नगाड़े जैसे लोकवाद्य का इनमें उप-योग होता है। वेश-भूषा में लोकप्रियता का ध्यान रखा जाता है।

नाट्य-वस्तु के अभिप्राय और प्रयोग-रूप लोककथा क्षेत्र से तथा लोकवार्ता क्षेत्र से लिए जाते हैं। फलत: लोकरंगमंच तथा लोकनाट्य को लोकवार्ता क्षेत्र का लोकसाहित्य मानना होगा।"[1]

अत: लोकनाटक को लोकसाहित्य के क्षेत्र की वस्तु स्वीकार करना चाहिए। यद्यपि लोकनाटक विरचित होते हैं परन्तु यह रचना लोकक्षेत्रों के उपादानों से निर्मित होने के कारण लोकवार्ता क्षेत्र के लोकसाहित्य के अन्तर्गत आ जाती है। जिस प्रकार साहित्यिक नाटक को साहित्य का अंग स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार लोक-नाटकों को भी लोकसाहित्य का एक अंग स्वीकार करना चाहिए। हाँ, लोकसंगीत और लोकनृत्य के सम्बन्ध में यह शंका खड़ी होती है कि ये लोकसाहित्य के अन्तर्गत रखी जाएँ या नहीं। वैसे लोकसंगीत एवं लोकनृत्य भी लोकमानस के तत्त्व से युक्त होते हैं। अत: लोकवार्ता के तो क्षेत्र हैं परन्तु जिस प्रकार संगीत और नृत्य को साहित्य के अन्तर्गत रखने में संकोच होता है (इन्हें तो अलग कला स्वीकार किया गया है) उसी प्रकार का संकोच लोकसंगीत और लोकनृत्य को लोकसाहित्य के अन्तर्गत रखने में होता है।

लोकनाट्य के विविध अंग अथवा तन्तु—

डा० सत्येन्द्र ने लोकनाट्य के निम्नलिखित तन्तु स्वीकार किए हैं[2]—

१. **अखाड़ा**—

(क) गुरु या उस्ताद

१. लोकसाहित्य-विज्ञान—पृ० ५०८-५०९।
२. वही—पृ० ५०६-५१०।

(ख) मुख्य प्रबन्धक या संचालक
(ग) गायक शिष्य वर्ग
(घ) संगीत रचयिता
(ङ) वाद्ययंत्र

२. अभ्यास—
(क) शिष्यत्व या अनुष्ठान
(ख) खेल या नाट्य के अभ्यासारम्भ का अनुष्ठान
(ग) शिक्षा की प्रक्रिया तथा परिपाटी
(घ) पात्र चयन
(ङ) अभ्यासकाल में अन्य बातें

३. संगीत—
(क) संगीत की वस्तु
(ख) वस्तु में संगीत नियोजन
(ग) भाषा-विधान
(घ) अलंकार तथा रस-विधान
(ङ) अभिप्राय तथा संदेश
(च) संगीत संशोधन प्रणाली
(छ) नए प्रयोगों का प्रयत्न
(ज) नाटकीयता का समावेश

४. रंगमंच—
(क) स्थापन का अनुष्ठान
(ख) रंगमंच का स्वरूप
(ग) नेपथ्य का स्वरूप
(घ) रंगमंच की सज्जा
(ङ) प्रकाश-विधान
(च) वाद्ययंत्र
(छ) अभिनय प्रकार
(ज) रूपमार्जन के साधन (प्लास्टर)
(झ) आरम्भ उसकी शैली
(ञ) अन्त और उसकी शैली

५. विज्ञापन-प्रकार—
६. प्रबन्धादि—

लोकनाट्यों के प्रकार—

१. डा० श्याम परमार का विभाजन[1]—

डा० श्याम परमार ने लोकधर्मी नाट्य-परम्परा को स्थूलतः दो मुख्य भागों में विभक्त किया है—(१) सामयिक लघु प्रहसन तथा (२) मध्यरात्रि में आरम्भ होकर प्रातःकाल तक अभिनेय गीति-नाट्य ।

दूसरी श्रेणी के नाट्यों के सम्बन्ध में परमार जी का विचार है कि इनकी "कथावस्तु धार्मिक, ऐतिहासिक और लौकिक है। रामचरितमानस, श्रीमद्भागवत और महाभारत की कथाओं ने धार्मिक नाट्यों का ताना-बाना बुना है । ऐतिहासिक कथाएँ प्रायः मध्यकाल की हैं और लौकिक कथाएँ पूर्णतः लोकप्रचलित परम्परागत कथानकों पर आधारित हैं। अनेक लोकनाट्य ऐसे हैं जिनकी कथागत सामग्री से प्रायः सभी भिज्ञ होते हैं। इतना होते हुए भी उनके प्रति लोकरुचि तनिक भी शिथिल नहीं होती। वर्षों से लोग उनका अभिनय देखते आ रहे हैं। यही बात ऐतिहासिक और लौकिक कथानकों पर आधारित लोकनाट्यों पर आरोपित की जा सकती है। लोकधर्मी नाट्य-परम्परा के अन्तर्गत आने वाले नाट्य-प्रकारों का विभाजन निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—
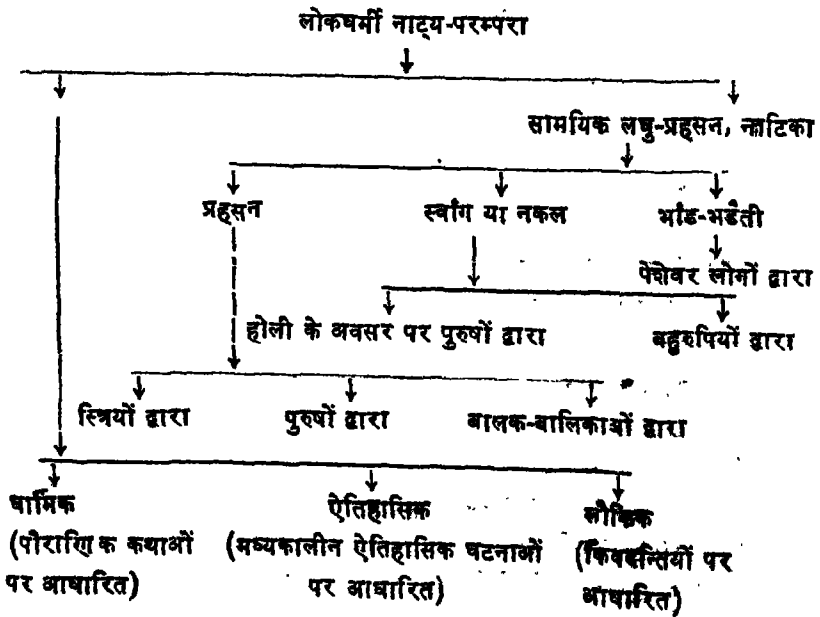
१. लोकधर्मी नाट्य-परम्परा—पृ० ८-९ ।

२. डा० सत्येन्द्र का विभाजन[1]—

डा० सत्येन्द्र ने लोकनाट्य के प्रमुख रूप से चार प्रकार स्वीकार किए हैं—

१. नृत्य प्रधान—

'आइने अकबरी' में जिन कीर्तनियों का उल्लेख हुआ है, वे आजकल 'रास' के रूप में मिलते हैं। रास में रासनाट्य की प्रधानता है, पात्र या अभिनेता गाते नहीं, गाने का कार्य प्रायः साथ की संयोजक संगीत मंडली करती है। संगीत का समस्त स्वरूप प्रायः शास्त्रीय होता है।

२. नाट्य-हास्य प्रधान —

भाँड व्युत्पन्नमति वाले पेशेवर नाट्य-कर्त्ताओं का वंशगत व्यवसाय है। इनका अस्तित्व भी अकबर के समय में था। प्रतीत होता है कि ये संस्कृत-रूपकों के 'भाण' नामक भेद के रूपान्तर हैं। इनमें हास्य-व्यंग की प्रधानता रहती है।

३. संगीत प्रधान कथाबद्ध—

इन नाट्यों में प्रधानता संगीतबद्ध संवादों की होती है। ये कथाबद्ध होते हैं। नौटंकी, भगत, माँच इसी के भेद हैं।

४. नाट्य-वार्ता प्रधान—

इनमें नाट्य और सामान्य रूप से बातचीत रहती है। संगीत का उपयोग यदाकदा ही होता है।

उपर्युक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त लोकनाट्यों का वर्गीकरण इस प्रकार भी किया जा सकता है—

---

१. लोकसाहित्य-विज्ञान—पृ० ५१०-५११।
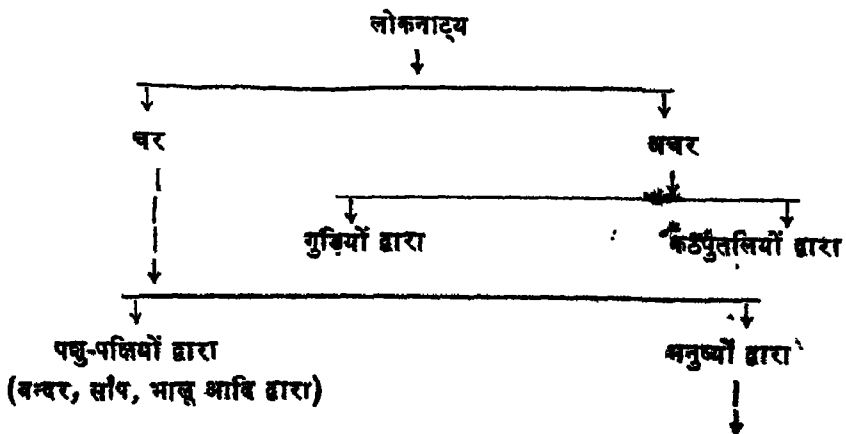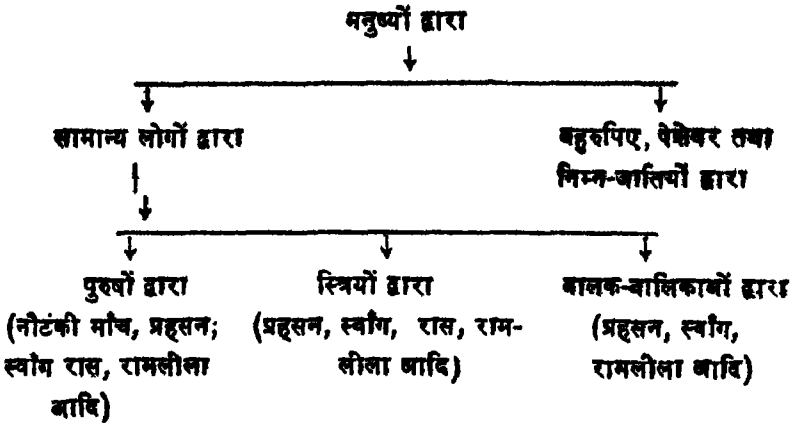
विषयवस्तु की दृष्टि से लोकनाट्यों को मूलतः हम पांच भागों में बांट सकते हैं—

१. धार्मिक, ऐतिहासिक तथा किंवदंतियों पर आधारित (रामलीला, हरिश्चन्द्र आदि)।
२. नृत्य-प्रधान (रासलीला आदि)
३. संगीत-प्रधान (ख्याल, मांच, नौटंकी आदि)
४. हास्य-प्रधान (भांड आदि)
५. वाद्यवार्ता प्रधान।

कुछ प्रसिद्ध लोकनाट्य—

यहाँ हम भारतवर्ष के कुछ प्रसिद्ध लोकनाट्यों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं—

यक्षगान—यक्षगान दक्षिण भारत का प्रसिद्ध लोकनाट्य-रूप है। यह तमिल, तेलगू, कन्नड़ भाषा-भाषी क्षेत्रों में अधिक प्रचलित है। तेलंगाना (आंध्र) में इसे 'विधि भागवतम्' भी कहते हैं। इसे 'प्राकृत नाटक' भी कहा गया है। यक्षगान की परम्परा अत्यधिक प्राचीन है। इतना ही नहीं यह आन्ध्र, कर्नाटक तथा तामिल-संस्कृति की वाहक है। यक्षगान मूलतः एक नृत्य-नाट्य है जिसमें गीतबद्ध संवादों का प्रयोग होता है। जैन-ग्रन्थों में इस नाटक को 'देशी गीत' (लोकगीत) कहा गया है। इस नाटक में साधारण लोगों के साथ-साथ वेश्याएँ भी भाग लेती थीं। स्त्रियाँ पुरुष-वेश धारण कर यक्षगानों में भाग लेती थीं। इसी नाटक के समान बम्बई, हैदराबाद के निकटवर्ती गांवों में 'दोड्ड अट्ट' (जनता के नाटक) या 'बयालता' (खुले रंगमंचीय

नाटक) तथा 'अट्टक्त' (वसन्तमंचीय नाटक) नाम से कुछ लोकनाट्य प्रचलित थे। 'यक्षगान' में रामायण, महाभारत तथा भागवत की प्रसिद्ध तथा लोकप्रियकथाओं को ही लिया जाता था। यक्षगान नाटक दक्षिण के ही 'कथाकली' नृत्य-नाट्य के अधिक समीप है।

वीथि नाटकम्—वीथि नाटकम् या विथि भागवतुम् तेलगु लोकमंच है। इसमें 'यक्षगान' की अनेक विशेषताएं हैं। इसे यक्षगान का एक भेद स्वीकार किया गया है। इसे खुला लोकमंच कहा जा सकता है। इस मंच पर 'कुचिपुडि' कलाकार अपना अभिनय प्रस्तुत कर जनता का मनोरंजन प्रस्तुत करते हैं। इसमें सामूहिक गान को अधिक महत्त्व दिया जाता है। कृष्णलीला का अभिनय विथिनाटकम् का विषय है। इसका अभिनय मन्दिरों में उन्नतमंच पर किया जाता है।

तोलुबोम्लाट—इसे तोलबोम्मलु भी कहा जाता है। यह आन्ध्र-प्रदेश का दूसरा लोकनाट्य-रूप है। तोलुबोम्लाट का अर्थ है 'चमड़े के चित्रों का खेल'। यह कठपुतलियों का ही रूपान्तर मात्र है। इसमें काठ के स्थान पर चमड़े का प्रयोग किया जाता है।

कामनकोट्टु—दक्षिण भारत के 'पोंगाल' उत्सव पर साधारण जनता के मनोरंजन के लिए यह नाट्य खेला जाता है। यह कामदेव और रति की पौराणिक कथा पर आधारित है। मृदंग और घपड़ी के साथ नृत्य करते हुए यह नाटक पूस के महीने में खेला जाता है।

तमाशा—यह महाराष्ट्र का अत्यन्त प्राचीन लोकनाट्य है। इस नाट्य के अभिनय करने वाली मंडली को 'फड़' कहा जाता है। इसमें नृत्य एवं नर्तकी का विशेष महत्व है जो सजधज कर जनता का मनोरंजन करती है। 'डफ' और 'तुन्तुन्या' ग्रामीण वाद्यों का इसमें उपयोग किया जाता है। इसके प्रारम्भ में गणेश की स्तुति की जाती है। फिर लोकगीत गाए जाते हैं। शृंगार प्रधान लावनियाँ तथा वीरों की कीर्ति के गीत प्रधानरूप से गाए जाते हैं। संवादों का भी कुशल आयोजन होता है। अन्त में 'भेदिक' गीत गाया जाता है जिसमें गूढ़ विषयों की दृष्टकूट-शैली में चर्चा की जाती है। तमाशा का मंच अत्यन्त ही साधारण लोकमंच होता है।

ललित—महाराष्ट्र के लोकनाट्य का अत्यन्त प्रिय रूप 'ललित' है। यह मध्ययुगीन धार्मिक मंच है। प्रारम्भ में यह पौराणिक कथाओं तक ही सीमित था परन्तु बाद में चलकर लोकजीवन के विशिष्ट चरित्रों का व्यंगात्मक प्रदर्शन भी इसमें होने लगा। वास्तव में ललित का अर्थ है—नवरात्रि सम्बन्धी कीर्तन। इसमें भी नांदी और गणपति का प्रवेश आवश्यक होता है। सूत्रधार केवल परिचय ही नहीं देता वरन् अभिनय के बीच में भी प्रकट हो जाता है। कथानक की अपेक्षा इसमें संवाद एवं अभिनय को ही महत्त्व दिया जाता है।

गोंधल—गोंधल का अर्थ गड़बड़ी या अव्यवस्था है। प्रमुख हास्य-अभिनेता को ही गोंधल कहा जाता है। इस नाट्य को खेलने वाली विशेष जाति को 'गोंधली' कहते हैं। इसमें नृत्य और गान के माध्यम से अम्बादेवी के प्रति सम्मान प्रकट किया जाता है। नकल और स्वांग को भी इसमें जोड़ा जाता है। विवाहादि अवसरों पर गोंधल की व्यवस्था की जाती है। पंवाड़े आदि ग्रामीण वाद्य-यन्त्रों के साथ यह खूब जोर-शोर से खेला जाता है।

जात्रा—बंगाल, उड़ीसा तथा पूर्वी बिहार में यह लोकनाट्य-रूप अधिक प्रचलित है। जात्रा का अर्थ है—जलूस, उत्सव या प्रवास। इन नाटकों में कृष्ण के मथुरा-प्रवास की कथा अभिनीत की जाती है। बाद में अनेक कृष्ण सम्बन्धी कथानकों का समावेश इसमें होने लगा। धार्मिक भावनाओं के साथ-साथ इसमें शृंगार-परक गीतों और अभिनय का विकास एवं समावेश होने लगा। यात्रा का अभिनय ढोल और मृदंग के साथ सामूहिक गीत के रूप में मन्दिरों के आंगन में होता था। इसका मंच उन्मुक्तमंच होता है। पहले इसमें स्त्रियों का प्रवेश नहीं होता था, पुरुष को ही स्त्री का अभिनय करना पड़ता था। बाद में इसमें स्त्रियों का प्रवेश होने लगा। आजकल जात्रा जनता के केवल मनोरंजन का साधन बन गई है।

गम्भीरा—यह बंगाल का प्रचलित लोकनाट्य है। शिव की लीलाएँ इस मंच पर अभिनीत की जाती है। ये लीलाएँ प्रायः रात्रि को ही होती हैं। यह मंच शाक्त मतावलम्बियों का है। ढाक की आवाज से यह नृत्य प्रारम्भ होता है। सामूहिक रूप से गायन भी होता है और नृत्य भी। इस नाट्य में मंच की विशेष आवश्यकता नहीं होती। जमीन पर कुछ बिछा दिया जाता है और एक साधारण सा पर्दा टाँग दिया जाता है। अभिनय में गम्भीरता भी नहीं पाई जाती। आश्चर्य है कि 'गम्भीरा' होने पर भी यह गम्भीर नहीं रहा।

भवाई—भवाई गुजरात का अत्यन्त प्रचलित परन्तु भद्दा तथा साधारण कोटि का लोकनाट्य है। इसमें किसी प्रकार की व्यवस्था तथा तारतम्य नहीं पाया जाता। भवाई में दैनिक जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का अभिनय धार्मिक कथाओं के विश्वास पर आधारित है। वेश-भूषा भी दैनिक जीवन की होती हैं। तबले, नगाड़े तथा तेज आवाज वाले वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। अभिनेता कभी स्वतन्त्र रूप से तथा कभी समवेत स्वर में गाकर अभिनय करता है। इसमें भी प्रारम्भ में गणपति की वंदना की जाती है। साधारण जनता के लिए यह अत्यन्त ही मनोरंजन का साधन है। पुरुष ही इसमें स्त्रियों का अभिनय करते हैं। इसमें अश्लीलता एवं भद्दापन अधिक पाया जाता है। राजस्थान में भी भवाई लोकनाट्य अधिक प्रचलित रहा। इन लोकनाट्यों में विदूषकों को 'रंगलों' कहा जाता है। इन्हीं 'रंगलों' पर भवाई की सफलता निर्भर रहती है।

कठपुतली—प्राचीनकाल से ही कठपुतली लोकरंगमंच का महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। यद्यपि समस्त उत्तर भारत में कठपुतली का खेल अत्यन्त प्रचलित है परन्तु इसका अधिक प्रचार राजस्थान में ही है। इसके निर्माण में विशेष आडम्बर की आवश्यकता नहीं होती। एक खाट खड़ी करके रंगीन पर्दा टाँग दिया जाता है। चारपाई के पीछे सूत्रधार खड़ा होकर कठपुतलियों से जुड़े सूत्र को हाथ की उँगलियों में बाँधकर नचाता है। एक व्यक्ति या स्त्री ढोलक बजाकर कथा का वर्णन करती है। प्रायः मुगल दरबार से सम्बन्धित घटनाएँ ही खेली जाती हैं।

ख्याल—राजस्थानी लोकमंच का अत्यन्त प्रचलित रूप 'ख्याल' है। १८वीं शताब्दी के आस-पास आगरा के समीपवर्ती क्षेत्रों में एक नई कविता शैली प्रचलित हो चली थी जो आगे चलकर 'ख्याल' के नाम से प्रसिद्ध हुई। ख्याल में उर्दू-फारसी का मिश्रण पाया जाता है। इसको नए-नए कथानकों में बाँधना अत्यन्त कठिन है। ख्यालियों में कई प्रकार के दल होते हैं जो सभी प्रकार के हैं। इसमें भी स्त्री-पात्रों के स्थान पर पुरुष-पात्र ही कार्य करते हैं। धार्मिक, पौराणिक तथा किंवदन्तियों पर आधारित कथाओं को ही इसमें अभिनीत किया जाता है। वास्तव में ये गीति-नाट्य की कोटि में आते हैं। इनमें संगीत की प्रधानता होती है। गाँवों में इसका प्रचार अधिक है।

माँच—मंच का मालवी तद्भव रूप माँच है। माँच और ख्याल तात्विक दृष्टि से एक है। माँच के प्रणेता बालमुकुन्द गुप्त ने समस्त माच रचनाओं को ख्याल कहा है। माँच नौटंकी के भी अधिक निकट है। नौटंकी के समान ही इसमें अभिनय और रूप-सज्जा का स्थान गौण है। स्त्री-पात्रों के स्थान पर पुरुष-पात्र ही कार्य करते हैं। नौटंकी की भाँति इसका रंगमंच भी साधारण होता है। ग्राम तथा शहरों में खुले तथा ऊँचे स्थान पर तख्त बिछाकर यह खेला जाता है। किसी प्रकार के रंगमंचीय आडम्बर की इसमें आवश्यकता नहीं होती। अभिनेता वस्त्र बदल कर मंच पर आता है। मंच तीन ओर से खुला रहता है। तख्त के एक कोने पर गुरु का आसन होता है तो उसके विपरीत दूसरे कोने पर ढोलकिया और सारंगिया का स्थान होता है। संगीत की इसमें प्रधानता रखी जाती है। अतः यह भी एक प्रकार का 'लोकगीति-नाट्य' है। यह मध्य रात्रि से आरम्भ होता है और सूरज की पहली किरण के साथ समाप्त होता है।

नौटंकी, स्वाँग एवं भगत—नौटंकी उत्तर भारत का लोकप्रिय लोकनाट्य है। इसे स्वाँग या भगत भी कहा जाता है। सदियों से नौटंकी ग्रामीण तथा शहरी जनता का मनोरंजन करती चली आरही है। शृंगारपूर्ण कथानक, लोकप्रिय भाषा एवं छंद तथा लोकधुनों पर आधारित संगीत के कारण नौटंकी मनोरंजन का प्रतीक बन गई

है। इसका 'नगाड़ा' तो नौटंकी का पर्याय ही बन गया है। स्व० जयशंकर प्रसाद ने नौटंकी को नाटकी का अपभ्रंश माना है। राजशेखर ने 'कर्पूर मंजरी' में सूत्रधार द्वारा 'सट्टक' को नाटिका के लक्षणों से युक्त बताया है। 'सट्टक' एक प्रकार का नाटक है या लौकिक तमाशा है। संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों ने 'सट्टक' को रूपकों और उपरूपकों में स्थान दिया है। डा० बाबूराम सक्सेना नौटंकी का आरम्भ उर्दू कविता और लोकगीतों से मानते हैं। कालिका प्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर' 'हीररांझा' को सर्वप्रथम नौटंकी का रूप स्वीकार करते हैं। वे इसका जन्म ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में मानते हैं। तेरहवीं शताब्दी में अमीर खुसरो के प्रयत्न से नौटंकी को आगे बढ़ने का अवसर मिला। नौटंकी के सम्बन्ध में एक लोककथा प्रचलित है—नौटंकी नाम की एक राजकुमारी थी। अपनी भाभी से ताने सुनकर फूलसिंह नामक एक नवयुवक उससे शादी करने के लिए निकल पड़ा। एक मालिन की सहायता से वह महल में स्त्रीवेश में पहुँच गया। राजकुमारी और युवक खूब घुलमिल गए। राजकुमारी बोली, "यदि हममें से एक पुरुष होता तो कितना अच्छा होता।" फूलसिंह ने तत्काल अपना सही रूप प्रकट कर दिया। नौटंकी यह देखकर घबरा गई परन्तु बाद में विवाह के लिए तैयार हो गई। परन्तु नौटंकी के पिता ने यह सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया। उसने फूलसिंह को प्राण-दण्ड दिया। इसपर नौटंकी ने पुरुष-वेश धारण कर उसकी रक्षा की। अन्त में फिर इन दोनों का विवाह हो गया।

इसी कथा के आधार पर हाथरस के पं० नत्थाराम शर्मा ने एक नौटंकी लिखी। जिसका नाम है—"संगीत नौटंकी राजकुमारी उर्फ अय्यारा औरत।" यह नौटंकी अत्यन्त ही लोकप्रिय नौटंकी है।

नौटंकी के प्रारम्भ में मंगलाचरण गाया जाता है। इसमें धार्मिक, पौराणिक, तथा श्रृंगारी प्रेमाख्यानक कथाओं को महत्त्व दिया जाता है। बाद में ऐतिहासिक एवं किंवदन्तियों पर आधारित कथानकों को भी स्थान मिलने लगा। इसमें इतना विकास हुआ कि आजकल साधारण लौकिक जीवन से सम्बन्धित घटनाओं को भी महत्त्व दिया जाने लगा। अब कथा के विषय सामाजिक एवं राष्ट्रीय तक होने लगे। नौटंकी में पहले स्त्रियों की भूमिका सुन्दर लड़के ही करते थे। अब कुछ मंडलियों में वेश्याओं तथा वेश्याओं को स्थान मिलने लगा है। नौटंकी में हास्य का बाहुल्य होता है। विदूषक दर्शकों को भोंडे ढंग से हँसाने के साथ-साथ सामाजिक कुरीतियों पर व्यंग भी करता है।

नौटंकी के मंच के लिए किसी प्रकार की रूप-सज्जा तथा विशेष आडम्बर की आवश्यकता नहीं। इसका मंच भी माँच तथा ख्याल की तरह चारों ओर से खुला होता है। पात्र चारों ओर घूम-घूम कर संवाद बोलता है। आजकल की नौटंकियाँ

फिल्मी शिल्प से अत्यधिक प्रभावित हो रही है और उसमें भयानक परिवर्तन भी आता चला आ रहा है।

नौटंकी रचयिताओं में हाथरस के पं० नत्थाराम शर्मा, फर्रुखाबाद के तिरमोहन, कानपुर के श्रीकृष्ण, राधेश्याम कथावाचक तथा लम्बरदार हैं।

रास—ब्रज की जनता का सरल, आडम्बरहीन रंगमंच रास है। नृत्य, गीत, वाद्यसंगीत का अपूर्व समावेश इसमें होता है। ब्रज के विविध लोकजीवन की सुन्दर अभिव्यक्ति रास में होती है। भगवान कृष्ण का गोपियों के साथ एक मंडल में नृत्य करना रास का प्रधान अभिनय है। अनेक नर्तकियों से युक्त नृत्य को ही रास कहा जाता है। इसमें कृष्ण की विविध लीलाओं के साथ-साथ संवाद भी चलते हैं जो गद्य-पद्यमय होते हैं। सूर, नंददास, ललित किशोरी के पद इसमें विशेष रूप से गाए जाते हैं। कवित्त एवं सवैयों का भी उपयोग बीच-बीच में किया जाता है।

'रास' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कोई रास को रसों का समूह कहता है तो कोई नृत्य, अभिनय और संगीत के द्वारा रस सृष्टि को रास कहता है। डा० कंकड रास की उत्पत्ति 'रास' शब्द से मानते हैं।[1] रास का सम्बन्ध 'रासो' से भी स्वीकार किया गया है जो 'रासक' से सम्बन्धित है। 'रासक' को भरत ने उपरूपक माना है।

रास में मुख्यतः संगीत, नृत्य, गीत, आदि को प्रमुख स्थान मिला है। इसमें पात्र आरम्भ से अन्त तक मंच पर ही रहते हैं। ये नाटक छन्दोबद्ध एवं गेय होते हैं। मंगलाचरण अन्य लोकनाट्यों की भाँति इसमें भी होता है।

रामलीला—महाकवि तुलसीदास ने रामलीला का श्रीगणेश किया। रामलीला में मर्यादापुरुषोत्तम राम के जीवन की विविध झाँकियाँ प्रस्तुत की जाती हैं। 'रामचरितमानस' नाटकीय वर्णनों से भरा पड़ा है। उसमें अनेक छोटे-छोटे संवाद हैं जो नाटक ही जान पड़ते हैं। कई स्थानों पर पात्रों की तर्कपूर्ण शैली रंगमंच के लिए अत्यन्त उपयुक्त जान पड़ती है।

रामलीला का रंगमंच अपने ढंग का यथातथ्यवादी रंगमंच है। प्रायः दशहरे के आसपास इसे खेला जाता है। इसके लिए एक मंच एवं प्रेक्षागृह की आवश्यकता नहीं होती वरन् भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपेक्षित दृश्य के अनुकूल वातावरण से लाभ उठा लिया जाता है। यहाँ तक कि वनवास का अभिनय भी मन्दिरों में कर लिया जाता है। गंगापार के लिए नगर के किसी जलाशय को चुन लिया जाता है। इसके अतिरिक्त एक और रूप भी देखने को मिलता है। एक विस्तृत मैदान में एक ओर अयोध्या मान लिया जाता है तो दूसरी ओर लंका। बीच में एक उन्नत मंच पर अभिनय का आयोजन किया जाता है।

---

1. टाइप्स ऑव संस्कृत ड्रामा—पृ० १४१।

रामलीला उत्तर प्रदेश ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण भारतवर्ष में खेले जाने वाला धार्मिक मंच है। इसकी वेश-भूषा एवं रंगसज्जा पर विशेष परिश्रम नहीं किया जाता। पाठ भी किया जाता है और पाठ के साथ-साथ अभिनय भी। रामलीला में अनेक अस्वाभाविकता होने पर भी लोग बड़े उत्साह एवं श्रद्धा से देखते हैं क्योंकि यह जनता की धार्मिक भावना की तुष्टि के साथ-साथ मनोरंजन का भी एक शिष्ट साधन है।

लोकनाट्य : विशेषताएँ—

डा० श्याम परमार ने लोकनाट्यों की विशेषताओं पर विचार करते हुए लिखा है—"युगों से प्रचलित लोकनाट्य परम्परा का अपना स्वरूप विकसित होकर एक ऐसे ढंग पर आ गया है कि उसको रूढ़ कहा जा सकता है। इसलिए उसकी अपनी विशेषताएँ भी क्रमशः उभर सकी हैं। लघु नाटिकाओं अथवा प्रहसनों का रूप यद्यपि व्यवस्थित नहीं है, पर लम्बे ग्रामीण ढर्रे के नाट्यों में बहुत कुछ व्यवस्थित रूप दिखाई देता है। उनकी गठन त्रिधात्मक है—जिसमें अभिनय, नृत्य और गीत तीनों का संयोजित रूप गुम्फित है। शास्त्र-सम्मत अभिनय के चारों अंगों में 'आहार्य' और 'सात्विक' को छोड़कर 'आंगिक' और 'वाचिक' का प्राधान्य लोक-नाट्यों में द्रष्टव्य है।"[१]

वास्तव में लोकनाट्य की विशेषता उसके लोकधर्मी स्वरूप में निहित है। लोकनाट्यों का लोकजीवन से इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि लोक के प्रत्येक उत्सव, त्योहार, मांगलिक अवसर एवं कार्यों के समय इनके अभिनय के बिना कार्यों तथा उत्सवों को सम्पन्न नहीं माना जाता। यहाँ लोकनाट्यों की विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. **कथानक**—लोकनाटकों में प्रायः विकृत कथानक ही अभिनीत किया जाता है। वैसे लोकनाटकों का कथानक प्रायः पौराणिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक होता है। लोकनाट्यकार कथानक के किसी प्रकार के बंधन को स्वीकार नहीं करता। वह आवश्यकता पड़ने पर लोककथा तथा कल्पना से भी काम चलाता है। उसका दृष्टिकोण प्रायः समाजवादी होता है—जमीदारों के अत्याचार, भाई-भाई के झगड़े, पुरुषों के व्यभिचार, गार्हस्थ्य-जीवन की विषमता, जातिभेद आदि सामाजिक समस्याओं पर अनेक लोकनाट्यों का अभिनय किया जा चुका है। वैसे अधिकांश लोकनाट्य प्रेमगाथाओं से सम्बन्धित होते हैं।

लोकनाट्यों में कथानक के दो रूप मिलते हैं—पहले वे जो मुख्य कथा के साथ रात में देर तक चलते हैं। ऐसे कथानकों में घुमाव नहीं होता परन्तु छोटे-छोटे प्रसंगों के द्वारा उनमें विस्तार होता जाता है। दूसरे कथानक वे हैं जिन्हें लघुप्रहसन

---

१. लोकधर्मी नाट्य-परम्परा—पृ० ६।

कहा जाता है। इनमें लोकपरक अनुभूति और मनोरंजन का स्वस्थ स्वरूप देखने को मिलता है।

लोकनाट्यों का कथाप्रवाह शिथिल होता है। मध्य में लोकभावना के अनुरूप द्रुतगति अवश्य हो जाती है। कथा का शिल्प-कौशल उतना परिष्कृत नहीं होता जितना शास्त्रीय नाटकों का। ऐतिहासिक एवं पौराणिक कथानकों से जनता पूर्ण परिचित रहती है अतः लोकनाट्य के दर्शक कथानक के चमत्कारपूर्ण अंश अथवा घटनाओं के कुतूहलपूर्ण उद्घाटन की अपेक्षा नहीं करते। उनका उद्देश्य रसानुभूति द्वारा तृप्ति प्राप्त करना होता है न कि मनोरंजन।

२. पात्र—लोकनाट्यों के पात्र अपनी स्थानीय विशेषताओं से युक्त होते हैं। ये पात्र एक विशिष्ट प्रकार के type होते हैं जो समूह-विशेष के प्रतिनिधि बनकर आते हैं। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त ही अनगढ़ होता है। उनकी स्थूल विशेषताओं के कारण ही उनका ऐसा व्यक्तित्व प्रदर्शित होता है। प्रायः अधिकांश पात्र समाजगत प्रवृत्तियों के चालक होते हैं—खूँसट बुड्ढा, सौत, ढोंगीसाधु, कर्कशा स्त्रियाँ आदि ऐसे ही पात्र हैं। ऐतिहासिक एवं पौराणिक पात्रों में भी स्थानीय रंग अभिव्यक्त होता है।

पात्र अपनी परम्परागत शैली में मंच पर अभिनय करते हैं, किन्तु कोई भी यथार्थवादी शैली अपनाने का प्रयत्न नहीं करता। यहाँ तक कि किस गीत के साथ कैसा अभिनय, संवाद या नृत्य होगा यह रूढ़ हो गया है। परिणामतः लोकनाट्यों का सम्पूर्ण आनन्द उसकी परम्परागत शैली में निहित है। दर्शकगण उसकी तड़क-भड़क की अपेक्षा उसके काव्य-पक्ष में रस लेते हैं। चूँकि पात्र से उनका सीधा सम्बन्ध होता है और वे उसके गुण-अवगुण जानते हैं, इसलिए उनके अभिनय को कला की दृष्टि से नहीं अपितु मनोरंजन की दृष्टि से देखते हैं।"[1]

३. चरित्र-चित्रण—लोकनाट्यों में चरित्र-चित्रण की कोई विशेष समस्या नहीं होती। ऐतिहासिक एवं धार्मिक कथानकीय लोकनाट्यों के चरित्र तो प्रायः जाने पहचाने होते हैं अतः उनकी चरित्रगत विशेषताओं को लोकमंच पर स्थूल रूप से ही प्रस्तुत किया जाता है। उनमें सुसंस्कृत-मानस को छूने वाले तत्व नहीं होते। वे सूक्ष्म भावनाओं को केवल संवादों के माध्यम से ही व्यक्त करते हैं। प्रायः देखा गया है कि स्त्रियों के अभिनय के लिए भी पुरुष-वेश ही धारण किया जाता है। यही कारण है कि स्त्रियों के चरित्र-चित्रण में लालित्य की कमी होती है। विदूषक हास-परिहास के माध्यम से चरित्र के आन्तरिक रहस्यों का उद्घाटन करता है।

४. अभिनय – लोकनाट्यों में समूहगत अभिनय को महत्त्व दिया जाता है। इनमें व्यक्ति को किसी प्रकार का भी महत्त्व नहीं दिया जाता। समाज अथवा जाति की भावनाएँ ही संयुक्त-अभिनय के द्वारा अभिव्यक्त होती हैं। नृत्य अभिनय का प्रमुख माध्यम होता है। नृत्य के ही हावों-भावों का प्रमुख रूप से उपयोग किया जाता है।

---

१. लोकधर्मी नाट्य—परम्परा—श्याम परमार—पृ० ११।

बिना बोले ही कुछ निश्चित एवं परिचित संकेतों से ही बात जनता को समझा दी जाती है। भावावेगों की अभिव्यक्ति पद्यमय अधिक होती है। गद्य भी होता है तो अत्यन्त ही सरल एवं सहज। अतः लोकनाट्यों के अभिनय में नृत्य-मुद्राओं का ही अधिक उपयोग किया जाता है।

५. रूपयोजना तथा प्रसाधन—प्रायः देखा गया है कि लोकनाट्यों में सजीले प्रसाधन, अलंकार एवं चमकीले तथा भड़कीले वस्त्रों की आवश्यकता नहीं होती। कोयला, काजल, गेरू, सफेदा, मुर्दासिंगी आदि साधनों से ही मुँह को पोतकर या मुखौटा लगाकर पात्र रंगीन वस्त्र धारण कर मंच पर आते हैं। पहाड़ी क्षेत्रों में भयावने पशु-आकृति के विशाल मुखौटे अधिक प्रयोग में लाए जाते हैं। स्त्रियों के अभिनय में पुरुषपात्र स्त्रियोचित सभी अलंकारों को धारण करता है। मूछें छिपा लेता है और घूँघट काढ़ लेता है। पुरुष पात्र साधारण धोती, अँगरखा, घाघरा, छड़ी आदि का प्रयोग करता है। इन्हीं उपादानों के द्वारा राजा, फकीर आदि का संकेत दर्शकों को कराया जाता है।

६. संगीत-योजना—लोकनाट्यों का प्राण संगीत है। संगीत के बिना लोकनाट्य शव के समान हैं। संगीत के सहयोग के बिना लोकनाट्यों का अभिव्यक्ति-पक्ष अधूरा रहता है। हारमोनियम, नगाड़ा, ढोलक, मंझीरे, करताल, चिकारा, सारंगी, बाँसुरी आदि वाद्यों के अतिरिक्त अन्य वाद्यों का उपयोग भी लोकनाट्यों में किया जाता है। इन वाद्यों के सहारे अभिनेता अपने कण्ठ का माधुर्य प्रवाहित करने में अधिक समर्थ रहता है। संगीत की शैली के द्वारा ही लोकनाट्यों में आंचलिकता का समावेश हो जाता है। संवादों में भी संगीत का उपयोग किया जाता है। वास्तव में आरम्भ से लेकर अन्त तक वाद्य लोकनाट्यों में बजते ही रहते हैं।

७. उद्देश्य—लोकनाट्यों का उद्देश्य लोक का मनोरंजन करना है। यद्यपि लोकनाट्यों का उद्देश्य शिक्षा तथा उपदेश देना भी है परन्तु मूल उद्देश्य मनोरंजन ही है। मनोरंजन के साथ-साथ लोकजीवन के रीतिरिवाज, आचार-विचार तथा उत्सव-त्यौहार का प्रदर्शन करना भी लोकनाट्यों का उद्देश्य है। कई लोकनाट्यों में इन सब का उल्लेख मिलता है। कुछ नाटक तो इसी उद्देश्य को लेकर लिखे जाते हैं। मिथिला के जट-जटिनी संवाद इसका ज्वलन्त उदाहरण है। हास्य को भी लोक-नाट्यों का प्राण माना गया है। हास्य के माध्यम से ही जनता का मनोरंजन विदूषक आदि पात्र करते हैं।

८. भाषा तथा संवाद—लोकनाट्यों की भाषा काव्यात्मक होती है। उनकी भावाभिव्यक्ति का माध्यम पद्य है। ऐसी पद्यात्मक भाषा तथा संवादों द्वारा लोक की कल्पनाशक्ति भावों को ग्रहण करने की सामर्थ्य रखती है। गद्य में ऐसा प्रभाव नहीं होता। गद्य का उपयोग या तो विदूषक, भाँड आदि करते हैं या जहाँ

इतिवृत्त प्रसंग आते हैं वहाँ होता है। पद्यबद्ध संवाद अधिक मार्मिक तथा प्रभावशाली होते हैं। भाषा सरल, सहज तथा लोकजीवन की ही होती है। उर्दू और फारसी के शब्दों से मिश्रित हिन्दी भाषा का प्रयोग तत्कालीन विशेषता थी। यही लोकभाषा थी जिसमें साधारणीकरण की पूर्ण क्षमता थी। संवाद भी प्रायः पद्यात्मक होते हैं। बीच-बीच में एक-आध वाक्य गद्य के अवश्य आते हैं परन्तु प्रमुखता पद्यात्मक संवादों की ही होती है। शब्द-योजना, वाक्यगठन अनगढ़ होता था। चमत्कार-प्रदर्शन से दूर कथन की बारीकियों पर अधिक ध्यान दिया जाता है। कहीं-कहीं पर आवश्यक रूपक, उपमा आदि अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग देखने को मिलता है।

९. **लोकवार्ता का समावेश**—"लोकविश्वास, परम्परागत मान्यताएँ, रीति-रिवाज, अभिप्राय आदि लोकधर्मी नाटकों में कथानक, संवाद, संगीत और अभिनय के साथ आबद्ध हैं। आंचलिकता इनमें सोलह आना भरी हुई है। लौकिक आचारों के साथ लोकभाषा की सम्पत्ति—गीत, कथाएँ, मुहावरों और स्थानीय बोलियों के ध्वन्यात्मक प्रयोग मंच पर पात्रों द्वारा प्रकट होते हैं। चाहे जैसा भी लोकनाट्य हो, मंच पर वह परम्परा की थाती लेकर ही अवतरित होता है। इसीलिए उसे लोक-विश्वास का आधार मिल जाता है। जनसुलभ, बोधगम्य और लोकधर्मी तत्त्वों का उसमें पूर्णतः समावेश हुआ है। प्रायः संवादों के बीच में जहाँ भी प्रसंग आता है लोकगीत की कड़ियाँ गाई जाती हैं। इसलिए जन का नैकट्य उसे प्राप्त है।"[१]

१०. **लोकमंच**—लोकमंच अत्यन्त ही साधारण कोटि का आडम्बरहीन होता है। यह प्रायः खुला हुआ घरेलू ढंग का होता है। मन्दिर का आँगन हो या चौपाल-चौराहा हो या चबूतरा, लोकनाट्य का मंच है। किसी ऊँचे स्थान पर बल्लियों से मंच बनाकर तख्त डाल दिया जाता है। ऊपर से भी यह खुला रहता है। परदों का उपयोग कम से कम किया जाता है। दृश्यों को पद्यमय कथनों से ही समझा जाता है। दर्शक भी बाह्याडम्बर की ओर ध्यान न देकर पात्रों तथा उनके कथनों पर ही अधिक ध्यान देता है। पर्दे बदलने की प्रथा भी लोकनाट्यों में नहीं होती। प्रायः लोकनाट्यों की अव्यवस्था ही उसकी व्यवस्था मानी जाती है। यही कारण है कि अभिनय सम्बन्धी स्वतन्त्रता भी लोकनाट्यों में अधिक रहती है। दर्शकों को दोष देखने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

उपर्युक्त इन्हीं विशेषताओं के कारण लोकनाट्य-जनता में अधिक लोकप्रिय रहे हैं। सिनेमा का इतना विकास हो जाने पर भी जनता आज उतनी ही तन्मयता के साथ लोकनाट्यों का आनन्द लेती है। आज भी होली आदि विशेष त्योहारों पर या शादी-बारातों में लोकनाट्यों का खुलकर अभिनय होता है जो उसकी लोकप्रियता को ही सिद्ध करता है।

---

१. लोकधर्मी नाट्य परम्परा—श्याम परमार—पृ० ११।

६ | लोक-सुभाषित

१. लोकोक्तियाँ या कहावतें—

लोकोक्तियाँ अनुभूत ज्ञान के सागर हैं। शायद ही संसार का ऐसा कोई देश या जाति रही हो जहाँ लोकोक्तियों या कहावतों का स्थान महत्त्वपूर्ण न रहा हो। संसार की प्रायः सभी भाषाओं में सामान्यबुद्धि तथा व्यवहार-कुशलता का जैसा सुन्दर निदर्शन लोकोक्तियों में हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। यह मानव-स्वभाव तथा व्यवहार-कुशलता की ऐसी धरोहर है जो मानव को उत्तराधिकार मे पीढ़ी दर पीढ़ी से मिलती चली आ रही है। प्रायः देखा जाता है कि दैनिक-जीवन में प्रत्येक समस्याओं पर विचार करने की जितनी बड़ी दलील लोकोक्तियाँ देती हैं वैसी दूसरी कोई नहीं। इनकी बड़ी भारी महिमा है क्योंकि जनता-जनार्दन की विचारधारा इन्हीं के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। इतना ही नहीं इनके माध्यम से किसी जाति या देश की शताब्दियों से चली आ रही विचारधारा का अध्ययन सुगमता से किया जा सकता है। बड़े-बड़े विचारकों एवं अध्येताओं ने लोकोक्तियों से बहुत कुछ सीखा है।

कहावत के लिए संस्कृत में कई शब्द प्रचलित हैं, यथा—लोकोक्ति, प्रवाद, आभाणक, प्रायोवाद, लोकप्रवाद, लौकिकी गाथा आदि। विदेशी भाषाओं में भी इसे अनेक नामों से पुकारा जाता है। जैसे लेटिन में इसे Proverbio कहते हैं; ग्रीक में Paroemia; स्पेनिश में Refran; तुर्की में Atalor Sozu; रूसी में Poslovitsa; अरबी में Mathal; हिब्रू में Mashal; फारसी में Amsal तथा अंग्रेजी में Proverb। भारतीय भाषाओं में भी इसके अनेक नाम हैं। हिन्दी में लोकोक्ति, कहनावत, उपखान, पाखाना; उर्दू में जर्बुल मिस्ल; लँहदा में अखाण; राजस्थानी में ओखाणो, कहवट, कुवावट; गढ़वाली में पखाणा; गुजराती में कहेवत, उखाणु; बंगला मे प्रवाद, लोकोक्ति, प्रवचन; मराठी में म्हण, न्याय, लोकोक्ति; तेलेगु में समीटा; मलयालम में पऴमचोल और तामिल में पऴमोली कहते हैं।

परम्परा—

लोकोक्तियों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वेद तथा उपनिषदों में भी ये प्रचुर परिमाण में पाई जाती हैं। संस्कृत के तो अनेक कवियों ने अपने ग्रन्थों में इनका

अत्यन्त सुन्दर प्रयोग किया है। कालिदास, भारवि, माघ, श्री हर्ष आदि कवियों ने अपनी भाषा को शक्तिशाली एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिए लोकोक्तियों का कई स्थान पर प्रयोग किया है। प्राकृत तथा पालि-ग्रन्थों में भी लोकोक्तियों की अत्यन्त अनुभूतिपूर्ण व्यंजना हुई है। पंचतंत्र तथा हितोपदेश आदि ग्रन्थों में भी नीति-सम्बन्धी उक्तियों के रूप में इनका प्रयोग हुआ है। संस्कृत-साहित्य की कुछ प्रसिद्ध लोकोक्तियां इस प्रकार हैं :—

'रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय', दूरे गभीरे हृदि चावगाढे शंसन्ति कार्यावतरं हि सन्तः', 'कण्टके नैव कण्टकम्', 'शठे शाठ्यं समाचरेत्', 'आयसैः आयसं छेद्यम्', 'क्षीणाः नराः निष्करुणाः भवन्ति', 'वरमद्य कपोतो श्वो मयूरात्' आदि।

लोकोक्तियों का आरम्भ जनजीवन के प्रारम्भ काल से ही हुआ है। वे सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हैं। जनजीवन में इनका स्थान नीति-शास्त्र के समान है। ये जनजीवन की अखण्ड सम्पत्ति हैं। आदिम असभ्य समाज से लेकर आज के शिष्ट समाज में भी इनकी स्थिति निरंतर बनी हुई है। कहीं ये सामाजिक रूप में अवस्थित है तो कहीं ऐतिहासिक रूप में। लोक तथा समाज के आचार-विचार, रीति-रिवाज, धार्मिक तथा नैतिक सम्बन्धों का उल्लेख इनमें स्पष्ट रूप से देखने को मिल जाता है। अतः प्रत्येक काल में इनसे समाज का पथ-प्रदर्शन होता रहा है।

उद्भव और विकास—

लोकोक्तियों को किसी विशेष व्यक्ति की उक्ति न कहकर लोक की उक्ति माना जाता है। वस्तुतः लोकोक्ति का निर्माण प्रारम्भ में तो व्यक्ति की उक्ति के रूप में ही हुआ होगा परन्तु उस निर्माता का व्यक्तित्व इतना लोकमय रहता है कि वह उस व्यक्ति-विशेष की उक्ति न होकर लोक की उक्ति हो जाती है। वास्तव में जीवन की वास्तविकताओं ने ही लोकोक्तियों को जन्म दिया है। यह विशाल जगत ही इनका निर्माण स्थल है।

इन लोकोक्तियों के निर्माता पोथियों के पाठक नहीं थे और न ही बुद्धि-विलासी व्यक्ति थे। वे तो जीवन के द्रष्टा थे। उनके प्रतिदिन के प्रत्यक्ष अनुभवों की क्षिप्र एवं सरस अभिव्यक्ति ने ही इन्हें जन्म दिया है।

लोकोक्तियों का जन्म कैसे हुआ ? इस सम्बन्ध में कुछ कह सकना कठिन है। हाँ, इस सम्बन्ध में कल्पना अवश्य की जा सकती है। डा० कन्हैयालाल सहल ने इसके स्पष्टीकरण के लिए दो रूप प्रस्तुत किये हैं :—

जो घड़ा पूरा भरा नहीं होता, वह कुछ छलकता है और छलकने से आवाज होती है। इसके विरुद्ध जो पूरा भरा होता है, वह न छलकता है और न उसमें से

कोई आवाज ही होती है। पानी का घड़ा लेकर आती हुई स्त्रियों के सम्बन्ध में यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है। किन्तु यह तो मात्र नेत्रानुभव है। न जाने कितने लोग इस दृश्य को देखते हैं किन्तु किसी प्रकार की मानसिक प्रतिक्रिया उनमें नहीं होती। किन्तु किसी दिन किसी विचारशील व्यक्ति के मन में यह दृश्य उस व्यक्ति का चित्र सामने खड़ा कर देता है जो बोलता बहुत है किन्तु जिसका ज्ञान अधकचरा है, जिसकी विद्या अधूरी है। ऐसी स्थिति में नेत्रानुभव मन के अनुभव के रूप में परिणत हो जाता है और उसके मुखसे सहसा निकल पड़ता है 'अधजल गगरी छलकत जाय'। यद्यपि यह वाक्य प्रसंग-विशेष पर व्यक्ति के मुख से निकला था तथापि समान प्रसंग आने पर अन्य लोग भी इस वाक्य की आवृत्ति करने लगते हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति की उक्ति लोक की उक्ति बन जाती है, कहावत का रूप धारण कर लेती है।

लोकोक्तियों के उत्पत्ति के सम्बन्ध में दूसरी कल्पना इस प्रकार है—कल्पना करिए कि किसी शिकारी ने बन्दूक के निशाने से एक पक्षी को मार डाला और उसे हस्तगत कर लिया। यह हस्तगत पक्षी हवा में उड़ते हुए अथवा झाड़ियों में छिपे हुए अनेक पक्षियों की अपेक्षा श्रेष्ठ है किन्तु कभी-कभी शिकारी दूसरे अनेक पक्षियों के लोभ में इस हस्तगत लाभ को छोड़ देते हैं। यह प्रायः सभी शिकारियों का नेत्रानुभव है किन्तु किसी शिकारी के मुख से कभी पहले-पहल जब यह वाक्य निकला पड़ा होगा 'हस्तगत एक पक्षी झाड़ी में छिपे दो पक्षियों के बराबर है' (A bird in hand is worth two in the bush) तब यह समझना चाहिए कि उसके नेत्रानुभव ने मानसिक अनुभव का रूप धारण कर लिया था। नेत्रानुभव और मानसिक अनुभव की इस एकाकारिता में ही कहावत का प्रादुर्भाव होता है। यद्यपि इस कहावत की उद्भावना का श्रेय शिकारी जगत् को जा सकता है किन्तु इसका प्रयोग शिकारियों तक ही सीमित नहीं है। कहावत की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह अभिधेयार्थ को लेकर प्रवृत्त नहीं होती, उसका प्रयोग अन्योक्ति अथवा अन्यापदेश के रूप में होता है। हम भी अपने जीवन में अनेक बार जब प्रस्तुत अथवा प्रकृत लाभ को छोड़कर अनिश्चित अप्रस्तुत लाभ की ओर उन्मुख होते हैं तो चेतावनी के रूप में उक्त कहावत का प्रयोग किया जा सकता है।[1]

कहावतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तीन प्रमुख आधार हैं—(क) लोककथाएँ, (ख) ऐतिहासिक घटनाएँ और (ग) प्राज्ञ-वचन।

(क) लोककथाएँ—मानवजाति के प्रत्येक अनुभव के पीछे कोई न कोई छोटी-मोटी कहानी या घटना अवश्य होती है। यही कारण है कि गढ़वाली या

---

१. राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन—पृ० ३८-३९।

राजस्थानी में कहावत को 'अखाणों' या 'ओखाणा' कहा गया है। अतः प्रत्येक कहावत के पीछे भी कोई न कोई घटना अवश्य होगी। कहावत के द्वारा किसी कहानी या घटना का संकेत भी दिया जाता है। यह संकेत प्रायः चरम वाक्य द्वारा दिया जाता है। जैसे 'जो तुम्हें कह गया, वह मुझे भी कह गया'। कथाओं में चरम-वाक्य अत्यन्त शक्तिशाली होता है जिसके कारण कहानी का आकर्षण बढ़ जाता है।

लोककथाओं से शिक्षा भी मिलती है उसे अनेक लोगों ने सूक्ति या लोकोक्ति के रूप में रखने का प्रयत्न किया है। वैदिक कथाओं से जो शिक्षा मिलती हैं उसे एक लेखक ने 'नीतिमंजरी' में सूक्तियों और लोकोक्तियों के रूप में जड़ दिया है। पंचतंत्र; हितोपदेश आदि ग्रन्थ इसके उदाहरण हैं।

कुछ ऐसे कहावती वाक्य भी हैं जो असंभव अर्थ को प्रकट करते हैं जैसे 'वह ऐसा चला गया जैसे गधे के सर से सींग।' गधे के तो सींग नहीं होते तब सींगों का चला जाना कैसे संभव है। अतः ऐसे असंभव अभिप्रायों को द्योतित करने वाले इस प्रकार के कहावती वाक्य के पीछे कोई न कोई लोककथा अवश्य होती है।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी कथाएं भी हैं जिनकी उद्भावना कहावतों से होती हैं। जैसे यह कहावत 'जहाँ निन्यान्वे वहाँ पूरे सौ।' कहा जाता है कि एक डाकू जिसने निन्यान्वे कत्ल किए, एक ब्राह्मण के समझाने पर, सन्मार्ग पर आ गया। परन्तु एक दिन एक निरंकुश तथा अत्याचारी अफसर को गरीब पर अत्याचार करते देख उससे रहा नहीं गया। उसने अफसर को बहुत समझाया। न मानने पर उसने यह कहते हुए, 'ठीक, जहाँ निन्यान्वे, वहाँ पूरे सौ' और उस अफसर का सर धड़ से अलग कर दिया।

(ख) ऐतिहासिक घटनाएं—कभी-कभी किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के मुख से महत्वपूर्ण वाक्य निकल जाता है तो वह भी कहावत का रूप धारण कर लेता है। जैसे मारवाड़-विजय पर शेरशाह का यह कथन—'एक मुट्ठी भर बाजरे के लिए मैंने दिल्ली का राज्य खो दिया।' तान्हा जी की मृत्यु पर शिवाजी का यह कथन—'गढ़ आला, पण सिंह गेला' आदि।

(ग) प्राज्ञ-वचन—प्रायः कहावतें दो प्रकार की होती हैं—साहित्यिक तथा लौकिक। साहित्यिक कहावतें लौकिक कहावतों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत होती हैं। इनके निर्माता लौकिक कहावतों की भाँति अज्ञात नहीं होते। ये प्रायः कवियों की उक्तियाँ होती हैं। अनेक कवियों ने भी लोक-प्रचलित उक्तियों का प्रयोग किया है। ऐसी प्रयुक्त लोकोक्तियाँ कब और कैसे काव्यात्मक रूप धारण कर लेती हैं, इसका पता लगाना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

परिभाषा —

संसार की अनेक भाषाओं में कहावतों के सम्बन्ध में कुछ कहावतें प्रचलित हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) 'कहावतें झूठ नहीं बोलतीं।' इस आशय को अभिव्यक्त करने वाली अनेक परिभाषाएँ हैं। उदाहरण के लिए—

(i) Proverbs do not lie. (Russian).
(ii) A Proverb never lies. (German).
(iii) A Proverb does not tell a lie. (Estonian).
(iv) If there is falsity in a proverb, then milk can be sour. (Malyalam).
(v) Old sayings contain no lies. (Basque).
(vi) There are no proverbial sayings which are not true. (Don Quixote).

(२) कुछ अन्य भाषाओं में कहावत की निम्नलिखित परिभाषाएँ दी गई हैं—

(i) Proverbs are the daughters of daily experience. (Dutch).
(ii) Proverbs are the children of experience. (English).
(iii) Proverbs are so called because they are proved. (Italian).
(iv) It may be true what some men say, it must be true what all men say. (English).

(३) कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने कहावतों की परिभाषाएँ इस प्रकार दी हैं—

(i) Centuries have not worm-eaten the solidity of this ancient furniture of mind. (Disaraeli).
(ii) These fragments of wisdom, the proverbs in the earliest ages serve as the unwritten laws of morality. (Disaraeli).
(iii) A proverb is the wit of one and wisdom of many. (Lord Russel).
(iv) A proverb is the remnant of the ancient philosophy preserved amidst very many destructions on account of its brevity and fitness for use. (Aristotle).
(v) Jewels five words long that on the streched forefinger of all time sparkle for ever. (Tennyson).
(vi) A proverb is the interpretation of the words of the wise. (Bible).
(vii) Proverb may be said to be the abridgments of wisdom. (Joubert).

(viii) Short sentences into which, as in rules, the ancients have compressed life. (John Agricola).

(ix) Short sentences drawn from long experience. (Cervantes).

(x) Well-known and well-used dicta framed in a sort of out-of the way form and fashion. (Evasmus).

(xi) Proverbs are the literature of reason, or the statement of absolute truth, without qualification ; like the sacred books of each nation, they are the sanctuary of its institutions. (Emerson).

उपर्युक्त परिभाषाओं से निम्नलिखित निष्कर्ष सामने आते हैं—

(i) कहावतें सत्य के कारण चिरकाल तक जीवित रहती हैं।

(ii) कहावतें किसी व्यक्ति-विशेष की रचना न होकर समूह की होती हैं।

(iii) कहावतें ज्ञान का संक्षेपीकरण हैं।

(iv) जब अनुभव सर्वजनीन हो जाता है, सबकी बुद्धि और मन को प्रभावित करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है तभी कहावत के रूप में उसका जन्म होता है।

(v) उत्साह और जिन्दादिली कहावत के जनन में सहायक होते हैं।

(vi) एक व्यक्ति की विदग्धता और अनेक का ज्ञान कहावतें हैं।

(vii) कहावतें आदिमकाल से अलिखित नैतिक कानून का काम देती हैं।

कुछ भारतीय विद्वानों ने भी कहावतों पर अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं—

(१) "लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के चोखे और चुभते हुए सूत्र हैं। अनन्तकाल तक धातुओं को तपाकर सूर्य-रश्मि नाना प्रकार के रत्न-उपरत्नों का निर्माण करती हैं, जिनका आलोक सदा छिटकता रहता है। उसी प्रकार लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के घनीभूत रत्न हैं, जिन्हें बुद्धि और अनुभव की किरणों से फूटने वाली ज्योति प्राप्त होती है। लोकोक्तियाँ प्रकृति के स्फुलिंगी तत्वों की भाँति अपनी प्रखर किरणें चारों ओर फैलाती रहती हैं। उनसे मनुष्य को व्यावहारिक जीवन की गुत्थियों या उलझनों में बहुत बड़ी सहायता मिलती है। लोकोक्ति का आश्रय पाकर मनुष्य की तर्क-बुद्धि शताब्दियों के संचित ज्ञान से आश्वस्त-सी बन जाती है और उसे अंधेरे में उजाला दिखाई पड़ने लगता है, वह अपना कर्तव्य निश्चित करने में तुरन्त समर्थ बन जाती है।"[१] (वासुदेवशरण अग्रवाल)।

(२) "अपने कथन की पुष्टि में किसी को शिक्षा या चेतावनी देने के उद्देश्य से किसी बात को किसी की आड़ में कहने के अभिप्राय से अथवा किसी को उपालम्भ

---

१. पृथिवी-पुत्र—पृ० १११।

देने व किसी पर व्यंग्य करने आदि के लिए अपने में स्वतन्त्र अर्थ रखने वाली जिस लोक-प्रचलित तथा सामान्यतः सारगर्भित, संक्षिप्त एवं चटपटी उक्ति का लोग प्रयोग करते हैं, उसे लोकोक्ति अथवा कहावत का नाम दिया जा सकता है।"[1]

(कन्हैयालाल सहल)।

(३) "जीवन के विस्तृत प्रांगण में भिन्न-भिन्न अनुभव सर्वसाधारण-जन के मानस को प्रभावित करके उसके अभिव्यक्ति से सम्बन्धित अंग को उत्कर्ष प्रदान करते हैं। ये ही अनुभव लोकोक्तियाँ—कहावतें—हैं।"[2] (श्याम परमार)।

इस प्रकार लोकोक्तियों की असंख्य परिभाषाएँ दी जा सकती हैं, परन्तु किसी निर्दोष परिभाषा की ओर इंगित करना कठिन कार्य है। लोकोक्तियों के स्वरूप को लक्ष्य में रखते हुए हम कह सकते हैं कि—

लोकोक्तियाँ लोकमानस की ऐसी संक्षिप्त, विदग्ध तथा लोकप्रिय उक्तियाँ हैं जिनमें मानवी-ज्ञान तथा अनुभव अपने सहज तथा घनीभूत रूप में विद्यमान रहता है। ये ही लोकजीवन की सप्राणता या जिन्दादिली के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

लोकोक्तियाँ और कहावतें—

यद्यपि लोकोक्तियाँ और कहावतें एक ही अर्थ के दो पर्याय शब्द हैं फिर भी उनमें कुछ तात्विक अन्तर है। लोकोक्ति का शाब्दिक अर्थ लोक की उक्ति अथवा कथन है। इस दृष्टि से इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। परन्तु आज यह शब्द कहावत या 'प्रोवर्ब' (अंग्रेजी शब्द Proverb) के अर्थ में रूढ़ हो गया। लोकोक्ति से एक बात यह भी स्पष्ट हो जाती है कि यह लोक की उक्ति है अतः इन उक्तियों में व्यक्ति के व्यक्तित्व का कोई महत्त्व नहीं होता। जब कोई कथन अनुभव की कसौटी पर खरा उतर जाता है तभी उसे लोकोक्ति की संज्ञा मिलती है। किन्तु कहावत शब्द की व्यंजना लोकोक्ति के अनुरूप नहीं। वास्तव में कहावत से ही लोकोक्ति का विकास होता है। अतः कहावत के सभी गुण और तत्त्व लोकोक्ति में समा जाते हैं परन्तु लोकोक्ति के सभी तत्त्व कहावत में नहीं पाए जाते। किसी व्यक्ति द्वारा कहा हुआ वाक्य जब अपनी अभिव्यक्ति के अनुरूप सत्य का प्रतिपादन करता है तभी वह 'कहावत' कहलाने का अधिकारी बनता है। इसी प्रकार जब ऐसे कथन लोकानुभव की पृष्ठभूमि पर व्यक्तित्वहीन होकर प्रतिष्ठित हो जाते हैं तब लोकोक्ति कहलाते हैं। अतः जो अन्तर वर्ग तथा समानान्तर चतुर्भुज में है वही अन्तर लोकोक्ति एवं कहावत में है।

---

१. राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन—पृ० २०।

२. भारतीय लोकसाहित्य—पृ० १८४।

लोकोक्तियों की विशेषताएँ—

लोकोक्तियों की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा—

"लोकोक्ति-साहित्य प्रकृति के ज्ञान की भाँति सार्वभौम है। न उसका कोई कर्त्ता है न उसका देशकाल से उतना घनिष्ट सम्बन्ध है जितना अन्य साधारण साहित्य का होता है। सदा बहने वाले वायु और सूर्य के प्रकाश के समान लोकोक्तियाँ मानव-मात्र की सम्पत्ति हैं और उनके रस का स्रोत सबके लिए खुला रहता है। लोकोक्तियों का रस भण्डार अक्षय है। हजारों बार कही-सुनी जाने पर भी लोकोक्ति का जब अवसर पर व्यवहार किया जाता है तब उसमें से सदा एकसा साहित्यिक ओज और आनन्द उत्पन्न होता है।"[१]

एक पाश्चात्य विद्वान हावेल ने लोकोक्तियों की तीन प्रमुख विशेषताओं की ओर संकेत किया है जो इस प्रकार हैं—

(१) Brevity (संक्षिप्तता), (२) Sense (सारगर्भितता) तथा (३) Piquancy or Salt (सप्राणता या चटपटापन)।[२]

हेस्टिंग्स ने इसमें एक और विशेषता जोड़ी है—Popularity (लोकप्रियता)।[3]

डा० श्याम परमार की दृष्टि में लाघवत्व, अनुभूति और निरीक्षण, सरल भाषा, प्रभावोत्पादक शैली, लोकरंजन लोकोक्तियों की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने लोकोक्तियों की तीन प्रधान विशेषताओं की ओर ध्यान दिलाया है—समास-शैली, अनुभूति और निरीक्षण तथा सरलता।

हमारी दृष्टि में लोकोक्तियों अथवा कहावतों की निम्नलिखित प्रधान विशेषताएँ हैं—

(१) ज्ञान और अनुभव से भरे (२) सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक (३) अज्ञात रचयिता (४) रस के अक्षय भंडार (५) लाघवत्व (६) सरलता (७) सप्राणता या जिन्दादिली (८) विदग्धता या भंगिमा (९) सारगर्भितता तथा (१०) लोकप्रियता।

१. ज्ञान और अनुभव से भरे—कहावतें एक बहुत बड़ी दलील हैं। ऐसी दलील कि जिसके सामने सबको हार माननी पड़ती है। न्याय में आप्त-वाक्य को प्रमाण माना गया है परन्तु कहावतों का महत्व उससे किसी प्रकार कम नहीं। कहावतों में लोक का ज्ञान व अनुभव कूट-कूट कर भरा होता है। इनमें न जाने कितने व्यक्तियों के अनमोल अनुभवों का भंडार संचित रहता है। यही कारण है कि

---

१. पृथिवी-पुत्र—पृ० १११।
२. Lessons in Proverbs (R. C. Trench) p. 7.
३. Encyclopaedia of Religion and Ethics. Vol. X. p. 412.

ईसामसीह तथा बुद्ध जैसे महान् व्यक्तियों ने कहावतों के माध्यम से भी शिक्षा दी। दार्शनिक अरस्तू ने भी कहावतों का संग्रह किया। एक संक्षिप्त वाक्य जीवन का कितना अनुभव और ज्ञान अपने में भरे रहता है इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की परिभाषा में कहावत की इसी विशेषता की ओर संकेत किया गया है।

२. सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक—कहावतों का महत्त्व किसी एक विशेष काल और देश से सम्बन्धित न होकर सार्वकालिक और सार्वदेशिक होता है। घाघ और भड्डरी की कहावतों का आज भी उतना ही महत्त्व है जितना उनके स्वयं के समय में था। जिस प्रकार ज्ञान काल और देश की सीमा में नहीं बांधा जा सकता उसी प्रकार कहावतों को भी किसी सीमा मे नही बांधा जा सकता क्योंकि लोक या व्यक्ति का ज्ञान इन्हीं कहावतों में घनीभूत रहता है।

३. अज्ञात रचयिता—लोकगीत, लोकगाथा, लोककथा आदि की भांति कहावतों का रचयिता भी अज्ञात होता है। ट्रेंच ने कहावतों की परिभाषा देते हुए कहा है—"वे कथन जो अनाम हैं, जिनके निर्माता का पता नहीं।" परन्तु यह तो निर्विवाद है कि प्रारम्भ में कोई न कोई व्यक्ति ही इसका निर्माता रहा होगा। एक के मुँह से निकली बात जब सबकी जबान पर आ गई तब सबकी हो गई। तभी यह लोकोक्ति बनी होगी। तब वह व्यक्ति विशेष की रचना न होकर जनता-जनार्दन की उक्ति बन जाती है। और फिर बाद में यह कोई जान भी पाता कि इसका रचयिता कौन है। घाघ और भड्डरी की कहावतें इसलिए पहचान ली जाती हैं कि उनमें उनका नाम जुड़ा है। किन्तु सैकड़ों कहावतें ऐसी हैं जिनमें रचयिता के नाम की छाप नही है।

४. रस के अक्षय भंडार—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि लोकोक्तियों का रस-भंडार अक्षय है। हजारों बार कही-सुनी जाने पर भी लोकोक्ति का जब अवसर पर व्यवहार किया जाता है तब उसमें से सदा एक-सा साहित्यिक ओज और आनन्द उत्पन्न होता है। कविता की भांति बार-बार सुनने पर भी जीव नहीं अघाते।

५. लाघवत्व—लाघवत्व के कारण ही लोकोक्ति मुँह पर रहती है। 'देखन में छोटे लगें घाव करें गम्भीर' उक्ति कहावतों पर पूर्ण चरितार्थ होती है। एक कहावत के सामने बड़े-बड़े तर्क एवं प्रबन्ध बेकार हो जाते हैं। बड़े-बड़े अहंकारियों का घमंड चूर-चूर हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि इनमें 'गागर में सागर' भरा होता है। सामान्यतः, कहावतें लम्बी नहीं होतीं। लाघवत्व अथवा संक्षिप्तता का मतलब यह नहीं कि कहावत 'एक पंक्ति' की ही। संक्षिप्तता से तात्पर्य यह है कि उसमें एक भी शब्द व्यर्थ का न हो।

६. सरलता—सरलता कहावत की प्रमुख विशेषता है। भाषा की सरलता कहावत को अधिक प्रभावशाली बना देती है। सुनते ही इनका अर्थ हृदयंगम हो जाता है। सरलता से ही भाषा में चुस्ती आती है।

७. सप्राणता या जिन्दादिली—प्राणवत्ता से कहावत की उमर बढ़ जाती है। उक्ति में प्रभाव उत्पन्न हो जाता है और उसका महत्व बढ़ जाता है। वास्तव में सप्राणता कहावत या लोकोक्ति के जनन में सहायक होती है।

८. विदग्धता या भंगिमा—सर्वेन्स्टीव का कथन है—"(कहावत) दीर्घ-कालीन चतुराई से चुने हुए छोटे-छोटे कथन हैं।" रसेल ने भी कहा है—"अनेकों का चातुर्य और एक की बुद्धि का चमत्कार—एक की सूझ जिसमें अनेकों का चातुर्य सन्निहित है।" वास्तव मे कहावतों की विदग्धता का कारण उनकी संक्षिप्तता है। शेक्सपीयर ने कहा भी है कि 'Brevity is the soul of wit.'

९. सारगर्भितत्व—Trench ने सारगर्भितता को कहावतों का प्रधान गुण माना है। इसी के कारण कहावतें इतने समय तक प्रचलित रहती हैं। बिना सार के कहावत बेकार। विचारो तथा अनुभवों का समाहार कहावतों में होता है।

१०. लोकप्रियता—लोकप्रियता कहावतों का अनिवार्य लक्षण है। Hastings ने भी Popularity (लोकप्रियता) को कहावतों का आवश्यक गुण माना है। यह कहावतों का प्राण है।

यह आवश्यक नही कि उपर्युक्त सभी विशेषताएं किसी एक कहावत या लोकोक्ति मे प्राप्त हो जाएँ या किसी एक या दो विशेषताओं के न होने पर कहावतों के महत्व पर आघात पड़ता हो, ऐसी बात नही है। अधिकांश विशेषताएँ एक अच्छी लोकोक्ति में सरलता से मिल जाती हैं।

लोकोक्तियों का वर्गीकरण—

लोकोक्तियों या कहावतों के वर्गीकरण का प्रश्न अत्यन्त जटिल है। क्योंकि कहावतों के विषय इतने विविध होते हैं कि उनकी सीमा निर्धारित नही की जा सकती। फिर भी कुछ विद्वानों ने वर्गीकरण करने की कोशिश की है।

महादेव साहा का वर्गीकरण—

डा० महादेव साहा द्वारा किया गया वर्गीकरण इस प्रकार है—

१. विदेशी प्रभावों का अध्ययन।
२. भाषाशास्त्र सम्बन्धी लोकोक्तियाँ।
३. नृ-विज्ञान सम्बन्धी।
४. राजनीति-कानून सम्बन्धी।
५. भौतिक विषय सम्बन्धी।
६. ऐतिहासिक।
७. इतिहास विषयक।
८. व्यंग्यपूर्ण।

जान क्रिश्चियन का वर्गीकरण—

Behar Proverbs के सम्पादक जॉन क्रिश्चियन ने कहावतों को छः मुख्य वर्गों में विभाजित किया है—

१. मनुष्य की कमजोरियों, त्रुटियों तथा अवगुणों से संबद्ध ।
२. सांसारिक ज्ञान-विषयक ।
३. सामाजिक और नैतिक ।
४. जातियों की विशेषताओं से सम्बद्ध ।
५. कृषि और ऋतुओं-सम्बन्धी ।
६. पशु और सामान्य जीव-जन्तुओं से सम्बन्धित ।

मेनवारिंग का वर्गीकरण—

Marathi Proverbs के लेखक मेनवारिंग (Manwaring) का वर्गीकरण १४ वर्गों में विभाजित है—

कृषि, जीव-जन्तु, अंग और प्रत्यंग, भोजन, नीति, स्वास्थ्य और रुग्णता, गृह, धन, नाम, प्रकृति, सम्बन्ध, धर्म, व्यापार और व्यवसाय तथा प्रकीर्ण ।

डा० सत्येन्द्र का वर्गीकरण—

डा० सत्येन्द्र ने लोकोक्तियों को तीन प्रमुख भागों में बाँटा है[1]—

१. गम्भीर कथन से सम्बन्ध रखने वाली सामान्य कहावतें ।
२. गम्भीर कथन विषयक स्थान अथवा लोकविशिष्ट कहावतें ।
३. शैली वक्र लोकोक्तियाँ ।

श्याम परमार का वर्गीकरण—

श्याम परमार ने मोटे रूप में कहावतों को चार वर्गों में विभाजित किया है[2]—

१. विषयानुसार, २. स्थानानुसार, ३. भाषानुसार, ४. जातीयानुसार ।

डा० उपाध्याय का वर्गीकरण—

डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने लोकोक्तियों का वर्गीकरण प्रधानतया पाँच प्रकार से किया है[3]—

१. स्थान सम्बन्धी लोकोक्तियाँ ।
२. जाति सम्बन्धी लोकोक्तियाँ ।
३. प्रकृति तथा कृषि सम्बन्धी लोकोक्तियाँ ।
४. पशु-पक्षी सम्बन्धी लोकोक्तियाँ ।
५. प्रकीर्ण ।

---

१. लोकसाहित्य-विज्ञान—पृ० ४५७ ।
२. भारतीय लोकसाहित्य—पृ० १८८ ।
३. लोकसाहित्य की भूमिका—पृ० १६१ ।

डा० सहल का वर्गीकरण—

डा० कन्हैयालाल सहल ने रूप और वर्ण्य-विषय को दृष्टि में रखकर कहावतों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है[1]—

१. ऐतिहासिक कहावतें।
२. स्थान-सम्बन्धी कहावतें।
३. राजस्थानी कहावतों में समाज का चित्र।
  (क) जाति-सम्बन्धी कहावतें।
  (ख) नारी-सम्बन्धी कहावतें।
४. शिक्षा, ज्ञान और साहित्य।
  (क) शिक्षा-सम्बन्धी कहावतें।
  (ख) मनोवैज्ञानिक कहावतें।
  (ग) राजस्थानी साहित्य में कहावतें।
५. धर्म और जीवन-दर्शन।
  (क) धर्म और ईश्वर-विषयक कहावतें।
  (ख) शकुन-सम्बन्धी कहावतें।
  (ग) लोक-विश्वास-सम्बन्धी कहावतें।
  (घ जीवन-दर्शन-सम्बन्धी कहावतें।
६. कृषि-सम्बन्धी कहावतें।
७. वर्षा-सम्बन्धी कहावतें।
८. प्रकीर्ण।

उपर्युक्त वर्गीकरणों में डा० साहा तथा डा० सहल का ही वर्गीकरण व्यापक तथा वैज्ञानिक माना जा सकता है। डा० सहल के 'ऐतिहासिक कहावतों' के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक कहावतें सभी भाषाओं में इतनी अधिक नहीं मिल सकती जितनी कि डा० सहल को राजस्थानी भाषा में मिल गई हैं। अतः ऐतिहासिक कहावतों को प्रकीर्ण में रखा जा सकता है। डा० सत्या गुप्त के सम्मुख खड़ीबोली के कहावतों का अध्ययन करते समय यही कठिनाई आई अतः उन्होंने ऐतिहासिक कहावतों को सामाजिक कहावतों के अन्तर्गत रख लिया। डा० सहल के वर्गीकरण के आधार पर डा० सत्या गुप्त ने अपना वर्गीकरण इस प्रकार किया है[2]—

१. सामाजिक कहावतें—
  (क) जाति-सम्बन्धी।   (ख) नारी-सम्बन्धी।

---

१. राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन—पृ० ५८-५६।
२. खड़ीबोली का लोकसाहित्य—पृ० २५६।

(ग) ऐतिहासिक। (घ) सामाजिक व्यवहार-ज्ञान सम्बन्धी।

२. भाग्य-सम्बन्धी कहावतें। ३. खान-पान तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी।

४. लोक-विश्वास। ५. मनोवैज्ञानिक।

६. कथा-सम्बन्धी। ७. भाषाविज्ञान सम्बन्धी।

८. प्रकीर्ण।

इन्हीं वर्गीकरणों के आधार पर ही हमने अपना एक 'आदर्श वर्गीकरण' प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है:—

१. सामाजिक तथा नैतिक—
   (क) जाति-सम्बन्धी। (ख) नारी-सम्बन्धी।
   (ग) सामान्य व्यवहार-ज्ञान-सम्बन्धी।
   (घ) खान-पान तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी।

२. ज्ञान, दर्शन तथा धर्म-सम्बन्धी—
   (क) मनोवैज्ञानिक। (ख) भाषावैज्ञानिक।
   (ग) गणित-सम्बन्धी। (घ) ईश्वर तथा धर्म-विषयक।
   (ङ) जीवन-दर्शन सम्बन्धी। (च) भाग्य-सम्बन्धी।

३. शिक्षा तथा साहित्य-सम्बन्धी।

४. कृषि तथा ऋतु-सम्बन्धी।

५. स्थान-सम्बन्धी।

६. लोकविश्वास-सम्बन्धी।

७. जीव-जन्तु तथा पशुपक्षी सम्बन्धी।

८. प्रकीर्ण।

१. सामाजिक तथा नैतिक—

व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो सभी कहावतें सामाजिक होती हैं क्योंकि वही कहावत समाज में लोकप्रिय होती है जिसे समाज स्वीकार कर लेता है। अतः जिस प्रदेश के सामाजिक जीवन का परिचय प्राप्त करना हो तो वहाँ की कहावतों का अध्ययन परमावश्यक है। समाज का घनीभूत दृष्टिकोण कहावतों में समाहित हो जाता है। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधवा-विवाह, जातिभेद, नारी आदि के सम्बन्ध में कहावतों से हमें बहुत कुछ मिल जाता है। समाज का जीवनादर्श भी नीति-सम्बन्धी कहावतों के रूप में देखा जा सकता है।

समाज में कई प्रकार की जातियाँ रहती हैं और प्रत्येक जाति का अपना एक विशेष जातिगत गुण होता है। कहावतों के माध्यम से हमें यह गुण देखने को मिल जाता है। कुछ जाति-सम्बन्धी कहावतें इस प्रकार हैं—

अनपढ़ जाट पढ़ा बराबर, पढ़ा जाट खुदा बराबर; बामन, कुत्ता, हाथी, ये

न जात के साथी; तीन कनोजिए तेरह चूल्हे; कायस्थ बच्चा कभी न सच्चा, सच्चा भी तो गधे का बच्चा; बनिया मित्र न वेश्या सती; बनिया यार दबै को; सौ सुनार की एक लुहार की; धोबी का कुत्ता घर का न घाट का आदि।

नारी-सम्बन्धी कहावतों से यह ज्ञात हो जाता है कि नारी की समाज में स्थिति क्या है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' में महाभारतकालीन नारी का चित्र है। परन्तु समाज में नारी की स्थिति परिवर्तनशील रही है अतः कहावतों के माध्यम से ही इसका ज्ञान किया जा सकता है। समाज में माँ का स्थान सर्वोच्च माना गया है। स्त्री के त्याग, सौभाग्यवान होना, पुत्रवती होना आदि के विषय में अनेक कहावतें मिलती हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

दूध की गैय्या पूत की मैया सबन्ने प्यारी; वो ही नारी सुहागिन जिसे पिया चाहे; मा पिस्सनहारी भी पाल लेगी, बाप लखपती भी नीं पाल सकता; मा टोटे की बाप नफे का; बहन हुए की, यार बखत का; सार प्यारी की मेंहदी, पिया प्यारी का पान; बहन के घर भाई कुत्ता, ससुर घर जमाई कुत्ता, सब कुत्तों का सरदार जो बाप रहे धी के द्वार आदि।

सामान्य व्यवहार-ज्ञान-सम्बन्धी कहावतें भी अधिक मिलती हैं। समाज के विचार एवं विश्वास, आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज कहावतों में अधिक अभिव्यक्त होते हैं। नीति-सम्बन्धी लोकोक्तियों का भी पथ-प्रदर्शन के लिए अधिक महत्त्व है कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

बड़े का कहा और आँवले का खाया पीछे मीठा लगता है; न अंधे को नौतो, ना दो जने आवें; मुहब्बत दूर की खटाई अमचूर की; बैर और प्रीत बराबर वालों की; मजबूरी का नाम महात्मागांधी; मुसीबत कहकर नहीं आती; बहते पानी और उड़ते पंछी का भरोसा क्या; साठा पर पाठा; दुधारी गाय की लात भी सही जाती है; एक अनार सौ बीमार आदि।

समाज में खान-पान-सम्बन्धी अनेक विचार निम्न कहावतों में मिल जाते हैं—

नीबू का अचार जितना पुराना उतना अच्छा; खिचड़ी तेरे चार यार, पापड़, चटनी, दही, अचार; गुन घटि गयो गाजर खाएँ ते, बल बाढ़ियों बालि चबाएँ ते आदि।

२. ज्ञान, दर्शन तथा धर्म-सम्बन्धी—

यद्यपि कहावतों में दर्शनशास्त्र की भाँति तात्विक विश्लेषण तो नहीं मिलता परन्तु बहुत सी कहावतों में जीवन की व्यावहारिक सच्चाई इस प्रकार अभिव्यक्त होती है कि वह हमारा ध्यान आकर्षित करती है। इन कहावतों के पीछे जनता का मनोविज्ञान अभिव्यक्त होता है। झूठे व्यक्ति के अचेतन मन में यह बात दबी रहती है

कि उसकी बात पर लोक विश्वास नहीं करेगा। अतः वह झूठ को छिपाने के लिए सौगंध खाता है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति में कुछ कमी होती है वह उसे ढँकने के लिए अपनी अधिक प्रशंसा करता है। ज्ञान तथा चतुरता की कमी के कारण मनुष्य हीन-भाव का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार कुछ कहावतें ऐसी भी मिलती हैं जिनमें लोक का यह मनोविज्ञान अभिव्यक्त होता है जैसे—

कुत्ते की दुम बारह बरस तक दबी रही, पर निकली तब टेढ़ी निकली; गरजता है सो बरसता नहीं; चोर चोरी छोड़ेगा पर हेराफेरी नहीं छोड़ेगा; अधजल गगरी छलकत जाए, आदि।

इसी प्रकार कुछ कहावतों द्वारा भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी तथ्यों का भी पता चलता है। खड़ीबोली दित्व-प्रधान भाषा है। वर्ण-संयुक्ति भी उसमें पर्याप्त मात्रा में मिलती है। उदाहरण—ठाड्डे की जोरु सबकी दाद्दी, अर माड़े की जोरु सब की भाब्बी; सब दिन चंगी, तिव्हार दिन नंगी आदि।

ईश्वर के सम्बन्ध में अनेक प्रवाद प्रचलित हैं। कहीं ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है तो कहीं उस पर संदेह किया गया है तो कहीं उसकी उदारता, न्याय-बुद्धि तथा व्यापकता पर अगाध विश्वास किया गया है। जैसे—

बचाने वाले के हजार हाथ हैं; भगवान के घर देर है पर अन्धेर नहीं है; भगवान जब देता है तो छप्पर फाड़ कर देता है; आदि।

इसी प्रकार धर्म-सम्बन्धी कहावतें भी अनेक मिलती हैं। जैसे—

धर्म कियाँ सूँ धन वधै; साँच को आँच नहीं आदि।

प्रायः देखा गया है कि सामान्य जनता आस्थावान् तथा धार्मिक होती है अतः उनका ईश्वर पर अपार विश्वास रहता है। उनके लिए तो 'हरि इच्छा ही बलवान' है। इस भाग्यवाद के सम्बन्ध में भी अनेक कहावतें मिलती हैं—

अनहोनी होती नहीं, होनी होय सो होय; अपनी-अपनी करनी अपना-अपना भाग; क्वारी के भाग से ब्याही मरे; भगवान अपने गधों को भी हलवा खिलाता है आदि।

२. शिक्षा तथा साहित्य-सम्बन्धी—

शिक्षा-सम्बन्धी कहावतों में तत्कालीन शिक्षा-पद्धति के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है। गुरु एवं विद्यार्थी के सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ता है। जैसे—

गुरु की चोट, विद्या की पोट; घोवत विद्या नै खोदत पाणी; माया अंट की विद्या कंठ की आदि।

इसी प्रकार साहित्य-सम्बन्धी जो कहावतें हैं उनका विस्तृत अध्ययन डा० कन्हैयालाल सहल ने अपनी पुस्तक 'राजस्थानी कहावतें' (पृ० १९०-२११) में

किया है। कई कवियों तथा साहित्यिक ग्रन्थों में प्रयुक्त लोकोक्तियाँ जनमानस में अधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय हुई हैं। प्रेमचन्द प्रसाद, तथा शुक्ल जी की कई उक्तियाँ लोकोक्ति बन गई हैं।

४. *कृषि तथा ऋतु-सम्बन्धी—*

कृषि तथा ऋतु के सम्बन्ध में घाघ तथा भड्डरी की अनेक लोकोक्तियाँ जनमानस में प्रचलित हैं। वायु का दिशागत प्रभाव, बिजली के चमकने तथा रंग से वर्षा सम्बन्धी सूचना, नक्षत्रों से वर्षा होने-न-होने की सूचना हमें लोकोक्तियों से प्राप्त होती है। इसी प्रकार सिंचाई, निराई, बुआई के सम्बन्ध में भी अनेक लोकोक्तियाँ मिलती हैं। ऊख के खेत को कितना जोतना चाहिए, इस सम्बन्ध में घाघ की लोकोक्ति है—

तीन कियारी तेरह गोड़।
तब देखैं ऊखी के पोर॥

खाद के सम्बन्ध में भी लोकोक्ति है—

जेकरे खेत पड़ा नहिं गोबर।
वही किसान को जान्यो दूबर॥

५. *स्थान-सम्बन्धी—*

कई लोकोक्तियाँ ऐसी हैं जो किसी देश या स्थान-विशेष की विशेषताओं को प्रकट करती हैं। काशी के सम्बन्ध में एक लोकोक्ति प्रसिद्ध है—

राँड, साँड, सीढ़ी, सन्यासी;
इनसे बचे तो सेवे कासी।

इसी प्रकार बुन्देलखंड के सम्बन्ध में लोकोक्ति है—

जमीं हमवार नहीं, पेड़ फलदार नहीं;
मरद वफादार नहीं, औरत बिन यार नहीं।

६. *लोकविश्वास-सम्बन्धी—*

वास्तव में जनजीवन लोकविश्वासों से ओतप्रोत होता है। सभ्य एवं शिष्ट-संस्कृति के लोग इन विश्वासों को अन्धविश्वास की संज्ञा देते हैं। परन्तु ये अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण होते हैं। इन्हीं के आधार पर शकुन या अपशकुन की गणना की जाती है। कुछ अपशकुन विकलांग मनुष्यों के दर्शन से उत्पन्न माने जाते हैं, कुछ छींक आने, भुजा फड़कने आँख फड़कने आदि से और विभिन्न वस्तुओं के दर्शन से। जैसे रीता बर्तन मिलना या भरा घड़ा मिलना, बिल्ली का रास्ता काटना, आदि। कुछ यात्रा सम्बन्धी शकुन भी होते हैं। इन सब पर भी अनेक लोकोक्तियाँ मिलती हैं।

७. *जीव-जन्तु तथा पशु-पक्षी-सम्बन्धी —*

लोक में ऐसी अनेक लोकोक्तियाँ प्राप्त होती हैं जो विभिन्न पशु-पक्षी सम्बन्धी हैं। इनमें कुछ ऐसी भी हैं जिनमें पशुओं तथा पक्षियों के लक्षणों पर प्रकाश पड़ता है। जैसे बुरे बैल के सम्बन्ध में यह लोकोक्ति—

'उत्तर बगौनी मुँह का महुवा, ताहि देखि हरवहवा रोवा॥'

विभिन्न अवसरों पर गीदड़ और कौओं का बोलना अशुभ माना जाता है। इसकी सूचना हमे कहावतों से ही मिलती है, यथा—

रात को बोलै कागला, दिन में बोलै स्याल।
तो यों भाखै भड्डरी निहचै पड़िहै काल॥

सर्प, भ्रमर, चींटी आदि में सर्प के सम्बन्ध में अनेक लोकोक्तियाँ प्राप्त होती हैं। साँप हर जगह तो टेढ़ा ही चलता है पर बिल में तो सीधा ही घुसता है; साँप का सोया बिच्छू का रोया; साँप के बच्चे का छोटा क्या बड़ा क्या ? आदि।

८. *प्रकीर्ण —*

१. **पेड़-पौधे सम्बन्धी**—करील की लकड़ी टूट भले जाय पर झुक नहीं सकती; रोहीड़े के फूल देखने में ही खूबसूरत होते हैं; आदि।

२. **आशीर्वादात्मक**—सुहागधनों, बेटाजनों; दूदाँ नहाओ पूताँ फलों आदि।

इसके अतिरिक्त सुई, डोरा, आरी, लाल-मिर्च, कढ़ाई, तवा, ताल आदि अनेक दैनिक व्यवहार की वस्तुओं से सम्बन्धित अनेक कहावतें पाई जाती हैं।

२. *मुहावरा —*

मुहावरों का प्रयोग कहावतों की भाँति ही दैनिक जीवन में निरंतर होता है। वास्तव में मुहावरों की लाक्षणिक शक्ति से भाषा में संयम आ जाता है और आवश्यक विस्तार भी दूर हो जाता है। "मुहावरा किसी बोली, या भाषा में प्रयुक्त होने वाले वे अपूर्ण वाक्य खंड हैं, जो अपनी उपस्थिति से समस्त वाक्य को सबल, सतेज और रोचक बना लेते हैं। मुहावरा लोकोक्ति के समान अपने में पूर्ण नहीं होता वह वाक्यांश होता है और उसकी सार्थकता वाक्य में प्रयुक्त होने पर ही होती है। उसका व्यवहार स्वतंत्र रूप से नहीं किया जा सकता। यह सदैव अपने मूल रूप में प्रयुक्त होता है। शब्द में परिवर्तन करने से अर्थों में भी परिवर्तन हो जाता है। संसार में मनुष्य ने अपने लोकव्यवहार में जिन-जिन वस्तुओं और विचारों को बहुत कौतूहल से देखा-समझा, और बार-बार उनका अनुभव किया, उन्हीं को शब्दों में बाँधा है, यही मुहावरे कहलाते हैं।

भाषा-शास्त्रियों का कहना है कि मुहावरों की उत्पत्ति का रहस्य है मानव की प्रयत्न-लाघव प्रियता। वह छोटे से छोटे शब्दों में अपने को व्यक्त करना चाहता

है। मनुष्य स्वभाव से रहस्यात्मकता-प्रिय भी है। वह कुछ गोपनीय कहने का आदी भी है, इसी से साधारण शब्दों में न कहकर भिन्न भाषा में प्रयोग करता है। मुहावरे सदैव गद्यात्मक होते हैं तथा बहुत लघु होते है।"[1]

अर्थ—

मुहावरों और कहावतों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ संग्रहों में कहावतों के साथ-साथ मुहावरों को भी समेट लिया गया है। स्पष्ट है कि उन्होंने कहावतों एवं मुहावरों में कोई विभाजन रेखा नहीं खींची। पर इस विभाजन पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

'मुहावरा' शब्द अरबी भाषा का है जो 'हौर' शब्द से बना है। इसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—परस्पर बातचीत करना, एक दूसरे से सवाल-जवाब करना। 'हिन्दी शब्द-सागर' में मुहावरा का अर्थ इस प्रकार दिया गया है कि मुहावरा लक्षणा या व्यंजना द्वारा सिद्ध वाक्य या वह प्रयोग है जो किसी एक ही बोली या लिखी जाने वाली भाषा में प्रचलित हो और जिसका अर्थ प्रत्यक्ष अभिधेय अर्थ से विलक्षण हो। किसी एक भाषा में दिखाई पड़ने वाली असाधारण शब्द-योजना अथवा प्रयोग मुहावरे के नाम से अभिहित की जा सकती है। जैसे 'लाठी खाना' मुहावरा है क्योंकि इसमें 'खाना' शब्द अपने साधारण अर्थ में नहीं आया, लाक्षणिक अर्थ में आया है। लाठी खाने की चीज नहीं है, पर बोल-चाल में 'लाठी खाना' का अर्थ 'लाठी का प्रहार सहना' लिया जाता है। इसी प्रकार 'गुल खिलाना', 'घर करना', 'चमड़ा खींचना', 'चिकनी-चुपड़ी बातें' मुहावरे के अन्तर्गत हैं। कुछ लोग इसे 'रोजमर्रा' या 'बोलचाल' भी कहते हैं।[2]

परन्तु मुहावरे और रोजमर्रा में अन्तर है। या यों कहिए कि मुहावरे के दो रूप हैं—एक वह जिसे हम रोजमर्रा या बोलचाल कहते हैं, दूसरा वह जिसका अर्थ लक्षणा एवं व्यंजना द्वारा जाना जाता है। जैसे 'सात-आठ दिन पहले की बात है' में 'साठ-आठ' रोजमर्रा है। परन्तु लाठी खाना, गम खाना, घर करना आदि मुहावरे हैं वो अभिधेयार्थ में प्रयुक्त न होकर लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में प्रयुक्त होते हैं।

लक्षण—

मुहावरों के लक्षण पर पं० गयाप्रसाद शुक्ल का दृष्टिकोण इस प्रकार है—"मुहावरा वास्तव में लक्षणा या व्यंजना द्वारा सिद्ध वह वाक्यांश है जो किसी एक ही बोली अथवा लिखी जाने वाली भाषा में प्रचलित हो और जिसका अर्थ प्रत्यक्ष

---

१. खड़ीबोली का लोकसाहित्य—डा० सत्या गुप्त—पृ० २७९।
२. हिन्दी शब्दसागर—तीसरा भाग—पृ० २७६१।

(अभिधेय) अर्थ से विलक्षण हो।"[१] पं० गयाप्रसाद जी की यह परिभाषा हिन्दी शब्दसागर की परिभाषा से काफी मिलती-जुलती है। इसी संदर्भ में 'हिन्दी मुहावरे' के लेखक का दृष्टिकोण भी द्रष्टव्य है—"सब मुहावरे वाक्यांश होते हैं, परन्तु सब वाक्यांश मुहावरे नहीं होते।" 'नदी-तट पर' वाक्यांश है, पर मुहावरा नहीं। 'टेढ़ी खीर' मुहावरेदार वाक्यांश है, पर मुहावरा नहीं। मुहावरे के अन्त में क्रिया का संज्ञार्थक रूप रहना है। मुहावरे का शब्दार्थ नहीं लिया जाता किन्तु उसमें तथा लाक्षणिक अर्थ में कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य रहता है। मुहावरों के शब्द नपे-तुले होते हैं, उनमें हेर-फेर सम्भव नहीं। 'पानी-पानी होना' मुहावरा है, 'जल-जल होना' नहीं।[२]

प्रयोजन तथा उद्देश्य—

मुहावरों की उपयोगिता भाषागत है। इनके प्रयोगों से भाषा अधिक प्रभावशाली हो जाती है। इनके द्वारा हम जो कुछ कहना चाहते हैं उससे विषय का स्पष्टीकरण अधिक अच्छी तरह से होता है। मुहावरों से भाषा को सबल बनाने में सहायता मिलती है। व्यंग्यवाणों के लिए भी इससे अधिक अच्छा शास्त्र मिलना सम्भव नहीं। मुहावरों का अध्ययन करते समय संस्कारगत प्रथाओं का उल्लेख होता है। जैसे हाथ पीले करना, कुल बखानना आदि। इसी प्रकार कुछ मुहावरों में पौराणिक तथा ऐतिहासिक कथांश भी मिल जाते हैं। जैसे—द्रौपदी का चीर, ईद का चाँद, सुदामा के चावल, विदुर का साग आदि। कुछ मुहावरे शकुन-सम्बन्धी भी हैं जो भविष्य की चेतावनी या संकेत देते हैं। जैसे आँख फड़कना, हाथ खुजलाना, माथा ठनकना आदि। इसी प्रकार मानव-जीवन से सम्बन्धित विषयों पर प्रकाश डालने वाले अनेक मुहावरे मिलते हैं।[३]

प्रायः सारल्य, प्रभावोत्पादकता, एवं विचारों की स्पष्टता के लिए मुहावरों का प्रतिष्ठान किया जाता है। मुहावरे कई कारणों से प्रयुक्त किए जाते हैं—[४]

१. हास्य-व्यंग्य के लिए।
२. विचारों की स्पष्टता के लिए।
३. जन-साधारण से सम्पर्क बनाने के लिए।
४. सरलता के लिए।
५. चमत्कार के लिए।
६. शैली मनोरजक बनाने के लिए।
७. आत्मीयता के वातावरण के लिए।
८. लघिमा के लिए।

---

१. हिन्दी मुहावरे—ब्रह्मस्वरूप शर्मा—दो शब्द से।
२. राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन—डा० सहल—पृ० २२ से उद्धृत।
३. खड़ीबोली का लोकसाहित्य—डा० सत्या गुप्त—पृ० २७८।
४. साहित्य सन्देश—बाबू गुलाबराय विशेषांक (जुलाई-अगस्त ६३)—मेरा लेख।

मुहावरों एवं कहावतों में अन्तर—

मुहावरे वाक्यांश होते हैं, वाक्यांश मुहावरे नहीं होते। मुहावरों का स्वतन्त्र-रूप से प्रयोग नहीं किया जा सकता। कहावतें पूर्ण वाक्य होती हैं और उनका प्रयोग भी स्वतन्त्र-रूप से किया जा सकता है। उनका अपना अर्थ भी स्वतन्त्र ही होता है। मुहावरे गद्यात्मक होते हैं जबकि कहावतें गद्य और पद्य दोनों। यद्यपि आकार दोनों का ही लघु होता है परन्तु मुहावरा लघुतर होता है।

मुहावरों एवं कहावतों के पारस्परिक अन्तर को इस प्रकार समझाया जा सकता है—

(१) मुहावरे वाक्यांश होते हैं वाक्य नहीं जबकि कहावतें पूर्ण वाक्यरूप होती हैं। उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं होता। हाँ, शब्दों का अदल-बदल उसमें अवश्य सम्भव है। जैसे 'हाथ के कंगन को कहा आरसी' 'हाथ कंगन को आरसी क्या' का परिवर्तित रूप ही है; परन्तु वह परिवर्तन शब्दों में ही है। परन्तु मुहावरे का वाक्य, वचन, काल, पुरुष तथा व्याकरण के अन्य नियमों के अनुसार बदलता रहता है। जैसे 'दाँत खट्टे करना' मुहावरा है। इसके कई रूप व्याकरण की दृष्टि से बनते हैं—दाँत खट्टे कर दिए, दाँत खट्टे कर देना, दाँत खट्टे कर दूँगा, आदि।

(२) मुहावरा को एक कार्य-व्यापार बताया गया है परन्तु लोकोक्ति एक प्रकार का व्यावहारिक एवं नैतिक कथन है। लोकोक्ति नीति-साहित्य ही है परन्तु मुहावरा नीतिपरक न होकर ध्वन्यात्मक एवं लाक्षणिक होता है।

(३) मुहावरा लाक्षणिक है तो लोकोक्ति एक अप्रस्तुत प्रयोग। कहावतों में बात दूसरों पर डालकर ही कही जाती है। यही कारण है कि उसका अप्रस्तुत रूप में प्रचलन हो गया।

(४) अर्थ की दृष्टि से मुहावरा अपूर्ण होता है, लोकोक्ति स्वतः सम्पूर्ण।

(५) लोकोक्तियों में कम से कम दो शब्द अवश्य होने चाहिए परन्तु मुहावरे में एक ही क्रिया से काम चल जाता है। जैसे 'मरना'।

(६) सभी कहावतों या लोकोक्तियों का अन्तर्भाव लोकोक्ति अलंकार में हो जाता है परन्तु कहावतें इन नियमों के बन्धनों से स्वतन्त्र हैं।

(७) अधिकांश मुहावरे 'ना' रूप वाले हैं। जैसे—आँख लगना, लाठी खाना, बी कुड़ाना, सबक सिखाना आदि। कुछ कहावतें भी नान्त रूप वाली हैं परन्तु उन्हें मुहावरों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

(८) कहावतों में समान भावधारा एवं अनुभव के दर्शन होते हैं। विभिन्न देशों की कहावतों में समानता मिल जाती है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि कहीं

ये कहावतें एक दूसरे के रूपान्तर या भावान्तर मात्र तो नहीं। परन्तु मुहावरों के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं कही जा सकती।

"मुहावरे किसी वाक्य के वे सूक्ष्म-शरीर हैं, स्थूल-शरीर के बिना जिनकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, लोकोक्ति-वाक्य भाषा रूपी समाज के वे प्रामाणिक व्यक्ति हैं जिनका व्यक्तित्व ही उनकी प्रामाणिकता का प्रमाण हो जाता है, जहाँ कहीं और जिस किसी के पास वे आ बैठें, उनकी तूती बोलने लगे।"[1]

एक अन्य विद्वान ने इस अन्तर को इस प्रकार प्रकट किया है—"कहावत तो मानव-जाति के सामान्य अनुभवों का अक्षरदेह है जब कि मुहावरा भिन्न-भिन्न देश, जाति अथवा समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों की सूचक संज्ञा है।"[2]

डा० कन्हैयालाल सहल के अनुसार "मुहावरे वस्तुतः किसी भाषा की वैयक्तिक चाल-ढाल है। जैसे मनुष्यों की आकृतियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं वैसे ही भाषा-विशेष के मुहावरे भी भिन्न-भिन्न होते हैं, उनके अपने-अपने विचित्र-विचित्र प्रयोग होते हैं। किन्तु देश-विदेश की लोकोक्तियों में मुहावरों की सी भिन्नता नहीं मिलती। एक ही माता-पिता की जैसे अनेक पुत्रियाँ होती हैं, प्रायः वैसे ही अनुभव रूपी माता-पिता की दुहिताएँ हैं ये लोकोक्तियाँ, और इसीलिए विभिन्न देशों की लोकोक्तियों में मानव-जाति की सामान्य सम्पत्ति बनने की क्षमता पाई जाती है।"[3]

लोक-जीवन का चित्रण—

मुहावरों का प्रयोग अत्यन्त व्यापक है। मानव-जीवन का ऐसा कोई कार्य नहीं जिसका वर्णन मुहावरे में न हुआ हो। मानव की गति, प्रगति, अंग, उपांग, अनुभूति, विचार, भोजन, प्रकृति, घर-गृहस्थी आदि से लेकर हवा, पानी, पृथ्वी, आकाश, पेड़-पौधे, जीव-जन्तु तक का सम्बन्ध मुहावरों से है। कहने का तात्पर्य यह है कि मुहावरों में लोक-जीवन के सभी पहलुओं का चित्रण देखने को मिलता है। सामाजिक प्रथा, रूढ़ि तथा परम्परा का उल्लेख मुहावरों में मिलता है। जनता के आर्थिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक एवं पौराणिक तथ्यों पर भी मुहावरों से काफी प्रकाश पड़ता है।

सामाजिक प्रथाओं का चित्रण—मुहावरों में सामाजिक प्रथाओं का चित्रण अधिक हुआ है। पुत्र-जन्म से लेकर मृत्यु तक से सम्बन्धित अनेक मुहावरे समाज में प्रचलित हैं। पुत्र-जन्म के अवसर पर थाली बजाई जाती है। अतः थाली बजाना, मुहावरा पुत्रजन्म का द्योतक हो गया। इसी प्रकार विवाह पर दूल्हा-दुल्हन को

---

१. हिन्दी मुहावरे—डा० ओमप्रकाश।
२. नवराकिवातु तत्वदर्शन—फिरोजशाह रुस्तम जी मेहता—पृ० १३५-१३६।
३. राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन—पृ० २७-२८।

मण्डप में बैठाया जाता है। 'चौका बैठना' मुहावरा इसी ओर संकेत करता है। विवाह के अवसर पर ही दूल्हा-दुल्हन के वस्त्रों को मिलाकर गाँठ बाँधी जाती है। 'गाँठ जुड़ाना' मुहावरा इस क्रिया की ओर संकेत करता है। विवाह पर कन्या के हाथ-पैरों में हल्दी चढ़ाई जाती है। इसी से 'हाथ पीले करना' मुहावरे का अर्थ 'विवाह करना' हो गया। इस प्रकार अनेक मुहावरे हैं जो हमारी सामाजिक प्रथाओं के प्रतीक हैं।

आर्थिक स्थिति का चित्रण—मुहावरों में जनता की आर्थिक स्थिति का चित्रण मिलता है। 'कंगाली में आटा गीला' किसी गरीब घर का चित्रण करता है जहाँ थोड़ा ही आटा बचा है और वह रोटी बनाते समय अधिक पानी गिर जाने से पतला हो गया। ऐसी स्थिति में आटा कम होने का एक कष्ट तो पहले से था ही दूसरा कष्ट आटा पतला तथा माँडने योग्य न होने के कारण हो गया। एक कष्ट के बाद दूसरा आ पड़ने पर ही 'कंगाली में आटा गीला' मुहावरे का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार 'पेट काटना' मुहावरे में आर्थिक स्थिति खराब होने का चित्रण है। माता-पिता आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण अपने पुत्र को अपना पेट काटकर (अपने साधनों में कमीकर) पढ़ाते हैं।

धार्मिक चित्रण—मुहावरों में लोकजीवन के धार्मिक अनुष्ठानों का भी चित्रण मिलता है। दिवाली की भाई दोज के अवसर पर गोधन की गोबर की मूर्ति बनाकर उसे ओखल में मूसल से कूटा जाता है। इसी घटना के आधार पर 'गोधन कूटना' मुहावरा बना है जिसका अर्थ है 'खूब पीटा जाना'।

ऐतिहासिक तथ्यों का चित्रण—ऐतिहासिक तथ्यों का चित्रण भी मुहावरों में अधिकता से हुआ है। उजबक होना, तुर्क होना, अंगूठा दिखाना आदि मुहावरे इसी प्रकार के हैं। 'उजबक' उजबेकिस्तान के निवासियों की ओर संकेत करता है जो अपने प्रारम्भिक स्थिति में मूर्ख थे। अतः उजबक होने का अर्थ मूर्ख होना है। इसी प्रकार 'तुर्क होना' मुहावरा तुरकों की एहसान फरामोशी एवं कट्टरता का सूचक है। ढाका की मलमल बनाने वालों के अंगूठे अंग्रेजों द्वारा काट लिए गए थे। इसीसे 'अंगूठा दिखाना' मुहावरा बना जिसका अर्थ है 'अस्वीकार करना'।

शकुन का उल्लेख करने वाले—कुछ मुहावरे ऐसे हैं जिनमें शकुन-विचार-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध होती है। 'उल्लू बोलना' उजाड़ स्थान का संकेत करता है। 'कौआ बोलना' किसी के आगमन की सूचना देता है। 'आँख फड़कना' प्रियतम से समागम की सूचना देता है तथा 'खंजन पक्षी का देखा जाना' सौभाग्य का परिचायक है। इस प्रकार ऐसे अनेक मुहावरे हैं जिनमें ऐसी शकुन-विचार-सम्बन्धी सामग्री मिल जाती है।

२. पहेलियाँ (प्रहेलिका)—

मानव अपने जीवन में मनोरंजन के लिए अनेक साधनों को उपयोग में लाता है। पहेलियाँ भी इनमें से एक हैं। प्रतिदिन के व्यवहार में एवं साधारण बैठकों में मानव कभी-कभी यह चाहता है कि उसके कथनों को सर्वसाधारण न समझ सकें, तब वह इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करता है जो साधारण व्यक्तियों की समझ में नहीं आ सकती। यही पहेली का रूप धारण कर लेती है। वास्तव में मानव-जीवन का विकास ही एक पहेली है। आदिम मानव-सृष्टि की प्रत्येक वस्तु और मानव का अस्तित्व तक एक पहेली ही रहा होगा। यह भी कहा जा सकता है कि इन्हीं पहेलियों के समाधान के प्रयत्न में मानव को ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि हुई होगी। ज्ञान-विज्ञान से अर्जित गम्भीरता एवं कुशलता को प्रदर्शित करने के लिए मानव ने अपने ही साथियों से अनेक प्रश्न किए होंगे। इन्हीं प्रश्नों को पहेली कहा गया। इस प्रकार मानव की साधारण से साधारण वस्तु तक पहेली के अन्तर्गत आ जाती है। इन्हीं पहेलियों में मानव का चिन्तन और विश्लेषण छिपा हुआ है। इनका स्थान लोकोक्तियों से भी महत्वपूर्ण है। इन्हीं पहेलियों को बूझने-बुझाने से मानव-बुद्धि का विकास होता है और हुआ है और मानव को अनेक मर्म तथा रहस्यात्मक बातों का पता लगा है। अतः इसे 'बुझौवल' भी कहा जाता है।

परन्तु पहेली और बुझौवल में तात्विक अन्तर भी है। पहेली में एक मात्र प्रश्न ही रहता है जब कि बुझौवल में प्रश्न के साथ-साथ उसके समाधान का भी संकेत रहता है। पहेली अपने आप उपस्थित हो सकती है परन्तु बुझौवल को अपने स्वरूप को स्पष्ट तथा व्यक्त करने के लिए किसी प्रश्नकर्त्ता या बुझाने वाले की अपेक्षा होती है।

उत्पत्ति—

पहेलियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में फ्रेजर ने लिखा है कि पहेलियों का उदय उस समय हुआ होगा जब किन्हीं कारणों से वक्ता को किसी बात को स्पष्ट शब्दों में कहने में किसी प्रकार की अड़चन हुई होगी।[१] किसी व्यक्ति की बुद्धि-परीक्षा के लिए भी पहेलियों का प्रयोग किया जाता है। भारतवर्ष के मूल निवासियों में मध्य-प्रदेश के मँडला जिले के गोंड, प्रधान तथा बिरहोर जातियों में विवाह के समय पर पहेली पूछना (बुझाना) एक आवश्यक कार्य है। भोजपुरी प्रदेश में विवाह के समय जब वर वैवाहिक विधि के पश्चात् 'कोहबर' में प्रवेश करने लगता है तब घर की स्त्रियाँ उससे पहेलियाँ पूछती हैं जिन्हें 'छेंका' कहा जाता है। इन पहेलियों का

१. The Golden Bough—Frazer J. G.—(Vol IX)—Page 121.

सम्बोधनरूप उत्तर देने पर ही वर 'कोहबर' में प्रवेश कर सकता है अन्यथा नहीं। यह प्रथा संभवतः वर की विद्वत्ता अथवा बुद्धि की परीक्षा लेने के लिए ही की जाती है।[1]

पहेलियों की रचना एवं उदय का एक कारण मनोरंजन भी है। दिन भर के कठोर परिश्रम के बाद मानव संध्याकाल या रात्रि में भोजन के पश्चात् इन्ही पहेलियों के माध्यम से अपने श्रम का परिहार करता रहा होगा। क्योंकि आदिम मानव या आज भी गाँव के निवासी—जिन्हें मनोरंजन के अन्य साधन अनुपलब्ध हैं—इन्हीं पहेलियों के द्वारा मनोरंजन किया करते हैं। यह बैठे-ठाले बुद्धि-विलास का काम भी देती है।

पहेली और कहावत : अन्तर—

डा० सत्येन्द्र ने पहेली एवं कहावत के अन्तर पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"लोकोक्ति केवल कहावत ही नहीं है, प्रत्येक प्रकार की उक्ति लोकोक्ति है। इस विस्तृत अर्थ को दृष्टि में रखकर लोकोक्ति के दो प्रकार माने जा सकते हैं: एक पहेली, दूसरा कहावतें। 'पहेली' भी लोकोक्ति है। लोकमानस इसके द्वारा अर्थ-गौरव की रक्षा करता है, और मनोरंजन प्राप्त करता है। यह बुद्धि-परीक्षा का भी साधन है। यद्यपि पहेलियाँ स्वभाव से कहावतों की प्रवृत्ति के विपरीत प्रणाली पर रची जाती हैं, क्योंकि पहेलियों में एक वस्तु के लिए बहुत से शब्द प्रयोग में आते हैं, भाव से इसका सम्बन्ध नहीं होता, प्रकृत को गोप्य करने की चेष्टा रहती है, बुद्धिकौशल पर निर्भर करती है जब कि कहावत में सूत्र-प्रणाली होती है, भाव की मार्मिकता घनीभूत रहती है, लघु प्रयत्न से विस्तृत अर्थ व्यक्त करने की प्रवृत्ति रहती है, फिर भी पहेलियाँ भी उतनी ही उक्तियाँ हैं जितनी कहावतें।"[2]

परम्परा एवं प्राचीनता—

पहेलियों की परम्परा अत्यन्त ही प्राचीन है। वेदों में भी इसकी सत्ता का पता चलता है। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने ऋग्वेद में पाई जाने वाली पहेलियों के ज्ञान से उसे पहेलियों का वेद कहा है। डा० सत्येन्द्र ने भी पहेलियों को अश्वमेध यज्ञ का एक अनुष्ठान स्वीकार किया है। अश्व की बलि से 'होतृ' और 'ब्राह्मण' ब्रह्मोद्य (प्रहेलिका) पूछा करते थे।[3] इसी प्रकार प्रहेलिकाओं का आनुष्ठानिक प्रयोग अन्य

---

१. लोकसाहित्य की भूमिका—डा० कृष्णदेव उपाध्याय—पृष्ठ [illegible]।

२. ब्रजलोकसाहित्य का अध्ययन—पृ० ५१६-२०।

३. वही—पृ० ५२०।

वेदों में भी मिलता है। ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध मंत्र को विद्वानों ने पहेली स्वीकार किया है। मंत्र इस प्रकार है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा,
द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति,
महोदेवो मर्त्यां आविवेश।

(जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं, जो तीन जगहों से बँधा हुआ है, वह मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ वृषभ शब्द करता हुआ महादेव है।) भिन्न-भिन्न आचार्यों ने इसके विभिन्न अर्थ अपने मतानुसार दिए हैं।[1] परन्तु यह निश्चय है कि उपर्युक्त ऋचा पहेली है। महाभारत में भी यक्ष और युधिष्ठिर के संवाद से तत्कालीन पहेली का रूप ज्ञात होता है। संस्कृत-साहित्य में तो इसकी संख्या असीमित है। संस्कृत में इन्हें अन्तर्लापिका तथा बहिर्लापिका कहा गया है। इनका एक संग्रह 'सुभाषित-रत्न-भाण्डागारम्' नामक उपलब्ध होता है। हिन्दी में अमीर खुसरो की मुकरियाँ तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। वैसे इन मुकरियों की परम्परा हमें संस्कृत में प्राप्त होती है। यथा—

काले वारिधराणां, अपतितया नैव शक्यते स्थातुम्।
उत्कंठितासि तरले ? नहि नहि सखि ! पिच्छिलः पन्था॥

एक युवती कहती है कि वर्षाकाल में बिना पतन (गिरना, पथभ्रष्ट होना) हुए रहना अत्यन्त कठिन है। इस पर सखि पूछती है कि क्या तुम पति-समागम के लिए उत्कंठित तो नहीं हो? इसका निषेध करती हुई युवती कहती है, "नहीं, नहीं सखि। मेरा आशय तो यह है कि रास्ते में बड़ी फिसलन हो गई है।"

इस प्रकार ये मुकरियाँ भी एक प्रकार की पहेली ही हैं।

मूल्य—

साहित्य में विद्वानों ने लोकोक्ति की भाँति पहेली को भी अलंकार माना है। संस्कृत तथा हिन्दी के प्राचीन आचार्यों ने इसे अलंकार नहीं माना परन्तु उत्तर-कालीन कुछ आचार्यों ने ऐसा माना है। वास्तव में पहेली बुद्धि-परीक्षा या बुद्धि-विलास की वस्तु है। इससे क्षणिक मनोरंजन हो जाता है परन्तु रसानुभूति नहीं होती। वरन् इसके प्रयोग से रसानुभूति में बाधा पड़ती है। सूर के दृष्टकूट-पद रसानुभूति की दृष्टि से असफल रहे हैं। यही कारण है आचार्य कि मम्मट ने भी पहेली को अलंकार न मानते हुए लिखा है—

"रसस्य परिपन्थित्वात् नालंकारः प्रहेलिका।"

---

१. ग्राम-साहित्य (भाग १)—रामनरेश त्रिपाठी—पृ० २८८।

(अर्थात् ये कथन सुन्दर प्रकार के भले ही हों परन्तु इन्हें अलंकार की श्रेणी में स्थान कभी नहीं मिल सकता।)

पहेलियों पर और अधिक प्रकाश डालते हुए डा० सत्येन्द्र ने लिखा कि पहेलियाँ यथार्थ में किसी वस्तु का वर्णन है। वह ऐसा वर्णन है जिसमें अप्रकृत के द्वारा प्रकृत का संकेत होता है। अप्रकृत इन पहेलियों में बहुधा 'वस्तु-उपमान' के रूप में आता है। यह स्वाभाविक ही है कि गाँव की पहेलियों में ऐसे उपमान भी ग्रामीण वातावरण से लिए गए हैं।

पहेलियों में कुछ सार्थक शब्दों के साथ कुछ निरर्थक अद्भुत शब्द होते हैं। ये शब्द निरर्थक होते हुए भी अर्थ-द्योतक की भाँति प्रस्तुत किए गए हैं। ये शब्द किसी वस्तु के भाव-मात्र की ओर संकेत करते हैं, इन्हें पहेलियों के बीजगणितीय संकेत कह सकते हैं।

पहेलियाँ एक प्रकार से वस्तु को सुझाने वाली उपमानों से निर्मित शब्द-चित्रावली है; जिसमें चित्र प्रस्तुत करके यह पूछा जाता है कि यह किसका चित्र है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि उपमानों के द्वारा यह चित्र पूर्ण होता है। उपमानों द्वारा जो चित्र निर्मित होता है वह अस्पष्ट होता है, उससे अभिप्रेत वस्तु का बहुत अधूरा संकेत मिलता है, पर वह संकेत इतना निश्चित होता है कि यथासंभव उससे किसी अन्य वस्तु का बोध नहीं हो सकता।[1]

यह ऊपर कहा जा चुका है कि भारतीय आचार्यों में से किसी ने पहेली को शब्दालंकार का एक भेद माना है और किसी ने अलंकार मानने से इन्कार कर दिया। अलंकार न मानने का कारण 'रसानुभूति में बाधा' है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि इनमें शब्दालंकारिक चमत्कार भले ही हो या न हो परन्तु ध्वनिशास्त्रीय दृष्टि से इसमें ध्वनि-चमत्कार अवश्य है। इसके मूल में लक्षणामूलाध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि का चमत्कार है। इस चमत्कार का संकेत पहेलियों में कई रूपों में होता है। कहीं तो उपमानों से उत्कृष्ट मूर्त कल्पनाओं द्वारा और कहीं क्रियाओं के उल्लेख द्वारा। जैसे—

ओर पास घास-फूँस, बीच में तबेलो।
दिन में तो भीरभार, राति में अकेलो॥

इसका उत्तर 'कुआ' है। परन्तु कुए का भाव स्पष्ट संकेत नहीं प्राप्त होता। पहेलियों की विशेषता यह होती है कि उसमें जिस वस्तु की व्याख्या और चित्र प्रस्तुत किया जाता है वहाँ उन चित्रों में अभिप्रेत वस्तु की ओर से ध्यान दूसरी ओर ले जाने वाले शब्दों का संयोजन भी होता है। इसमें 'तबेलो' शब्द ध्यान-विकर्षण का कार्य कर रहा है। इन शब्द-चित्रों के लिए उपमानों का संयोजन इसी ध्यान

---

१. लोकसाहित्य-विज्ञान—डा० सत्येन्द्र—पृ० ३६३-६४।

विकर्षण की शैली पर किया जाता है। इसी प्रकार क्रियाओं के उल्लेख से भी यह अभिप्राय सिद्ध किया जाता है। 'तू चलि मैं आई' का अर्थ किवाड़ है। इसमें यह संकेत मिलता है—जो चलते समय तो साथ चलती है परन्तु फिर रुक जाती है, शायद यह कहने के लिए कि 'तू चलि मैं आई।' इस प्रकार मनोविज्ञानशास्त्रीय दृष्टि से इनका अध्ययन किया जाना चाहिए।

पहेलियों के प्रकार—

डा० सत्येन्द्र ने ब्रज में प्राप्त पहेलियों के आधार पर पहेलियों को साधारणतः सात भागों में विभक्त किया है :—

१. खेती-सम्बन्धी।
२. भोजन-सम्बन्धी।
३. घरेलू वस्तु-सम्बन्धी।
४. प्राणी-सम्बन्धी।
५. प्रकृति-सम्बन्धी।
६. अंग-प्रत्यंग-सम्बन्धी।
७. अन्य।

कृष्णदेव उपाध्याय ने भी इसी को अपना आधार बनाया है। उन्होंने केवल कुछ वर्गों के नामों में परिवर्तन अवश्य किया है। उन्होंने 'भोजन-सम्बन्धी' को 'भोज्य-पदार्थ-सम्बन्धी' तथा 'अंग-प्रत्यंग-सम्बन्धी' को 'शरीर-सम्बन्धी' नाम दिया है। परन्तु उपर्युक्त वर्गीकरण में कुछ परिवर्तन किया जा सकता है। 'भोजन सम्बन्धी' वर्ग को 'घरेलू सम्बन्धी' वर्ग में रखा जा सकता है। कुछ पहेलियाँ ऐसी भी हैं जो अन्य व्यवसायों से सम्बन्धित हैं। खेती भी एक व्यवसाय ही है। अतः पहेलियों को इस प्रकार हम वर्गीकृत कर सकते है—

१. घरेलू वस्तु-सम्बन्धी।
२. व्यवसाय-सम्बन्धी।
३. प्राणी-सम्बन्धी।
४. प्रकृति-सम्बन्धी।
५. शरीर-सम्बन्धी।
६. अन्य।

पहेलियों में सबसे अधिक विषय घरेलू वस्तुओं से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त ये ग्रामीण वातावरण से घनिष्ट सम्बन्ध रखती हैं। उदाहरण के लिए सभी वर्गों की कुछ पहेलियाँ हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. **घरेलू-वस्तु-सम्बन्धी** - दैनिक व्यवहार में आने वाली घरेलू वस्तुओं से सम्बन्धित अनेक पहेलियाँ प्राप्त होती हैं। इसमें भोजन-सम्बन्धी भी है—

एक नारी उसके दाँत कटीले
पिया ने पकड़े खींच आती है तो आरी। (आरी)
एक बाग में ऐसा हुआ।
आधो बगुला आधा सुआ। (मूली)
हँसी की हँसी, ठिठोली की ठिठोली।
मरद की गाँठ लुगाई ने खोली। (ताली)

२. व्यवसाय-सम्बन्धी—इन पहेलियों में खेती के अतिरिक्त कुम्हार तथा कोरियों से सम्बन्धित पहेलियाँ भी हैं। परन्तु खेत से संबन्धित अधिक हैं—

आकाश गइले चिरई, पाताल गइले बच्चा।
हुचुक्क मारे चिरई पियाब मोर बच्चा॥ (ढेकुल)

ढेकुल वह है जिसके द्वारा कुँए से जल निकाल कर खेत सींचा जाता है।

३. प्राणी-सम्बन्धी—प्राणियों में पशु-पक्षी, जीव-जन्तु सभी आ जाते हैं—

एक जानवर ऐसा जिसकी दुम पर पैसा। (मोर)
तुम उसे बड़े हम इसे बड़े।
हमने छू दिया तुम रो पड़े॥ (बिच्छू)

४. प्रकृति-सम्बन्धी—प्रकृति से सम्बन्धित भी अनेक पहेलियाँ मिलती हैं—

सावन फूलै, चैत फरै, ऐसो रूख कोई का करै।
घासी कहै सवासी खेरे, है नियरे पर पैंहो हेरे॥ (बबूल)
चाँद सूरज में हुई, लड़ाई मंगती आई कुड़ावन। (ग्रहण)

५. शरीर-सम्बन्धी—ये पहेलियाँ अंग-प्रत्यंग, इन्द्रियों तथा शारीरिक-क्रियाओं से सम्बन्धित हैं—

लग-लग कहे तो ना लगे, बेलग कहे लग जाय। (होंठ)
बीसों का सर काट लिया, ना मारा ना खून किया। (नाखून)

६. अन्य—ऐसी अनेक पहेलियाँ हैं जिन्हें वर्गों में विभाजित नहीं किया जा सकता। कुछ पहेलियाँ इतनी कम हैं कि उनके आधार पर अलग वर्ग बनाना असंभव है।

पहेलियों में भी रचयिता का नाम अज्ञात रहता है। उनके कर्ता का कुछ भी पता नहीं चलता। कुछ पहेलियों में अवश्य सवासी खेरे के घासीराम का नाम उपलब्ध होता है। आज भी पहेलियों की रचना होरही है। आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों को लेकर अनेक पहेलियों की रचना हुई है।

४. ढकोसले—

ढकोसले और पहेलियों में तात्त्विक दृष्टि से महान अन्तर है। पहेलियों में प्रश्न और उत्तर सार्थक होते हैं परन्तु ढकोसलों में ऐसी बे-सिर-पैर की ऊटपटांग, बातें होती हैं जिनका कहीं कोई अर्थ नहीं होता। वे विशुद्ध रूप से मनोरंजन प्रधान होते हैं। वे व्यक्ति को केवल हँसा सकते हैं और कुछ नहीं। क्योंकि जितनी अधिक ऊटपटांग बातें होंगी उतना ही हास्य मुखर होगा। संस्कृत नाटकों में इसका उपयोग विदूषकों द्वारा कराया जाता था। हिन्दी में अमीर खुसरो के ढकोसले अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

"घौरी घोड़ी लाल लगाम, वापै बैठ्यो सालिग्राम।"
"हाथी चढ़ल पहाड़ पर, बिनि बिनि महुआ खाई।
चींटी मरलसि बाघ के, उलटा पैर उठाई।।"

५. *पालने के गीत*—

पालने के गीतों का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना मानव का। बालक जब उत्पन्न होता है, उस समय मां उसको थपकियाँ देकर तथा कुछ गुनगुनाकर, गाकर उसे सुलाती है। यही गीत 'पालने के गीत' कहे जाते हैं। ऐसे गीत वास्तव में लय-प्रधान होते हैं। वैसे इन गीतों का कोई अर्थ नहीं होता। उसमें निरर्थक शब्दावलियों का प्रयोग होता है जो लययुक्त होती हैं और सुनने में सुखद भी। उच्चारण-साम्य के कारण ही ये गीत मनोहर एवं मधुर होते हैं। इन गीतों में अधिक शब्द नहीं होते। बार-बार उन्हीं शब्दों की लययुक्त आवृत्ति होती है। संगीतात्मकता इनका प्रधान गुण होता है। पालने के झूलने के स्वर के साथ ही गीतों का स्वर उतरता एवं चढ़ता है। लहरों की भाँति ही लय का उतार-चढ़ाव इसमें देखा जा सकता है। इन गीतों का बच्चों की स्नायुओं पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। बच्चे ऐसे लयपूर्ण छोटे-छोटे गीतों को सुनकर आनन्द का अनुभव करते हैं और शीघ्र ही उन्हें नींद आजाती है। गीतों को सुनने तथा उनसे आनन्द प्राप्त करने की भावना उनमें जन्मजात होती है।

इन गीतों में एक ही शब्द की बार-बार आवृत्ति से स्वर-साम्य उत्पन्न किया जाता है जो अभीष्ट तथा विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने वाला होता है। विशेष प्रकार के स्वरसाम्य के कारण इनका अनुवाद अन्य भाषाओं में नहीं किया जा सकता। पालने के गीत ही ऐसे हैं जिनमें विश्वभर की समान भावधारा के दर्शन होते हैं। विश्वभर के पालने के गीतों की विषय-वस्तु एक ही होती है। भाषा और शब्द बदल सकते हैं; परन्तु मां की ममता सभी स्थलों पर एकसी पाई जाती है। संसार भर की माताएँ अपने पुत्रों के प्रति एक-सी ही अनुभूति एवं अभिव्यक्ति रखती हैं। मां की ममता गंगोत्री से निकली गंगा के जल के समान है जो कई स्थानों पर होती हुई आती तो है परन्तु उसके गुण में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं देखा जाता। गंगा का जल हरिद्वार में जितना पवित्र है उतना ही कलकत्ता में भी। यही स्थिति मां की ममता की तथा पालने के गीतों की है।

भारत में पालने के गीतों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। महाभारत में मदालसा अपने पुत्र अलर्क के प्रति अपनी स्नेहिल भावनाओं की अभिव्यक्ति कई रूपों में करती है। पालने के गीतों के विषय कहीं शुद्ध भाव-प्रधान होते हैं, तो कहीं चिन्तन-प्रधान। मदालसा द्वारा अभिव्यक्त गीतों में गूढ़ चिन्तन एवं दर्शन की प्रधानता

है। प्रायः हिन्दी में गाए जाने वाले गीतों में चिन्तनतत्व के स्थान पर भावतत्व ही अधिक मिलता है। कृष्णचरित से सम्बन्धित अनेक गीत ब्रज में उपलब्ध होते हैं। भक्त-शिरोमणि सूरदास ने ऐसे अनेक गीत गाए हैं।

इन्हीं गीतों में बालक की अनेक चेष्टाओं तथा क्रियाओं का उल्लेख भी मिलता है। बालकों के समस्त क्रिया-कलापों से सम्बन्ध रखने वाले गीतों को बालगीत कहते हैं। गुजराती लोकसाहित्य के विद्वान श्री झवेरचन्द मेघाणी ने बाल-गीतों को निम्नलिखित दस भागों में विभक्त किया है[1]:—

१. चलने-कूदने के गीत।
२. बैठे-बैठे चलने के गीत।
३. किसी वस्तु को दिखलाकर बच्चे को बुलाने के गीत।
४. ऋतु-सम्बन्धी गीत।
५. पशु-पक्षी-सम्बन्धी गीत।
६. चाँदनी रात के गीत।
७ कथा-सम्बन्धी गीत।
८. व्रत-सम्बन्धी गीत।
९. गरबा के गीत।
१०. रास के गीत।

रसकी दृष्टि से भी इन गीतों को प्रधानतया तीन भागों में विभाजित किया गया है—वात्सल्यरस प्रधान, करुणरस प्रधान तथा वीररस प्रधान। इन तीनों रसों का समन्वय इन गीतों को 'त्रिवेणी' की उपमा से विभूषित करता है। अधिकांश गीत वात्सल्यरस प्रधान हैं।

बच्चों को सुलाते समय जब माता के स्थान पर धाय जिन गीतों को गाती है उन्हें 'धाय के गीत' (Nursery Rhymes) कहते हैं। इन गीतों में भी प्रायः वे ही गुण प्राप्त होते हैं। इनकी मूल भावना एक ही है। अँग्रेजी में ऐसे गीत बहुत मिलते हैं।

६. खेल के गीत—

बच्चे अपने खेल के आनन्द को बढ़ाने के लिए खेलते समय जिन गीतों को उछलकूदकर गाते हैं उन्हें खेल के गीत कहते हैं। "किसी देश के खेलकूद के अध्ययन से वहाँ के निवासियों के स्वभाव, साहस और शक्ति का पता चलता है। जिस जाति के खेल जितने साहसपूर्ण और वीरता से युक्त होंगे वह जाति उतनी ही साहसिक समझी जाएगी। खेलकूद लोकसंस्कृति के प्रधान अंग हैं। इनके अनुसंधान से यह जाना जा सकता है कि आदिम जातियों की अवस्था कैसी थी? उनके मनोरंजन के क्या साधन थे?

इन खेलों में सहयोग की प्रवृत्ति लक्षित होती है। अँग्रेजी की एक कहावत है कि 'वाटरलू की लड़ाई क्रिकेट के मैदान में ही जीती गई थी।' जिसका आशय यह

---

1. लोकसाहित्य (भाग १)—पृ० १६६।

है कि साथ मिलकर काम करने की आदत से ही वैलिङ्गटन को विजयश्री प्राप्त हुई थी। आदिम लोगों में खेलकूद में सहयोग की जो भावना थी वह आज भी उपलब्ध होती है। भारत के प्रत्येक राज्य में विभिन्न प्रकार के खेल पाए जाते हैं। यदि उनका सम्यक् अध्ययन किया जाए तो लोकसंस्कृति के अनेक तथ्यों का उनसे पता चल सकता है।"[1]

भारत में छोटे बच्चों के अनेक खेल प्रचलित हैं। कुछ खेल घर के अन्दर खेले जाते हैं और कुछ घर के बाहर मैदानों में। इनमें भी कुछ खेल लड़कियों के हैं और कुछ लड़कों के। कुछ खेल दोनों मिल कर खेलते हैं। कबड्डी, खोखो, आदि लड़कों के खेल हैं और गुड्डे-गुड़ियों का खेल लड़कियाँ खेलती हैं।

कुछ खेलों के गीत इस प्रकार हैं—

एक खेल ऐसा है जिसमें कुछ लड़के या लड़कियाँ एक गोले में बैठ जाती हैं। एक लड़का एक कपड़े का कोड़ा बनाकर उनके पीछे चारों तरफ घूमता है और चुपचाप एकके पीछे कपड़ा रख देता है। जब वह लड़का बिना पीछे देखे उस कपड़े को पहचान कर उठा लेता है तो वह कपड़ा डालने वाले लड़के के पीछे कोड़ा मारता दौड़ता है और यह गीत गाता है—

कोड़ा है जमाल खाई,
पीछे देखे मार खाई।

दूसरा खेल यह है कि कुछ लड़के अपने दोनों हाथ धरती पर रखकर उँगलियों को जमीन पर छूते हैं। उनमें एक बालक प्रत्येक-बालक के हाथ को छूता हुआ यह गीत गाता है।

आटे बाटे दही चटाके, बर फूले बंगाल के।
मामा लाए सात कटोरी, एक कटोरी फूटी।
मामा की बहू रूठी।
काए बात पै रूठी, दही बूरे पै रूठी।
खावें कूँ बहुतेरो, बिछा दे रानी पलका।
बहू के भयौ लरिका॥

इस खेल को आटे-बाटे कहते हैं। इसी को उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों में ओका-बोका भी कहा जाता है। इसी प्रकार के अनेक खेलों के अनेक गीत हैं।

---

1. लोकसाहित्य की भूमिका—डा० कृष्णदेव उपाध्याय—पृ० २३०।

परम्परा—

लोकसाहित्य का अध्ययन प्राचीन काल से नृविज्ञान तथा पुरातत्व के अध्ययन के लिए यूरोप में किया जाता रहा है। अध्ययन के इस क्षेत्र में जॉन-ऑब्रे (John Aubrey) का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। जॉन ऑब्रे ने सत्रहवीं शताब्दी में इस ओर अपना आकर्षण 'रिमेन्स ऑव जेंटिलिज्म एण्ड जुडाइज्म' नामक पुस्तक द्वारा प्रदर्शित किया था। उसके सौ वर्ष पश्चात् जॉन ब्रैंड ने 'पापुलर एण्टीक्विटीज' नामक पुस्तक द्वारा इस अध्ययन को आगे बढ़ाया। इसके पश्चात् धर्मग्रन्थ तथा भाषाविज्ञान के लिए भी लोकसाहित्य का अध्ययन किया जाने लगा। जर्मन के प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक ग्रिमबन्धुओं ने इस क्षेत्र में पर्याप्त कार्य किया। सन् १८४६ ई० में विलियम जॉन टाम्स ने 'पापुलर एण्टीक्विटीज' को 'फोकलोर' के नए नाम से अभिहित किया। सन् १८९० ई० में फ्रेजर ने 'द गोल्डन बाउ' ग्रन्थ के द्वारा इस क्षेत्र को एक व्यापक रूप प्रदान किया।

भारत में लोकवार्ता सम्बन्धी कार्य—

भारत में लोकसाहित्य के अध्ययन की ओर दृष्टि १९वीं शताब्दी के आरम्भ में गई जबकि अँग्रेजी शासन की नींव इस देश में जम रही थी। १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में (सन् १७८४ ई०) सर विलियम जोन्स ने 'एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल' नामक शोधसंस्थान की स्थापना कलकत्ते में की। १९वीं शताब्दी में अँग्रेजी शासकों ने—जिनमें कुछ योग्य विद्वान भी थे—भारतीय संस्कृति के प्रति अपनी जिज्ञासा प्रकट की और इस क्षेत्र में कार्य करना प्रारम्भ किया। बस, यहीं से भारतीय लोकसाहित्य के अध्ययन की नींव पड़ी।

भारतीय लोकसाहित्य के अध्ययन करने वाले दो प्रकार के व्यक्ति थे। एक तो वे अँग्रेज सिविलियन तथा पुरातत्व-वेत्ता थे तो दूसरे ईसाई मिशनरी थे। पहले प्रकार के व्यक्ति देश पर शासन करने के लिए आए थे परन्तु दूसरे अपने धर्म का

प्रचार करने के लिए बुलाए गए थे। इन दोनों ने भारतीय भाषा एवं साहित्य का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया और साधारण जनता से भी अपना सम्पर्क स्थापित किया।

भारतीय लोकसाहित्य का प्रारम्भिक अध्ययन करने वाले अँग्रेज सिविलियन थे। कर्नल जेम्स टाड ने इस कार्य का शुभारंभ किया। कर्नल टाड ने राजस्थान की सामाजिक अवस्था, रहन-सहन, आचार-विचार, वेश-भूषा, आदि का अध्ययन कर 'एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज ऑव राजस्थान' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ सन् १८२६ ई० में प्रकाशित किया। भारतीय लोकवार्ता-संकलन का श्रीगणेश यहीं से मानना चाहिए, क्योंकि इस पुस्तक में इतिहास की काफी सामग्री का चयन राजस्थान में प्रचलित विभिन्न लोकगाथाओं और वीरगीतों से किया। सन् १८६६ ई० से कुछ वर्ष पहले रेवरेंड एस० हिस्लप नामक पादरी ने मध्यदेश की जंगली जातियों का अध्ययन कर उनके सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डाला। सर रिचर्ड टेम्पुल ने इन्हीं के लेखों को सन् १८६६ ई० में सम्पादित कर प्रकाशित करवाया। सन् १८६८ ई० में मिस फ्रयर नामक अंग्रेजी महिला ने दक्षिण की लोककथाओं का अध्ययन एवं संग्रह 'ओल्ड डकन डेज' नामक पुस्तक में किया। दक्षिण के लोकगीतों पर चार्ल्स ई० गोवर ने सन् १८७१ में एक पुस्तक 'फोकसांग्स ऑव सदर्न इंडिया' नामक सम्पादित की। भारतीय लोकगीतों का यह सर्वप्रथम संग्रह है जिसमें कन्नड, कुर्ग, तमिल, तेलुगु, मलयालम तथा कूरल के लोकगीतों का सुन्दर अँग्रेजी अनुवाद किया गया था।

सन् १८७२ ई० में 'डेस्क्रिप्टिव एथ्नोलोजी ऑव बेंगाल' नामक ग्रन्थ का निर्माण डाल्टन ने किया। डाल्टन साहब ने इस पुस्तक में बंगाल की विभिन्न जातियों के सम्बन्ध में बहुमूल्य सामग्री एकत्र की। सन् १८७२ ई० में ही कालवेल ने तमिल लोकगीतों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हुए एक लेख 'तमिल पापुलर पोइट्री' नामक प्रकाशित किया। पर्वतीय जातियों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का एक महत्त्वपूर्ण लेख एफ०टी० कोल ने सन् १८७६ ई० में प्रकाशित किया। इसमें पर्वतीय जातियों के लोकगीतों का अध्ययन किया गया था।

सन् १८७६ ई० में ही जी०एच० डेमेन्ट ने 'बेंगाली फोकलोर फ्रम दिनाजपुर' नामक पुस्तक में बंगाली लोककथाओं का संग्रह किया। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'इंडियन एन्टीक्वेरी' में लोकसाहित्य-सम्बन्धी कई महत्त्वपूर्ण लेख भी लिखे। सन् १८८२ ई० में बंगाल की प्रसिद्ध कवियत्री तरुदत्त ने 'ऐंशेंट बैलेड्स एण्ड लीजेन्ड्स ऑव हिन्दुस्तान' का प्रकाशन किया। श्री लालबिहारी दे ने भी सन् १८८३ ई० में 'फोकटेल्स ऑव बेंगाल' नाम से बंगाली लोककथाओं का संग्रह किया। बंगाली लोककथाओं का यह सर्वप्रथम संग्रह है।

श्री आर० सी० टेंपुल ने सन् १८८४ ई० में पंजाब के प्रसिद्ध वीरों की प्रचलित गाथाओं का संग्रह 'लीजेन्ड्स ऑव द पंजाब' नामक पुस्तक में किया। इसके

अगले वर्ष ही आर० सी० टेंपुल के सहयोग से श्रीमती स्टील ने 'वाइड अवेक स्टोरीज' नामक पुस्तक में अब तक प्राप्त सभी कहानियों का अध्ययन किया। इसी वर्ष श्री नटेश शास्त्री ने 'फोकलोर इन सदर्न इंडिया' नामक पुस्तक का प्रकाशन किया। दक्षिण भारत के ही लोकगीत एवं लोक-कथाओं का अंग्रेजी अनुवाद इसी वर्ष राबिन्सन ने ' टेल्स एण्ड पोयम्स ऑव साउथ इंडिया' नामक ग्रंथ में किया।

भारतीय लोककथाओं तथा लोकगीतों के संग्रहकर्त्ताओं में निस्संदेह सर जार्ज ग्रियर्सन का नाम अत्यन्त लोकप्रिय है। ग्रियर्सन भाषा-विज्ञान के अत्यन्त प्रसिद्ध विद्वान थे। 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया' इनकी अमर रचना है। परन्तु लोक-वार्ता के क्षेत्र में भी ग्रियर्सन का नाम उतना ही महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने सन् १८८४ ई० में बिहारी लोकगीतों का संग्रह 'सम बिहारी फोकसांग्स' नामक पुस्तक में किया। भोजपुरी लोकगीतों पर भी इनका एक विचारोत्तेजक तथा विद्वतापूर्ण लेख प्रकाशित हुआ। इस बृहद् लेख में ग्रियर्सन ने भोजपुरी लोकगीतों (बिरहा, जँतसार, सोहर आदि) का संकलन किया। साथ ही मूलगीत एवं उनका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रस्तुत किया और अन्त में भाषा-वैज्ञानिक टिप्पणियाँ भी दी। ग्रियर्सन ने विजय-मल की लोककथा का संकलन सन् १८८४ ई० में ही किया। आल्हा के विवाह के सम्बन्ध में जो मूल लोकगाथा प्रचलित है उसको 'द सांग ऑव आल्हाज मैरेज' नामक लेख में प्रकाशित करवाया जो 'इंडियन ऐंटिक्वेरी' में सन् १८८५ ई० में छपा। इसी प्रकार उन्होंने गोपीचन्द का भोजपुरी तथा मगही पाठ एकत्रित कर उसे प्रकाशित करवाया। जर्मनी की एक प्रसिद्ध पत्रिका में सन् १८८६ ई० में 'नयका बनजरवा' नामक गीत छपा। यह एक लोकगाथा है जो उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिले में प्रचलित है। ग्रियर्सन के कार्यों की सराहना इसलिए भी की गई है कि उन्होंने मूल पाठ के साथ-साथ उनका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रस्तुत किया तथा कुछ वैज्ञानिक टिप्पणियाँ भी दीं। उन्होंने ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित शब्दावलियों का संग्रह 'बिहार पीजेंट लाइफ' नामक ग्रंथ में किया।

लोकवार्ता-क्षेत्र में विलियम क्रुक का नाम भी ग्रियर्सन से कम महत्त्वपूर्ण नहीं। विलियम क्रुक ने उत्तरप्रदेश के लोकगीतों का संग्रह किया साथ ही भारतीय लोकसंस्कृति का गहन अध्ययन भी। भारतीय लोकसाहित्य एवं लोकसंस्कृति को प्रकाश में लाने के लिए क्रुक महोदय ने सन् १८९१ ई० में 'नार्थ इंडिया नोट्स एण्ड क्वेरीज' नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। इस पत्रिका ने लोकसाहित्य के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अनेक लोकगीतों तथा लोककथाओं का संग्रह इस पत्रिका के द्वारा हुआ। पाँच-छः वर्ष तक इस पत्रिका ने लोकसाहित्य की सेवा की। इसके पश्चात क्रुक ने सन् १८९६ ई० में 'पापुलर रिलिजन एण्ड फोकलोर

आव नार्दर्न इंडिया' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया। यह पुस्तक लोकवार्ता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रंथ में जनसाधारण के अंधविश्वास, नजर लगने, भूत-प्रेत, कुलदेवता, ग्रामदेवता, रीतिरिवाज, टोने-टोटके आदि विषयों का गहन तथा विशद अध्ययन प्रस्तुत किया।

सन् १८९५ ई० में जे० डी० ऐंडरसन ने एक संकलन 'कलेक्शन ऑव कछारी फोकटेल एवं राइम्स' नाम से प्रकाशित किया जिसमें असम की कछारी जाति की लोककथाओं तथा शिशुगीतों को संकलित किया गया। गोआ-निवासी भारतीय लोकगीतों का भी एक संकलन सन् १८९९ ई० में आर० एम० लाफ्रेनेंस ने अपने एक लेख 'सम सांग्स ऑव द पोर्चुगीज इन्डियन्स' के नाम से प्रकाशित किया।

१९वीं शताब्दी के अन्त में तथा २०वीं शताब्दी के आरम्भ में जातीय चेतना तथा भाषागत जागरूकता ने लोकसाहित्य के प्रति गहन रुचि प्रेरित की। इस प्रेरणा के अनुसार भारत के विभिन्न प्रान्तों में लोकगीत तथा लोककथाओं के अनेक ग्रंथ प्रकाश में आए। सिविलयन तथा मिशनरी लोगों ने भी अपने इस कार्य को आगे भी जारी रखा। कुछ भारतीय विद्वानों ने भी अनेक संग्रह प्रकाशित किए।

सन् १९०३ में स्विनर्टन ने पंजाबी लोककथाओं का संग्रह 'रोमेन्टिक टेल्स फ्रम द पंजाब'; ह्वान ने 'कुरुख फोकलोर इन ओरिजनल' (सन् १९०५ ई०); थर्स्टन ने एथ्नोग्राफिक नोट्स इन सदर्न इन्डिया' (सन् १९०६ ई०), 'कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स ऑव सदर्न इन्डिया' (सन १९०९ ई०) तथा 'ओमेंस एण्ड सुपरस्टिशंस ऑव दर्न इंडिया' (सन १९१२ ई०) प्रकाशित की। इनमें थर्स्टन की तीनों पुस्तकें दक्षिण भारत के लोकवार्ता सम्बन्धी महत्वपूर्ण अध्ययन के परिणाम हैं। सन १९०७ ई० में डेम्स महोदय ने बलूची लोकसाहित्य पर एक महत्वपूर्ण पुस्तक 'पोपुलर पोयट्री ऑव बिलोचीज' प्रकाशित की। एक दूसरे विद्वान स्टेक ने भी इस जाति की सामाजिक प्रथाओं का उल्लेख 'दमिकर्स' नामक ग्रन्थ में सन् १९०८ ई० में किया।

सन् १९१२ ई० में शेक्सपीयर नानक पादरी ने असम की लुशाई नामक जाति की सामाजिक प्रथाओं का उल्लेख अपनी पुस्तक में किया। बड़ौदा की जन-जातियों पर श्री आगरकर ने 'ए ग्लॉसरी ऑव कास्ट्स, ट्राइब्स एण्ड रेसेज इन बड़ौदा' नामक पुस्तक प्रकाशित की। लोककथा सम्बन्धी अनेक पुस्तकें भी इस समय लिखी गई जिसमें कुलक तथा सोभना देवी की पुस्तकें 'बंगाली हाउसहोल्ड टेल्स' तथा 'ओरिएण्ट फर्ल्स' प्रसिद्ध हैं। मध्यप्रदेश की जातियों पर भी हीरालाल तथा रसल ने विशाल ग्रन्थ 'द ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑव सेन्ट्रल प्राविंस ऑव इंडिया' (सन् १९१६ ई०) चार भागों में प्रकाशित की। इसमें इन जातियों की लोककथाओं तथा लोकगीतों का विस्तृत अध्ययन किया गया। इसके एक वर्ष बाद ही श्री बक ने 'फेथ, फेयर्स

एण्ड फैस्टिवल्स ऑव इंडिया' नामक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी, जिसमें लोकसाहित्य तथा लोकसंस्कृति-सम्बन्धी अनेक प्रामाणिक तथ्यों को एकत्रित किया गया।

सन् १९२० ई० तक लोकसाहित्य-सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाश में आए, परन्तु अबतक यह सारा कार्य विदेशी विद्वानों द्वारा किया गया था। इन्हीं विदेशी विद्वानों के कार्य से प्रेरित होकर अनेक भारतीय विद्वानों ने भी लोकसाहित्य के अध्ययन की ओर अपनी रुचि दिखाई, फलस्वरूप अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सामने आए।

बंगाल में डा० सर आशुतोष मुकर्जी ने लोकसाहित्य की रक्षा के लिए प्रशंसनीय कार्य किया। इन्हीं की प्रेरणा से प्रेरित होकर डा० दिनेशचन्द्र सेन ने पूर्वी बंगाल के मैमनसिंह जिले के लोकगीतों का संकलन तथा उनका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रस्तुत किया जो सन् १९१२ ई० के आसपास 'ईस्टर्न बंगाल बैलेड्स' के नाम से प्रकाशित हुआ। इससे बहुत पहले सन् १९१९ ई० में श्री योगीन्द्रनाथ सरकार ने 'खुकुमणीर छड़ा' तथा 'बगलार व्रत' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। १९२० ई० में डा० श्री दिनेशचन्द्र सेन ने बंगला लोकसाहित्य पर अपने भाषणों को 'फोकलिटरेचर ऑव् बंगाल' के नाम से प्रकाशित करवाया। डा० दिनेशचन्द्र सेन का कार्य अत्यन्त सराहनीय रहा। इसके अतिरिक्त श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, मुहम्मद मनसूरुद्दीन, जासीमुद्दीन (बंगलार बाउल) आदि विद्वानों ने बंगला-लोकसाहित्य पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

गुजराती लोकसाहित्य के एकान्त साधक श्री झवेरचन्द मेघाणी का नाम सदा अमर रहेगा। उन्होंने गुजराती लोकसाहित्य पर इतना कार्य किया है कि उन्हीं के कार्यों पर अलग से एक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया जा सकता है। उनकी संकलन-पद्धति, विवेचन-पद्धति तथा समालोचनात्मक दृष्टि आने वाले अध्येताओं के लिए एक उज्ज्वल उदाहरण होंगे। मेघाणी जी ने गुजराती लोकगीतों, लोककथाओं, शिशुगीतों, वीरगाथाओं आदि का अत्यन्त ही सुन्दर एवं विशाल संग्रह प्रस्तुत किया है। शिशुगीतों, (पालने के गीतों) पर उनकी पुस्तक 'हालरडां' की तुलना में विश्व के किसी भी शिशु-गीतों का कोई संग्रह नहीं टिक सकता। यह अत्युक्ति नहीं, वास्तविकता है। उन्होंने लोकसाहित्य के सिद्धान्त पक्ष पर भी अपनी भाषणमालाओं के रूप में एक पुस्तक प्रकाशित की है। मेघाणी जी सच्चे अर्थों में लोकसाहित्य-शास्त्री थे। यदि डा० सत्येन्द्र को ब्रज के लोकसाहित्य का चक्रवर्ती माना जा सकता है तो मेघाणी जी को निस्संकोच गुजराती लोकसाहित्य का चक्रवर्ती कहा जा सकता है। वे लोकसाहित्य के मूक सेवक थे। गुजरात की जनता उनके इस कार्य से कभी उऋण नहीं हो सकती। उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें इस प्रकार हैं :—

१. कंकावटी, २. रढियाळी रात, ३. चुंदडी, ४. हालरडां, ५. सोरठी गीत-

कथाओं, ६. धरती नुं धावन, ७. लोकसाहित्य नुं समालोचन आदि। मेघाणी जी के अतिरिक्त रणजीतराम मेहता द्वारा लिखित 'लोकगीत' तथा नर्मदाशंकरलाल शंकर द्वारा संग्रहीत 'नागर स्त्रियों गावता गीत' उल्लेखनीय हैं।

बिहार की मुंडा, उरांव, बिरहोर आदि आदिम जातियों पर गम्भीर कार्य करने वाले तथा प्रसिद्ध शोध पत्रिका 'मैन इन इंडिया' के सम्पादक श्री शरच्चन्द्र राय का कार्य भी अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय है। उनकी पुस्तकें 'द मुंडाज एण्ड देयर कन्ट्री', 'द बिरहोर्स', 'उरांव रिलीजन एण्ड कास्ट्स', 'खारीज', 'द हिल्स भुइयाज ऑव ओरिसा', आदि बिहार के लोकसाहित्य पर अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हैं। श्री शरच्चन्द्र प्रसिद्ध नृतत्वशास्त्री थे। उनकी कार्य-पद्धति सर्वथा मौलिक थी।

मराठी में भी कई विद्वानों ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है। सानेगुरुजी ('स्त्रीजीवन'), वामन-चोरघडे ('साहित्याचें मूलधन') कमलाबाई देशपांडे ('अपौरुषेय वाङ्मय'), मोरे ('लोकसाहित्याचें लेणें'), केलकर द्वारा संग्रहीत 'ऐतिहासिक पोवाड़े, एवं कु० दुर्गाभागवत, डा० सरोजिनी बाबर आदि के फुटकर लेख उल्लेखनीय हैं।

पंजाबी में देवेन्द्र सत्यार्थी द्वारा लिखित 'गिद्धा', पं० रामशरणदास द्वारा लिखित 'पंजाब दे गीत' उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी लोकसाहित्य सम्बन्धी कार्य : अग्रणी विद्वानों के कार्यों का मूल्यांकन—

२०वीं शताब्दी के तृतीय दशक में लोकसाहित्य के कुछ ऐसे प्रतिभाशाली तथा लोकप्रिय विद्वानों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने अत्यन्त परिश्रम से—यहाँ तक कि अपने जीवन को पूर्णतः समर्पित कर—हिन्दी तथा अन्य भाषाई लोकसाहित्य का संकलन किया। इनमें पं० रामनरेश त्रिपाठी तथा श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। दोनों ही विद्वानों ने भारत के विभिन्न प्रांतों में अनेक वर्षों तक घूम-फिरकर कई हजार लोकगीतों का संकलन किया। इससे इनकी साधना, तपस्या, लगन तथा लोकसाहित्य के प्रति सजग निष्ठा का पता चलता है। पं० त्रिपाठी ने सन् १९२९ में 'कविता-कौमुदी' (भाग ५)—ग्रामगीत—का प्रकाशन किया जिसमें उत्तर-प्रदेश तथा पश्चिमी-बिहार के लोकगीतों को संकलित किया गया था। त्रिपाठी जी ने एक पुस्तक 'हमारा ग्राम-साहित्य' और लिखी जिसमें लोकगीत, कहावतों एवं मुहावरों को संग्रहीत किया गया। इस प्रकार उन्होंने रोचक ढंग से, बड़ी तत्परता एवं लगन से इस क्षेत्र में जम कर कार्य किया।

सन् १९३० ई० के पश्चात् श्री देवेन्द्र सत्यार्थी भी लोकगीतों की खोज में जुट गए। उन्होंने भारत ही नहीं बर्मा तथा लंका आदि देशों का भ्रमण कर अनेक लोकगीतों का संग्रह किया। उनके इस कार्य के सम्बन्ध में महात्मा गांधी जी के ये

कथन उल्लेखनीय है—"पचास से अधिक भाषाओं के कोई तीन लाख गीत संग्रह कर डालना कोई छोटा काम नहीं है। तुम्हारे बीस वर्ष इसी काम में खर्च हो गए।"[१] सत्यार्थी जी ने करीब एक दर्जन पुस्तकें इस सम्बन्ध में लिखी हैं जिनमें तीन लाख से अधिक लोकगीत संकलित किए गए हैं। इन पुस्तकों में 'धरती गाती है', 'बेला फूले आधी रात', 'धीरे बहो गंगा', 'बाजत आवे ढोल' अधिक प्रसिद्ध हैं। वास्तव में सत्यार्थी जी का कार्य अधिक वैज्ञानिक न होकर छितराया, पर विस्तृत तथा भावना-प्रधान है। इससे उनके कठोर परिश्रम का पता चलता है।

इन दोनों विद्वानों के पश्चात् डा० वासुदेवशरण अग्रवाल तथा पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने भी इस कार्य में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया। चतुर्वेदी जी ने टीकमगढ़ (राजस्थान) में 'लोकवार्ता परिषद्' की स्थापना की। एक 'लोकवार्ता' नामक पत्रिका का भी प्रकाशन किया गया जिसमें अनेक महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित होते थे। इसके संपादक श्री कृष्णानन्द गुप्त भी लोकसाहित्य के मर्मज्ञ विद्वान थे। चतुर्वेदी जी ने इस पत्र के कुछ वर्ष चलकर बन्द हो जाने के कारण एक दूसरे पत्र 'मधुकर' की स्थापना की। इस पत्र के द्वारा बुन्देलखंड के लोकसाहित्य की काफी सेवा की गई। चतुर्वेदी जी की प्रेरणा तथा उद्योग से काशी में भी 'हिन्दी जनपदीय परिषद्' की स्थापना हुई और एक पत्रिका 'जनपद' प्रकाशित की गई। परन्तु यह पत्रिका भी अधिक दिन न चल सकी। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'पृथिवीपुत्र' में 'जनपद कल्याणी योजना; का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। आपने मथुरा में 'ब्रजसाहित्य-मंडल' की स्थापना की जहाँ से 'ब्रजभारती' नामक पत्रिका प्रकाशित होती है।

स्व० राहुल जी ने सन् १९३७ ई० में लोकसाहित्य-संकलन की एक योजना तैयार की जिसके आधार पर अनेक जनपदीय संस्थाओं का निर्माण हुआ। गढ़वाल में 'गढ़वाली साहित्य परिषद्', बघेलखंड में 'रघुराज साहित्य परिषद्', भोजपुर में 'भोजपुरी लोकसाहित्य परिषद्', राजस्थान में 'भारतीय लोककला मंडल', तथा मालवा में 'मालव लोकसाहित्य परिषद्' आदि कुछ संस्थाओं की स्थापना हुई।

लोकसाहित्य-सम्बन्धी उपर्युक्त संस्थाओं द्वारा किया गया कार्य भी छितराया तथा विकेन्द्रित था। सन् १९५८ ई० में प्रयाग में 'भारतीय लोकसंस्कृति शोधसंस्थान' की स्थापना हुई। इसके संस्थापक पं० ब्रजमोहन व्यास, श्री श्रीकृष्णदास तथा डा० कृष्णदेव उपाध्याय थे। इस संस्थान ने 'लोकसंस्कृति' नामक त्रैमासिक पत्रिका भी प्रकाशित की। इस संस्था की स्थापना से लोकसाहित्य के अध्ययन में एक नई

१. धरती गाती है—देवेन्द्र सत्यार्थी—आमुख—१०४।

दिशा एवं प्रगति आ गई है। इधर कई विश्वविद्यालयों ने भी लोकसाहित्य को एम० ए० के पाठ्यक्रम में स्थान देकर इसके अध्ययन के महत्व को बढ़ाया है।

हिन्दी की विभिन्न बोलियों में लोकसाहित्य के संग्रह तथा कोष का कार्य बड़ी तेजी से हो रहा है।

राजस्थानी में लोकसाहित्य के संकलन का जितना कार्य हुआ है उतना हिन्दी की किसी अन्य बोली में नहीं हुआ। राजस्थान में लोकसाहित्य की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। जैन मुनियों का कार्य इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण है। राजस्थानी लोकगीतों का प्रथम संकलन श्री खेतीराम माली द्वारा किया गया 'मारवाड़ी गीत' संग्रह है। जोधपुर के श्री जगदीशसिंह गहलोत ने भी 'मारवाड़ के ग्रामगीत' नामक संकलन सन् १९१९ ई० में प्रकाशित किया। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी तथा पं० रामनरेश त्रिपाठी ने भी मारवाड़ के लोकगीतों का संग्रह किया। परन्तु राजस्थान के लोकगीतों का सर्वश्रेष्ठ संकलन 'राजस्थान के लोकगीत' के नाम से हुआ जिसके संकलनकर्ता श्री सूर्यकरण पारीक, श्री नरोत्तमदास स्वामी तथा श्री रामसिंह थे। इसमें प्रत्येक गीत के साथ उनका हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किया गया है। श्री पारीक ने एक स्वतंत्र संग्रह 'राजस्थानी लोकगीत' भी प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त कन्हैयालाल सहल ने विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ 'राजस्थानी कहावतें' लिखा जिसमें कहावतों का विराट एवं गम्भीर विवेचन किया गया है। इस प्रकार राजस्थान में इस क्षेत्र में बहुत कार्य किया गया।

ब्रज में 'ब्रजसाहित्य मंडल' मथुरा ने ब्रज के लोकसाहित्य की अनेक दृष्टि से सेवा की। यहाँ से एक 'ब्रजभारती' नामक पत्रिका भी निकाली गई जिसमें इस सम्बन्ध में अनेक विद्वत्तापूर्ण लेख छपे हैं। ब्रज के लोकसाहित्य का अध्ययन करने वालों में डा० सत्येन्द्र का नाम अग्रगण्य है। डा० सत्येन्द्र का 'ब्रज-लोकसाहित्य का अध्ययन' ग्रन्थ अमरग्रंथ है। इसमें ब्रज लोकसाहित्य का जिस वैज्ञानिक दृष्टि से, अध्ययन किया गया वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। मैं डा० श्याम परमार के इस कथन से पूर्ण सहमत हूँ—"हिन्दी में केवल डा० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित 'पृथिवी-पुत्र' और डा० सत्येन्द्र लिखित 'ब्रज-लोकसाहित्य का अध्ययन' दो ही ग्रन्थ हैं। यों राहुल सांकृत्यायन के कतिपय फुटकर लेखों मार्ग- दर्शन की अधिकांश सामग्री मिलती है। यह दिशा ऐसी है जिसके प्रति सबसे कम ध्यान दिया गया। इसका मुख्य कारण मूल साहित्य के संकलन का अभाव है। जो काम पश्चिम में ग्रिम ने किया वही हमारे यहाँ डा० वासुदेवशरण और डा० सत्येन्द्र ने किया है, यह मानना अत्युक्तिपूर्ण न होगा।"[1] इसके अतिरिक्त ड० सत्येन्द्र ने 'ब्रज की लोककहानियों' का भी संकलन किया है। आप ने कलकत्ता विश्वविद्यालय तथा क० मु० भाषा-विज्ञान विद्यापीठ आगरा के डायरेक्टर

---

१. भारतीय लोकसाहित्य—पृ० ३७।

की हरियाणा के इस क्षेत्र में काफी कार्य करवाया है। इसी संस्था से प्रकाशित होने वाली 'भारतीय साहित्य' पत्रिका का एक पूरा अंक (विस्तार एवं) आप ही के द्वारा लिखा हुआ है जो ३६८ पृष्ठों का है। इसमें 'डा० सत्येन्द्र ने ब्रज लोकवार्ता गुणगान' का गंभीर एवं वैज्ञानिक अध्ययन के साथ उनका संकलन भी प्रस्तुत किया है।[१]

अवधी में इस दृष्टि से कार्य कम हुआ है। डा० बाबूराम सक्सेना ने कुछ गीतों का संकलन 'अवधी भाषा का विकास' नामक अपनी पुस्तक में किया है। श्री सत्यव्रत अवस्थी ने 'विहाग-रागिनी' के नाम से कुछ अवधी गीतों का अवश्य संकलन किया है। डा० कृष्णदेव उपाध्याय तथा श्री सत्यनारायण मिश्र ने २००० अवधी लोकगीतों का संकलन किया है जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। प्रो० इन्दुप्रकाश पांडेय ने इस क्षेत्र में सुन्दर कार्य किया है। 'अवधी लोकगीत की परम्परा' उनका प्रसिद्ध ग्रंथ है।

बुन्देलखण्डी लोकसाहित्य का संग्रह तो श्री वासुदेवशरण अग्रवाल तथा पं० बनारसीदास चतुर्वेदी जी की प्रेरणा से पहले से प्रारम्भ हो चुका था। परन्तु श्री कृष्णानन्द गुप्त ने इस क्षेत्र में कई लोगों को प्रेरणा दी है। उन्होंने स्वयं 'ईसुरी की फागें' नाम से एक छोटी पुस्तक भी लिखी है। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'मधुकर' नामक पत्रिका का प्रकाशन कर इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है। श्रीचन्द्र जैन की 'आदिवासियों के लोकगीत', 'धरती मोरी मैया', 'मुइंयाँ परे लाल', 'आगे गेहूँ पीछे धान', विन्ध्य भूमि की लोककथाएँ', 'विन्ध्य भूमि की अमर कथाएँ', 'विन्ध्य के आदिवासियों की कथाएँ', 'विन्ध्य के लोकगीत' तथा काव्य में 'पादप पुष्प' महत्त्वपूर्ण तथा उत्कृष्ट रचनाएं है। बुन्देलखन्डी लोकसाहित्य पर और भी काम किया जा रहा है।

मालवी में डा० श्याम परमार का कार्य अत्यन्त श्लाघनीय है। उन्होंने 'मालवी लोकगीत' के नाम से एक संकलन प्रकाशित किया। 'मालवी और उनका साहित्य' नामक उनकी पुस्तक अपनी वैज्ञानिक पद्धति के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध रहेगी। 'मालवी की लोककथाएं' तथा 'लोकधर्मी-नाट्य-परम्परा' उनकी अन्य महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं। इसके अतिरिक्त डा० चिन्तामणि उपाध्याय ने भी 'मालवी-लोकसाहित्य का अध्ययन' नामक पुस्तक में अत्यन्त प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है। रत्नलाल मेहता ने भी मालवी कहावतों का संकलन किया है।

---

१. आश्चर्य का विषय है कि डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'लोकसाहित्य की भूमिका' में 'आधुनिककाल में भारतीय लोकसाहित्य का संकलन अध्ययन' में कहीं भी डा० सत्येन्द्र का नाम नहीं दिया यहाँ तक कि ब्रज के लोकसाहित्य के अध्ययन में भी उन्होंने डॉ० सत्येन्द्र जी का नाम नहीं लिया।

निमाड़ी में पं० रामनारायण उपाध्याय का कार्य स्तुत्य है। उन्होंने 'निमाड़ी लोकगीत' लिखकर इस क्षेत्र में निमाड़ी-लोकसाहित्य का शुभारंभ किया। 'अब निमाड़ जागा है' में भी अपने अन्य गीतों के साथ-साथ वहाँ के व्रत एवं संस्कार-सम्बन्धी गीतों को भी संकलित किया है। डा० कृष्णलाल हंस का 'निमाड़ी भाषा और उसका साहित्य' कार्य अनेक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह उनका शोधप्रबन्ध है।

छत्तीसगढ़ी पर कार्य करने वाले एक मात्र साधक श्री श्यामाचरण दुबे हैं जिन्होंने 'छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय' नामक ग्रन्थ लिखा है। उनका दूसरा ग्रन्थ 'मानव और संस्कृति' है जिसमें उन्होंने लोकसाहित्य पर भी कुछ अध्याय लिखे हैं जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी एक पुस्तक जो अंग्रेजी में लिखी गई है—जिसका नाम है—'फील्ड सांग्स ऑव छत्तीसगढ़ी'। जबलपुर विश्वविद्यालय से कुछ शोधप्रबन्ध भी छत्तीसगढ़ी लोकगीतों तथा लोकोक्तियों पर लिखवाए जा रहे हैं।

कौरवी या खड़ीबोली के लोकगीत तथा लोककथाओं पर महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने 'आदि हिन्दी के गीत तथा कहानियाँ' नामक ग्रन्थ लिखा। यह राहुल जी का प्रथम प्रयास था और अपने ढंग का अलग भी। क्योंकि राहुल जी ने एक बुढ़िया से सुनकर ही इन गीतों को लिखा है। डा० सत्या गुप्त ने 'खड़ीबोली का लोकसाहित्य' नामक अपने शोध-प्रबन्ध में गम्भीरतापूर्वक खड़ीबोली के लोकसाहित्य पर विचार किया है। सुश्री गुप्त ने घूम-घूमकर सैकड़ों लोकगीतों का संकलन भी किया है। श्रीमती शीला देवी तथा दमयन्ती देवी ने भी 'धूलधूसरित मणियाँ' के नाम से प्रामाणिक सुन्दर-संकलन प्रस्तुत किया जो गाँव की स्त्रियों के मुख से सुनकर लिपिबद्ध किया गया है।

भोजपुरी में भी लोकसाहित्य-सम्बन्धी काफी कार्य हुआ है। डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने इस क्षेत्र में काफी कार्य किया है। डा० उपाध्याय ने भोजपुरी लोकगीतों का घूमघूम कर संकलन किया। उन्होंने अनेक लोकगीत एकत्र किए जो 'भोजपुरी लोकगीत' नाम से प्रकाशित हुए हैं। 'भोजपुरी लोकसंस्कृति का अध्ययन' इनका विशाल ग्रंथ है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से डा० उपाध्याय के कठोर परिश्रम, साधना तथा गम्भीर अध्ययन का पता चलता है। इनकी 'लोकसाहित्य की भूमिका' पुस्तक भी महत्त्वपूर्ण है। डा० उपाध्याय के अतिरिक्त श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह का 'भोजपुरी लोकगीतों में करुणरस' ग्रंथ अत्यन्त प्रसिद्ध है। श्री आर्चर तथा संकटाप्रसाद द्वारा सम्पादित पुस्तक 'भोजपुरी ग्राम्यगीत' भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संकलन है। डा० सत्यव्रत सिनहा का 'भोजपुरी लोकगाथा' नामक शोधप्रबन्ध भी अपनी प्रतिपादन शैली के कारण अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। भोजपुरी कहावतों तथा मुहावरों पर तो डा० उदयनारायण त्रिपाठी का कार्य अत्यन्त सराहनीय है।

इसके अतिरिक्त कुछ साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक तथा वार्षिक पत्रिकाओं के माध्यम से भी लोकसाहित्य का अध्ययन निरंतर जारी रहा। इन पत्रिकाओं में नागरी प्रचारिणी पत्रिका, साहित्य सम्मेलन पत्रिका, भारतीय साहित्य, राष्ट्रभारती, आजकल, हंस, नया समाज, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, सरस्वती, कल्पना, विक्रम, आलोचना, सप्तसिंधु, साहित्य संदेश, मरुभारती, ब्रजभारती आदि प्रमुख हैं।

इधर शोधप्रबन्ध के रूप में अनेक ग्रंथ विभिन्न विश्वविद्यालयों की प्रेरणा से लिखे जा रहे हैं। अभी बहुत से ग्रंथ अप्रकाशित भी हैं उन्हें प्रकाश में लाने की आवश्यकता है। कुछ प्रकाशकों को भी इस ओर ध्यान देना चाहिए। आर्थिक कठिनाइयों के कारण ही इस दिशा में अभी तक पूर्ण प्रगति नहीं हो पाई है परन्तु भविष्य में इसकी प्रगति की अनेक आशाएं एवं सम्भावनाएं हैं।

११ | ब्रज-लोकसाहित्य का अध्ययन

ब्रजक्षेत्र—

ब्रज बालक कृष्ण की लीला-स्थली रही है इस कारण सामान्यतः धार्मिक दृष्टि से उसे मथुरा जिले के अन्तर्गत माना गया है, किन्तु ब्रज की बोली का प्रसार मथुरा के आस-पास तथा उसका साहित्यिक रूप ले लेने के कारण दूर-दूर तक भी हुआ। इस प्रकार ब्रज-भाषा के प्रसार के साथ-साथ ब्रजक्षेत्र भी व्यापक होता गया है। एक किंवदन्ती के अनुसार ब्रज मथुरा के चारों ओर चौरासी कोस है। ब्रज क्षेत्र के पश्चिम, पश्चिमोत्तर, उत्तर, पूर्व तथा दक्षिण दिशाओं में क्रमशः राजस्थानी, कौरवी, कुमाऊँनी, कनउजी तथा बुन्देली के क्षेत्र अवस्थित हैं। मध्यप्रदेश की अपभ्रंश से निसृत कनउजी एवं बुन्देली भाषाएँ ब्रज की बहिनें ही हैं। बुन्देली तथा ब्रज को परस्पर पृथक् रखने वाली चम्बल नदी दोनों के मध्य तक एक प्राकृतिक सीमा रेखा खींचती है। अन्य भाषाओं के साथ इस प्रकार का कोई प्राकृतिक सीमा-विभाजन नहीं है।

ब्रजभाषा का ऐतिहासिक विकास—

भाषा-शास्त्रियों के शोध के फलस्वरूप यह निश्चित हुआ है कि ब्रज-भाषा का विकास शौरसेनी अपभ्रंश के द्वारा हुआ है। शौरसेनी भारत के मध्यदेश की भाषा रही है। भारतीय भाषाओं में प्रारम्भ से ही इसका एक सर्वप्रमुख एवं महत्वपूर्ण स्थान रहा है। शूरसेन प्रदेश में स्थित मथुरा नगरी ने प्राकृतकाल में कला एवं साहित्य के क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान दिया है। उत्तर-भारत का प्रमुख नगर होने के कारण यह सदैव महत्वपूर्ण रहा इसीलिए यहाँ की भाषा शौरसेनी का भी महत्व प्रधान रहा। "शौरसेनी-प्राकृत की औरस पौत्री ब्रजभाषा है"[१] एक ही क्षेत्र में पल्लवित एवं विकसित होने के कारण यह संगत भी है कि शूरसेन जनपद की भाषा शौरसेनी-प्राकृत तथा अपभ्रंश से ही ब्रजभाषा का क्रमिक विकास हुआ हो। इस

१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, सम्पादक—महापंडित राहुल सांकृत्यायन—पृष्ठ १५१ (षोडश भाग)।

आधार पर मथुरा के समीपवर्ती क्षेत्रों की भाषा को ही ब्रजभाषा का प्रामाणिक रूप माना जा सकता है। डा० धीरेन्द्र वर्मा बटेश्वर को शूरसेन का गाँव मानते हैं तथा वहाँ की भाषा को ही प्रामाणिक ठहराते हैं। किन्तु एक ऐसी भाषा को जिसका सांस्कृतिक एवं धार्मिक दृष्टि से व्यापक रूप एवं महत्व रहा हो एक छोटे सीमित क्षेत्र से सम्बद्ध कर देना अधिक युक्ति-संगत नहीं लगता और एक विकसित भाषा की प्रामाणिकता का आधार संकुचित क्षेत्र नहीं माना जाना चाहिए। आज का ब्रजभाषी-प्रदेश शूरसेन जनपद के समान ही बड़ा है।

ब्रजभाषा के लोक-साहित्य का संकलन—

मथुरा ब्रजप्रदेश का सांस्कृतिक केन्द्र है अतः जो साहित्य लोकवार्ता अथवा लोकगीत किसी भी रूप में मथुरा में प्राप्त होगा वही ब्रज-लोकसाहित्य का महत्वपूर्ण आधार माना जाना चाहिए। विधिपूर्वक ब्रज-लोकसाहित्य का आकलन सर्वप्रथम सन् १९३० और ३२ के बीच डा० सत्येन्द्र ने किया।[1] डा० सत्येन्द्र की प्रेरणा से ही 'ग्राम-गीत-संग्रह-समिति' का निर्माण हुआ था जिसने अपनी सीमाओं के संकलन-कार्य में सहयोग दिया। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी भी इन्हीं दिनों इसी कार्य में संलग्न एवं व्यस्त थे। उन्होंने मथुरा में रहकर तथा समीपवर्ती गाँवों में आ-जाकर अनेक गीत एकत्र किए थे। लोकगीतों के संग्रह कार्य में डा० सत्येन्द्र जी की पत्नी सुश्री उर्मिला देवी ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। डा० सत्येन्द्र द्वारा अध्यापकों एवं बालचरों के माध्यम से कराए गए कार्य विशेष लाभकारी सिद्ध नहीं हुए। सन् १९४४-४५ में इस कार्य ने गति पकड़ी। 'ब्रज-साहित्य-मंडल' ने लोक-साहित्य-संग्रह में पर्याप्त सहयोग दिया।

ब्रज-लोकसाहित्य के प्रकार—

लोकसाहित्य विविध विधात्मक है। यहाँ प्रमुख प्रकारों का ही उल्लेख किया जाएगा।

१. लोकगीत—गाँव के मनुष्यों के वे मौखिक उद्गार इस विधा के अन्तर्गत आते हैं जो पद्यबद्ध हैं तथा जीवन की अनेक घटनाओं, पर्वों तथा अवसरों पर गाए जाते हैं। गीत अवसरों के अनुसार अनेक प्रकार के हो सकते हैं, जैसे—संस्कार-सम्बन्धी गीत (जन्म, विवाह, मृत्यु आदि के गीत), तिथिवासरक (सावन कौमी, त्यौहार एवं व्रतों के गीत), आदि आदि।

२. लोककथा—लोककथाएँ भी विविध प्रकार की होती हैं। इन कहानियों में साधारण मनोरंजन वाली, किसी जाति या वर्ग विशेष को संकेत अथवा चित्रित

1. ब्रज-लोकसाहित्य का अध्ययन, डा० सत्येन्द्र—पृ० ५५।

करने वाली, धर्म-विषयक, त्योहार-सम्बन्धी, किसी अन्ध-विश्वास को लेकर चलने वाली कहानियाँ जैसे गिलहरी की पीठ पर तीन धारियाँ क्यों होती हैं- आदि भी सम्मिलित हैं।

३. **लोकगाथा**—लोकगाथाएँ या पवाँड़े पद्य की रचनाएँ हैं। इनमें लोक की प्रसिद्ध प्रेमगाथा अथवा धार्मिक अनुष्ठान की कथा होती है, जैसे राँझा तथा जाहरपीर।

४. **खेल-साहित्य**—इसमें मौखिक रूप में किसी पद्य आदि का प्रयोग किया जाता है। बच्चों के कई खेल इसके अन्तर्गत आते हैं। इनमें बच्चों की कल्पनाशीलता का विशेष विकास देखने को मिलता है। आटे-बाटे दही चटाके, बाबा लाए तोरई आदि ऐसी ही पद्य रचनाएँ हैं जो बच्चे अपने खेलों में प्रयुक्त करते हैं।

५. **पहेलियाँ, कहावतें और चुटकुले**—ये अत्यन्त स्वाभाविक रूप में जन्मी लघु रचनाएँ है। धर्म, नीति, एवं व्यवहार से इनका कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य होता है। कहावतें सूक्ति-रूप में मिलती हैं।

६. **प्रकृति-विज्ञान-पर्यवेक्षण-उक्तियाँ**—यह उक्तियाँ सीधे ही प्रकृति से सम्बन्ध रखती हैं। कृषि तथा वर्षा आदि के विषय में प्रचलित उक्तियाँ इसी वर्ग में आती हैं जैसे—"पूरब पुनर्वस बोइए धान। असलेखा कोदो परमान॥"

७. **स्वाँग आदि**—ये वस्तुतः लोकनाट्य-रचनाएँ हैं। ब्रज-लोक में प्रचलित कृष्ण-सम्बन्धी रासलीलाएँ आदि भी इसी के अन्तर्गत आएँगी।

ब्रज-लोकसाहित्य का वर्गीकरण—

लोकसाहित्य के दो बड़े-बड़े वर्ग किए जा सकते हैं—(१) परम्परित तथा (२) रचित। लोकपरम्परा में सुरक्षित साहित्य इसी वर्ग का है। पीढ़ियों के साथ-साथ यह भी परम्परा के प्रवाह में बढ़ता चलता है। इसके रचनाकार का पता नहीं होता। परम्परा से चलते आने के कारण इसमें प्राचीनता की झलक रहती है। रचित साहित्य नया साहित्य होता है। यह गाँवों में प्रचलित वह साहित्य है जो किसी प्रसिद्ध ग्रामीण कवि द्वारा रचा होता है तथा जिन्हें बड़े आदर के साथ आज भी ग्रामक्षेत्रों में गाया जाता है।

परम्परित साहित्य गद्य तथा पद्य के विभेद के आधार पर दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पुनः इन दोनों के दो-दो वर्ग किए जा सकते हैं - (१) स्त्री-समाज-प्रचलित तथा (२) पुरुष-समाज-प्रचलित। स्त्री-समाज में प्रचलित गद्य का रूप विशेषतः त्योहार तथा व्रत आदि की कथाओं में मिलता है। ये कहानियाँ स्त्री के धर्म का विशिष्ट अंग हैं। पूजा, धार्मिक अनुष्ठानों आदि से सम्बद्ध यह कहानियाँ लोकविश्वास को उजागर करती हैं। पूजा तथा व्रत आदि कहानी सुनकर ही पूर्ण

माने जाते हैं। बच्चों को सुनाने के लिए कहानियों का प्रयोग यों तो पुरुष भी समान रूप से कर सकता है परन्तु नानी की कहानियों में बच्चों के लिए एक विशेष आकर्षण तथा चाव रहता है। अतः नानी की कहानी भी इसी के अन्तर्गत मानी जानी चाहिए। पुरुष-समाज में प्रचलित गद्य मुख्यतः चार प्रकार का होता है। उद्देश्य के आधार पर इनमें चार दृष्टियाँ लक्षित होती हैं—(१) मनोरंजन की, (२) शिक्षा अथवा उपदेश की, (३) व्याख्या की तथा (४) वाणी-विलास की। यह गद्य कहानी अथवा चुटकुले के रूप में उपलब्ध होता है। वाणी-विलास कहावतों में मुखर है। लोकसाहित्य के मौखिक पद्य भाग को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—गीत और अगीत। अगीत वस्तुतः कहानियों को कहने की एक शैली-विशेष है। रचना पद्य में ही होती है। यहाँ पद्य से अर्थ गेय तथा कथन के लयात्मक प्रवाह से है। इसके अन्तर्गत कुछ पहेलियाँ, परसोकले, खु'सि, अनमिल्ले आदि प्रकार ब्रज-साहित्य में मुख्य रूप में मिलते हैं। गीत-साहित्य बड़ा विशाल है। अनेक अवसरो पर गाए जाने वाले गीत स्त्री-समाज में अधिक प्रचलित हैं। प्रायः स्त्रियाँ ही संस्कार-सम्बन्धी, पर्व-सम्बन्धी तथा ऋतुगीत गाती हैं। पुरुषों के गीतों में ढोला, पवाँड़े, साके, हीर-राँझा, होली, रसिया, भजन (जिकड़ी, समादी, धुनिक), नरसी आदि हैं।

रचित साहित्य में लोकसाहित्य की वे विधाएँ आती हैं जो किसी ग्रामीण कवि द्वारा रची जाती हैं। इनके बड़े-बड़े दंगल होते हैं। ये रचनाएँ प्रायः पुरुष समाज में ही प्रचलित हैं। जिकड़ी, समादी भजन, रसिया, होली, स्वाँग, भगत, ढोला तथा ख्याल आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। ढोला तथा ख्याल आदि बनाकर गाए जाते हैं। 'ख्याल' में कलापक्ष पर विशेष ध्यान रहता है। अलंकारों का बहुधा प्रयोग होता है। इनमें नागरिक रुचि का समावेश "नफासत और नाजुकबयानी" के रूप में मिलता है। 'स्वाँग' या 'भगत' जनता के रंगमंच पर प्रस्तुत नाट्य-साहित्य हैं। इसमें अभिनय-कौशल, नृत्य-कौशल तथा संगीत-कौशल आदि का प्रदर्शन होता है। गाँव के हजारों लोग इसे देखने के लिए जाते हैं।

ब्रज के लोकगीत—

ब्रज का लोकगीत-साहित्य बहुत विशाल है। ब्रज के लोकगीतों को दो प्रमुख वर्गों में इस प्रकार विभक्त किया जा सकता है—(१) अनुष्ठान या आचार-सम्बन्धी तथा (२) मनोरंजनपरक। लोकगीतों का यह विभाजन उनके उद्देश्यों के आधार पर किया गया है। अनुष्ठान या आचार-सम्बन्धी गीत मनुष्य के किसी न किसी संस्कार से सम्बद्ध हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार मनुष्य के जीवन में सोलह संस्कारों की अनिवार्यता स्वीकार की गई है। ये संस्कार मानव-जीवन को संस्कृत करने के विधान-रूप हैं। इन सोलह संस्कारों में तीन अत्यन्त महत्त्व के हैं—जन्म, विवाह तथा मृत्यु।

ये मानव-जीवन के विशेष अवसर हैं। शेष तेरह संस्कार अपेक्षाकृत कम महत्त्व के होते हैं तथा इनकी भूमियाँ भी भिन्न होती हैं। वे वस्तुतः जीवन से कोई प्रकृत सम्बन्ध नहीं रखते जैसे—मुंडन, उपनयन तथा कर्णछेदन। लोकगीत संस्कार के लौकिक पक्ष के गीत हैं। यह गीत ही संस्कार के लौकिक विधान भी हैं। संस्कार का पौरोहित्य रूप पुरोहित आदि के द्वारा मन्त्रोच्चार के साथ सम्पन्न कराया जाता है, किन्तु लोकाचार पक्ष के लिए किसी पुरोहित आदि की आवश्यकता नहीं होती। घर की स्त्रियाँ परिजनों एवं मुहल्ले-पड़ोस में बुलावा भेजकर घर पर आयोजन करती हैं और मिल-बैठकर अवसरानुकूल गीत गाती हैं। मनोरंजनपरक गीतों में किसी न किसी लोकप्रचलित कथा का पुट रहता है। कुछ गीत तो बहुत लम्बे होते हैं जैसे—ढोला आदि।

पिछले अध्यायों में हमने लोकगीत का वर्गीकरण करते समय उसे चार मुख्य वर्गों में बाँटा है—(१) संस्कार-सम्बन्धी, (२) तिथिवासरक; (३) इतिवृत्त-सम्बन्धी; तथा (४) अन्य विविध गीत। यहाँ क्रमशः इन पर विस्तार से विवेचन किया जाएगा।

संस्कार-सम्बन्धी गीत—

जन्म के गीत या जन्ति के गीत—ब्रज-प्रदेश में जन्म-सम्बन्धी अनुष्ठानों का लम्बा कार्यक्रम होता है। गर्भाधान से प्रसव तक का समय भी जन्म के संस्कार में ही आता है। गर्भाधान के पश्चात प्रथम संस्कार 'पुंसवन' संस्कार ही होता है किन्तु लोक में यह शब्द इस रूप में व्यवहृत नहीं है, वहाँ इसे 'साध पूजना' कहा जाता है। लोक की प्रतीक-शैली में इसे 'चौक' भी कहते हैं। सातवें मास में यह संस्कार होता है। पति और पत्नी को चौक पर बैठाया जाता है। 'सोहर' गीतों में एक गीत इस प्रकार भी मिलता है जिसमें गर्भिणी की प्रतिमास की दशा का वर्णन होता है—

"पहिलौ महीना जब लागिए,
बाको फूलु गह्यो फलु लागिए।"
×× ×× ××
"ए बाइ पँचयो महीना जब लागिए,
ए बाकूँ कोल के आम मँगाइए।"
×× ×× ××
"ए बाइ सतयौ महीना जब लागिए,
ए हूँ अपुबिर-अपुबिस साध पुजाऊँ।"

प्रसव के उपरान्त सोभर, सोहर या सोहिले (प्रसूतिका-गृह के उपलक्ष में गाने वाले गीत) होने लगते हैं। इन गीतों में मुख्यतः नेग की चर्चा होती है।

यह नेग प्रसव से सम्बद्ध आचारों से होते हैं। सासुल आकर बच्चा नराती है और बच्चा नराई का नेग उन्हें मिलता है। ननद कोरों पर स्वास्तिक (साँतिये) रखती है और इसका नेग भी उसे मिलता है। सोहर के गीतों में इन्हीं नेगों की चर्चा अधिक होती है। इन नेगों से पहले भी 'वचन' की बात आती है। प्रसव से पूर्व ही ननद ने पुत्र होने की भविष्यवाणी की है, भावज इसमें अपनी ही कामना जानकर प्रसन्न होती है और ननद को कोई गहना या आभूषण आदि देने का वचन देती है। पुत्र होने पर ननद वह वस्तु भावज से माँगती है, इसके लिए ननद को झगड़ना भी पड़ता है क्योंकि भावज अब वचन से मुकरने लगती है। इसके भी गीत हैं—

भावज ने ननद को वचन दिया है—

"जो बीबी मेरे होवो नँदलाल, तुम्हें दूँगी गलहार।"

समय पर ननद गलहार माँगती है तो भावज मुकरने लगती है—

"लाली जे हरवा मेरे बाप को, तिहारे बिरन गढ़ायो सोई लेऊ।"

ननद रुष्ट हो जाती है और कहती है—

"पूत जनन्ती भावजी, जनियो नौ-दस धीअ।"

अब भावज ननद को लौटा लेती है और गलहार दे देती है। ननद प्रसन्न होकर गाती है—

"धीअ जनन्ती भावजी ! जनियो नौ दस पूत।"

इन गीतों में प्रायः ननद-भावज के परस्पर मलिन व्यवहार का चित्रण होता है। इससे लोक की मनोवृत्ति पर पूरा प्रकाश पड़ता है। इन गीतों में लोक की मनोवृत्तियाँ सहजरूप में उभरती हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि ये गीत अन्य स्त्रियाँ गाती हैं और बड़े उल्लास से गाती हैं। इन गीतों में चर्चित ननद-भावज के झगड़े को प्रसूतिकागृह में लेटी जच्चा केवल सुनती है और अन्य स्त्रियाँ भी गीत गा-गाकर तथा सुनकर गीत का आनन्द लेती हैं तथा पुत्रोत्पत्ति की प्रसन्नता को व्यक्त भी करती हैं।

२. छठी के गीत—नेग आदि के कार्यक्रम सम्पन्न हो जाने के बाद साधारणतः छठे दिन होने वाले संस्कार को 'छठी' कहते हैं। ब्रज में यही नाम प्रचलित है। कहीं-कहीं यह छठे दिन नहीं होती—इसके पीछे लोकप्रथाएँ रहती हैं। शुभ मुहूर्त निकालकर जच्चा-बच्चा को स्नान कराया जाता है। इसे प्रायः 'नहान' भी कहते हैं। इस दिन गृह-शुद्धि की ओर ध्यान दिया जाता है। सोहर समाप्त हो जाने के कारण छूत भी मिट जाती है। इस दिन भी अनेक गीत गाए जाते हैं। एक दिन पहले 'नौता' गाया जाता है। गीत स्त्रियाँ ही गाती हैं। गीत में पुरुष पूछता है—

"गोरी आजु छठी की ऐ राति कहौ तौ तिहारे बीर बुलाऊँ।"

पुरुष अपने घर वालों को न्योतने की बात करता है तो पत्नी इसका विरोध करती हुई अपने मायके वालों को निमन्त्रण देने की बात करती है। 'नौता' गाने के बाद के गीतों में अन्य अनेक कई गीत हैं जैसे—दमोदरिया, कढ़ाहुली, लपसी, पालना, झुंझना, कठुला, काजल तथा नरंगफल के गीत आदि। इन गीतों में उपहास की वृत्ति रहती है। जच्चा-बच्चा के लिए किए गए कार्यों का विवरण इन गीतों में मिलता है। कहीं-कहीं गालियाँ तथा वीभत्स भाव भी मिलता है। छठी के गीतों में नरंगफल गीत कथा प्रधान है। गीत का आशय है कि गर्भवती स्त्री की साँध को पूरा करना चाहिए चाहे कितनी ही कठिनाई क्यों न हो। छठी के गीत प्रायः गिनती सी कराते हैं। गीत की एक-एक पंक्ति में मामा, माँई, नाना, नानी, बुआ, फूफा, मौसी, ताई, चाची आदि आती हैं और पालना झुलाती हैं, झुंझुना देती हैं या कठुला पहनाती हैं। कुछ गीत सांस्कारिक भी होते हैं—

"छठी पुजन्तर बहू आईं सीता
छठी पुजन्तर बहू आईं उर्मिला
छठी ऐ पुजन्तर कहा फलु माँगें
अनु माँगें धनु माँगें, अपने पुरुख को राज माँगें
बारौ झंडूला गोद माँगें।"

३. जगमोहन लुगरा के गीत – पुत्र जन्म के ६ दिन बाद जब ननद बच्चे को कुर्ता-टोपी या वस्त्रादि देती है उस समय जगमोहन लुगरा गाया जाता है। रुक्मिणी तथा सुभद्रा के सम्बन्ध का रूपक बनाकर प्रायः यह गाया जाता है। सुभद्रा ने रुक्मिणी को पुत्र होने की भविष्यवाणी की थी या आशीर्वाद दिया था, रुक्मिणी ने सुभद्रा को 'जगमोहन' साड़ी तथा 'लुगरा' नाम का लहँगा देने का वचन दे दिया। बाद में वह मुकरने लगती है। अन्त में भाई आता है और उसके कहने पर भावज ननद को वह पहना देती है। ननद प्रसन्न हो जाती है और आशीर्वचन कहती है। जगमोहन लुगरा का गीत इस प्रकार है—

"राजे ननद भावज दोनों बैठिए
राजे रुकिमिनी नौ-दस मांस गरभ ते
राजे ननदुलि बात चलाइऐ :
'राजे जो तिहारे होंइ नँदलाल, जगमोहन लुगरा दीजिए'।"[१]

जन्ति के अनेक गीतों के बिखरे हुए भाव यहाँ प्रबन्ध रूप में प्रस्तुत होते हैं, जैसे—ननद भावज की बदन, भाभी का मुकरना, कहीं-कहीं भाभी का धमकी भी

१. विस्तार के लिए देखिए 'ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन'—डा० सत्येन्द्र—पृ० १४६-५५०।

देना, ननद का दुख और हठ, भाई का जच्चा पर क्रोध और अन्त में भाभी का मान जाना। यह गीत लम्बे होते हैं। इन गीतों में भी ननद-भावज के सम्बन्ध का लोक-व्यवहार के आधार पर स्पष्टीकरण होता है।

४. **दष्ठौन के गीत**—दष्ठौन प्रमुखतः नामकरण संस्कार है। यह जन्म के प्रायः दसवें दिन होता है। लोक-व्यवहार के अनुसार किसी अन्य दिन भी हो सकता है। शुभ मुहूर्त निकालकर पुरोहित नामकरण करता है। नामकरण के अतिरिक्त सारे आचार घर की स्त्रियों द्वारा ही किए जाते हैं। दष्ठौन या तगा बांधने के दिन जच्चा के मायके से 'छोछक' या 'पच' आता है। इसमें पुत्र तथा अन्य सम्बन्धियों के लिए कपड़े होते हैं। दष्ठौन के गीतों में जच्चा अपने पति अथवा भाई से कुछ न कुछ माँगती हुई दर्शाई जाती है। गीत के अनन्तर ही पति का उत्तर भी है—

"ए धन पीअरो बिरन पै ते मांगि, हमपै मति माँगिए
खिचरी भवज पैऊ माँगि, लडुअरे माय पै ते माँगिए।"

स्त्री अपने भाई-भावज तथा माता-पिता से माँगती है। वे उसकी इच्छाएँ पूरी करते हैं किन्तु फिर भी गाते हैं—

"बेटी नित उठि जनमोगी पूत, कहाँ ते लाऊँ लाडुए,
बीबी नित उठि जनमोगी पूत, कहाँ ते लाऊँ पीअरो।
बेटी नित उठि जनमोगी पूत, कहाँ ते लाऊँ खीचरी,
भैना नित उठि जनमोगी पूत, कहाँ ते लाऊँ पीअरो॥"

विवाह के गीत—

जन्म के बाद विवाह मनुष्य जीवन की दूसरी महत्वपूर्ण घटना है। जन्म की भाँति ही विवाह-संस्कार में भी कई लोकाचारों एवं पौरोहित्य प्रणालियों का विधान होता है। लौकिक आचार घर के व्यक्ति ही करते हैं किन्तु शास्त्रोक्त प्रणाली से किए जाने वाले आचार पुरोहित से ही कराए जाते हैं। मुख्य आचार तो पण्डित ही करता है किन्तु इसके अतिरिक्त भी ब्रज के समाज में अन्य लोकाचारों को भी महत्त्व प्रदान किया गया है। इसकी पृष्ठभूमि में दो कारण परिलक्षित होते हैं—एक तो शास्त्रसम्मत क्रिया-विधान का लौकिक (घरेलू) रूप तथा दूसरा आनन्द के इस अवसर पर अपने उल्लास तथा आनन्द को व्यक्त करना। इस अभिव्यक्ति के पीछे भी कभी-कभी परिहास तथा कभी-कभी करुणा का भाव भी होता है। शास्त्र-सम्मत प्रणाली तो विवाह-संस्कार का विधिपूर्वक विधान है जिसमें कर्तव्य, निष्ठा एवं बुद्धि-तत्त्व समाविष्ट है। किन्तु लोकाचार में समाज की हार्दिकता व्यंजित होती है। यदि दूल्हा आए और भाँवरें डालकर दुलहिन को विदा करा ले जाए तो आनन्द की उतनी सामग्री नहीं होगी जितनी कि अन्य लौकिक क्रिया-कलापों से होती है। यही कारण

है कि लोकाचारों की संख्या वैदिक आचारों से कहीं अधिक होती है। और उनका अपने स्थान पर एक विशेष महत्व भी होता है।

विवाह संस्कार के सामान्य अनुष्ठान से प्रायः हम सभी परिचित हैं, अतः सामान्य अनुष्ठान एवं लोकाचार के विवरण को विस्तार भय के कारण छोड़ा जा रहा है। विवाह-संस्कार में लोकाचारों की एक दीर्घ शृंखला प्रायः भारतीय समाज में सर्वत्र मिलती है और प्रत्येक लौकिक आचारों को यहाँ वर्णित करना न तो सुविधा-जनक ही है और न ही यह पुस्तक का मुख्य उद्देश्य। अतः यहाँ वैवाहिक अनुष्ठान में विविध प्रसंगों पर गाए जाने वाले गीतों का ही उल्लेख किया जा रहा है।[1]

लगुन के गीत—विवाह संस्कार की प्रथम प्रमुख कड़ी लगुन या लग्न-पत्रिका है। लगुन के गीत विस्तार में नहीं गाए जाते। इन गीतों में छिटपुट रूप में शुभ-शकुनों का उल्लेख होता है। वैवाहिक कार्यक्रम एवं विविध तैयारियों का वर्णन तथा परिवार के स्नेही व्यक्तियों की भावना का प्रकाशन होता है। शकुनों का उल्लेख करने के पश्चात कहा जाता है—

"जोई सगुन दादी भूआ कूँ भए,
सोई लड़िलड़ी हूँ होइ।"

लगुन का एक गीत बड़ा ही मार्मिक है जिसमें कन्या को उसके परिजन यह बोध कराते हैं कि लग्न-पत्रिका, सात सुपाड़ियों, हल्दी की गाँठ तथा हरी दूब से अनुष्ठान पूरा होने पर वह पराई हो गई है अब उसे गले कैसे लगाएँ? एक गीत में घर की स्त्रियाँ बाबा, ताऊ, चाचा आदि से पूछती हैं कि तुम क्या हार आए? गीत का प्रारम्भ इस प्रकार है—

"कहा रे पिया तुम हारिए,
ए हम हारे नाएँ मुहर पचास।
हारे नांइ रुपया डेढ़ सौ,
ए हम हारे हैं हियरा को जियरा राजकुमारि॥"

भात के गीत—'लगुन' भेजने के बाद पुत्र अथवा कन्या की माँ अपने भाई से भात माँगने जाती है। भात के गीतों में करुणा का पुट अधिक रहता है। माँ अपने सम्बन्धी भाइयों को भात न्योतने जाती है, वह अस्वीकार कर देते हैं। उसका सगा भाई मर चुका है अतः वह श्मशान जाती है। वहाँ वह महुए के पेड़ को सम्बोधित करती है। भाई का प्रेत न्योता स्वीकार कर लेता है। भात लेकर वह निश्चित तिथि पर पहुँचता है। कोई ईर्ष्यावश, भेद जान जाने के कारण छल करता है। भाई के बैठने के लिए महुए का पटा बिछाता है। भाई उसमें समा जाता है। भेद के खुलने

1. विस्तार के लिए देखिए—ब्रज-लोक० का अध्ययन—पृ० १५१ १८७।

पर सास-जिठानी के ताने सुनने पड़ते हैं। यह गीत बड़ा ही मार्मिक है।[1] गीत का प्रारम्भ इस प्रकार है—

> "ए बेहनि चली एँ बीर कें,
> और भले-भले सगुन विचारि।
> भातु जो नौतू अपने बीर कें॥"

भात पहनाने के गीत में भातई के वैभव का चित्रण रहता है तथा भातई की उदारता भी व्यंजित रहती है।

रतजगे के गीत—रतजगे में सम्पूर्ण रात्रि का कार्यक्रम रहता है। अतः इस दिन तरह-तरह के अनेकों गीत गाए जाते हैं। इन गीतों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है—

(क) इस वर्ग में सामान्य गीत आते हैं जो विवाह के किसी भी दिन गाए जा सकते हैं; जैसे—बन्नी-बन्ना, लाड़ो, घोड़ी, सेहरा आदि के गीत।

(ख) इस वर्ग के गीत अनुष्ठान-विषयक होते हैं जो विशेष प्रसंगों पर गाए जाते हैं। एक गीत में बायबन्द बँधने से पूर्व अऊत-पितर, लड़ाई-झगड़ा तथा आँधी-पानी को निमन्त्रण दिया जाता है। इस अवसर पर एक विशेष गीत गाया जाता है इसे सतगठा कहते हैं। इसमें समस्त देवी-देवताओं का उल्लेख रहता है। गीत की प्रत्येक पंक्ति प्रायः एकसी रहती है, बस देवी-देवता के नाम बदल जाते हैं। प्रथम पंक्ति इस प्रकार है—

> "धरती से बीसान करे एँ हो म्यां" काये की संख्या"

[संख्या का अर्थ शंका या भय]

(ग) इस वर्ग के गीत विविध विषयगत होते हैं; जैसे—रात्रि में मेंहदी, कजरा, बढ़ं, साँझलरी, बड़ी दिवला तथा प्रातः दातौन, कुल्ला, कुकुरा, बोसकरा, बेलना, कहैया आदि के गीत गाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कई गीत भी होते हैं। रात के गीत प्रायः अश्लील होते हैं। इनमें आश्चर्य-भावना भी होती है। एक गीत इस प्रकार है—

> "सैंयां ने बोई कांकरी, हमनें बोए खरबूज,
> सैंयां नें राखी जाटनी, हम राखे रजपूत।
> जोड़ी मेरी मिलि गई जी महाराज॥"

रतजगे के गीतों में एक गीत 'रजना' नाम का भी गाया जाता है। इन गीतों में प्रतीक रूप में यौन की अभिव्यक्ति होती है; किन्तु ये गीत मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त [illegible] होते हैं। रतजगे के गीतों की संख्या बहुत अधिक है।

---

1. विस्तार के लिए [illegible] लो० सा० अध्ययन—पृ० १६०-१६१।

भाँवरों के गीत—भाँवरों के समय अधिक महत्वपूर्ण गीत नहीं गाया जाता। पटे पर बैठने के गीत में तैयारियों का वर्णन रहता है। भाँवर पड़ते समय प्रत्येक फेरी के साथ यह कहा जाता है—"मेरी पहली भाँवरि ऐ तौऊ बेटी बाप की" अन्त में कहा जाता है—"मेरी सतई भाँवरि ऐं भई बेटी ससुर की।"

गारी—विवाह में गारी बहुतायत से गाई जाती है। इनमें व्यंग्य, अर्थ-गाम्भीर्य, और अश्लीलता होती है। प्राय: भोजन के समय गारी गाई जाती है। एक गारी प्रेमभरी इस प्रकार है—

"भूआ तिहारी कुंती कहिए कहिऐ रूप अपार,
क्वारी नें तौ लाला जायौ निकरी ऐ सौति छिनारि।
हमारी गारी प्रेम भरी॥

पलका के गीत—मण्डप के नीचे जौ बोने के समय ये गीत गाए जाते हैं। इन गीतों में मण्डप के नीचे किए गए दान की तुलना गंगा के पवित्र स्नान से की जाती है।

बिदा के गीत—बिदाबेला के गीत मार्मिक हैं। कन्या बिदा हो रही है, भाई ने उसके रथ का हत्था (डंडा) पकड़ लिया है। पिता, माँ एवं सम्बन्धी व्याकुल हैं। इस गीत में सम्बन्धियों की मन:स्थिति एवं मनोवृत्ति का चित्रण होता है। एक गीत में कन्या की मां कह रही है—

"फटि-फटि रे मेरे हिया बज्जुर के,
धीअरि जमैया तौ गयौ।"

खेल के गीत—विवाह में खेल के गीत भी गाए जाते हैं। इन गीतों में कोई विसेषता नहीं होती। ये गीत कथा-प्रधान गीत होते हैं। यहाँ एक कथा-प्रधान गीत 'पूरनमल' भी उल्लेखनीय है।

मृत्यु के गीत—मृत्यु मनुष्य जीवन का अन्तिम संस्कार है। इस अवसर पर सभी परिजनों के हृदय शोक-संतप्त रहते हैं। ऐसे समय में गीत प्राय: नहीं गाए जाते। किन्तु कहीं-कहीं अन्त में एक गींत गा लिया जाता है। गीत इस प्रकार है—

"काहे के कारन जौ बए, और काहे के हरे-हरे बाँस।
हरि रे किसन कैसें तिरखऔ॥"

त्यौहार, व्रत और देवी के गीत—

ब्रज के लोकगीतों में त्यौहारों एवं व्रतों के गीतों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्हें भी अनुष्ठान-सम्बन्धी गीत माना जा सकता है। इन गीतों का रूप भजन जैसा होता है। ये गीत त्यौहारों अथवा व्रतों के अवसर पर गाए जाते हैं।

देवी के गीत—ब्रजस्थली में नौदुर्गा चैत्रमास में होता है। इन दिनों विभिन्न देवियों के मन्दिरों की यात्रा होती है। देवी का जागन्नु भी होता है, जागन्नु का अर्थ है रात्रि जागरण। नौदुर्गा में प्रतिदिन दुर्गा के गीत गाए जाते हैं। देवी के जागरण के गीत 'भगत' गाते हैं।

देवी के गीत स्त्रियाँ भी गाती हैं और पुरुष भी। स्त्रियों के गीत दो प्रकार के होते हैं—१. स्फुट गीत, २. प्रबन्ध गीत। स्फुट गीतों के विविध विषय होते हैं, जैसे—देवी की प्रार्थना, स्तुति, उसके पराक्रमों का विवरण, मन्दिर के स्थान की शोभा, श्री तथा यात्रा की तैयारी एवं मार्ग की कठिनाइयों का चित्रण। एक गीत में यात्री मन्दिर की शोभा का वर्णन इस प्रकार कर रहा है—

"सौने कौ मन्दिर मैया कौ, ए दुख हरनी मैया,
चन्दन लागे चारौं खम्भ ॥
ऊँचे पै मन्दिर मैया को, दुख हरनी मैया,
नीचे बहैं श्री गंग ॥"

एक गीत में वरदान माँगा गया है। वरदान के रूप में स्त्री अनेक वस्तुएँ माँगती है। हरी चूड़ियों के प्रतीकवत प्रयोग से वह सुहाग ही माँग रही है—

"ठाढ़ी माँगूँ वरदान देवी के मन्दिर में।
माँगूँ मैं हरी-हरी चुरियाँ, हरी-हरी चुरियाँ।

... ...

माँगूँ मैं सात-पाँच बेटा, मैं सात-पाँच बेटा,

... ...

माँगूँ मैं सात-पाँच भइया, मैं सात-पाँच भइया,"

देवी के गीतों में प्रबन्ध-गीत स्फुट-गीतों की अपेक्षाकृत कम हैं। प्रबन्ध-गीतों में 'सुरही गाय वाला गीत' अत्यन्त सुन्दर है।

लँगुरिया—देवी के गीतों में लँगुरिया के गीत भी गाए जाते हैं। लँगुरिया में पतिभाव तथा कहीं-कहीं वात्सल्य भाव मिलता है। किन्हीं-किन्हीं गीतों में लँगुरिया पर-पुरुष के रूप में भी आया है। इन गीतों में हास्य-व्यंग्य भरपूर मात्रा में मिलता है। एक गीत इस प्रकार है—

"करि लीए दूसरो ब्याहु लँगुरिया मेरे भरोसे मति रहिए।
मोइ लीपि न आवै लीपनौं और काढ़ि आवै चूँट
मोइ पीसि न आवै पीसनौं और डारि न आवै कौर
मोइ राँधि न आवै राँधनौं और मोइ परसि न आवै थार।"

जाहरवीर की जोति—ब्रज में जाहरवीर की जोति भी जगाई जाती है। देवी के जागरण की भाँति इसका भी जागरण होता है। यह अनुष्ठान कभी भी किया जा सकता है। भाद्रपद में गुरु गुग्गा का जन्म होने के कारण इसी मास में प्रायः जोति जगाई जाती है। इसमें जाहरवीर का गीत गाया जाता है। गीत इस प्रकार आरम्भ होता है—

"गुरु मैया गुरु बाबरा करै गुरुन की सेवा है
गुरु से चेला अति बड़ा जीऊ करै गुरु की सेवा है।"

एकादशी-व्रत के गीत—व्रतों में एकादशी का अत्यधिक महात्म्य माना गया है। प्रायः सभी एकादशी पर व्रत रखे जाते हैं, किन्तु ज्येष्ठ-आषाढ़ में ही ये प्रमुख महत्त्व की माने गए हैं। ज्येष्ठ में निर्जला एकादशी होती है। औंधा-धरनी एकादशी आषाढ़ में होती है। व्रत के गीतों का प्रचलन धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। एकादशी-व्रत का एक गीत इस प्रकार है—

"बरतु-भरतु लछिमनु-रामु पढ़ौ तौ हरि की एकादशी
झूँठीं कहबे झूँठी सुनबे झूँठी साखें जे भरते
अरे इन पापनि सों भये कूकरा घर-घर घूँसन जे फिरते ॥ बरतु० ॥"

एकादशी-व्रत के इस गीत में पाप-पुण्य के परिणामों को प्रकाश में लाया गया है। एकादशी-व्रत के अतिरिक्त अन्य व्रतों के गीत प्रायः नहीं के बराबर हैं।

त्योहारों के गीत—चैत्रमास में होने वाले नौदुर्गा के गीतों को हमारे देवी के गीतों में स्थान दिया है। क्वार में नवरात्रि पर भी एक प्रकार से देवी के ही गीत गाए जाते हैं। इस प्रकार नवरात्रि के गीतों को भी देवी के गीतों में रखा जा सकता है और नौदुर्गा एक त्योहार भी होने के नाते त्योहारों के गीतों में स्थान पा सकता है। हम नवरात्रि के गीतों को यहाँ त्योहार के गीतों में रखना उचित समझते हैं।

नवरात्रि के गीत—नवरात्रि मनाई नहीं जाती; खेली जाती है। ब्रज में इसे न्योरता कहते हैं। गौरा-गौरी का पूजन होता है और गीत गाए जाते हैं। ये गीत भजनशैली के होते हैं। एक याचना का गीत अवश्य ही गाया जाता है जिसमें 'खेल-खिलत्तर' भाँति-भाँति की याचना करती हैं। एक अन्य गीत गौरी-वर्णन का गीत है।

करवाचौथ—व्रत के उपरान्त रात्रि में चन्द्रोदय के समय चन्द्र को अर्घ्य देते समय एक गीत गाया जाता है जिसमें सुहाग तथा भरे-पूरे परिवार की कामना निहित है।

दीपावली—दीपावली के पूजन में गीतों का आयोजन नहीं होता। किन्तु पर्व से सम्बद्ध अन्य अनेक लोकाचारों के साथ गीत भी गाए जाते हैं। जैसे प्रायः 'स्याहू' की पूजा के अवसर पर, गोवर्द्धन रखते समय तथा दौज की पूजा के साथ गीत गाए जाते हैं।

देवठान—दीपावली की भाँति देवठान पर गीत-विशेष आयोजना नहीं होती। देवोत्थान के समय एक साधारण-सा गीत गाया जाता है। इस गीत में 'गाने' की क्रिया के स्थान पर 'पढ़ने' की क्रिया होती है। गीत का प्रारम्भ इस प्रकार है—

"उठो देवा,
बैठो देवा,
आँगुरिया चटकाओ देवा।"

कार्तिक-स्नान के गीत—कार्तिक मास में नियम-रूप में प्रातः जल्दी उठने, स्नान करने आदि का अत्यधिक महत्त्व है। स्नान के पश्चात् भजन गाए जाते हैं। प्रातः उठते समय भी भजन गाए जाते हैं। ये जागरण के गीत हैं। जैसे—

"जागिए गोपाल लाल भोर भयो अँगना"

कातिक स्नान का एक गीत पदरूप में इस प्रकार है—

"राधा दामोदर बलि जइए।
राधा बूझै बात चतुर्भुज कैसें रे कातिक नहिए ॥..."

होली—

फागुन के महीने में होली का त्यौहार भारतवर्ष में बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। परन्तु ब्रज में तो इस पर्व का महत्व कुछ और ही होता है। इस अवसर पर मनुष्य बसन्त के उन्माद में मस्त होकर होली तथा रसिया गाते हैं। होली के इन गीतों का प्रधान विषय राधा और कृष्ण का आपस में होली खेलना है। इन गीतों में अबीर, गुलाल, रंग-पिचकारी आदि का उल्लेख अधिक किया जाता है। किसी-किसी गीत में शिवजी से होली न खेलने का वर्णन भी है—

"तोते होरी को खेलें तेरी जट में विराजति गंग"

इस अवसर पर भाँग का सेवन भी किया जाता है जिसका सम्बन्ध मूलतः शिव से ही है।

होली के गीतों में प्रेम और यौवन की उमंगों का उल्लेख अधिक रहता है। होली के इन गीतों में अनेक सामाजिक चित्रों का भी समावेश होता है। यों तो होलियों में कोई भी विषय आ सकता है परन्तु प्रेम और यौवन का चित्रण इनमें अधिक मिलता है—

मत मारौ दृगन की चोट, रसिया होरी खेलें तौ आइ जइयो फागुन में।
सीस दूध की मटुकी सोहै, एजी हाथन लयौ गुलाल। रसिया०
× × × × × ×
भर-भर कें पिचकारी मारी लाला, और उड़ायौ गुलाल। रसिया०

मूलतः होली फसल का त्योहार है। यही कारण है कि इस अवसर पर गाए जाने वाले गीतों में इतना उल्लास, उत्साह एवं उमंग दिखाई पड़ता है। एक विशेष प्रकार की मादकता के दर्शन भी इन गीतों में होते हैं। जहाँ होली के गीतों में एक ओर संयोग का वर्णन पाया जाता है तो वहाँ दूसरी ओर प्रियतम के वियोग में प्रिया की विरह-वेदना को व्यंजित करने वाले चित्र भी मिलते हैं—

अब रथ फेरि मुरलिया वारे।
चन्दा तड़फै, सूरज तड़फै, तड़फ रहे अब नौ लख तारे।

जैसा कि बताया जा चुका है कि होली-गीतों का कोई भी विषय हो सकता है। आधुनिक होली गायकों ने अपने युग के अनुसार इन गीतों के विषयों में अनेक परिवर्तन किए हैं। आजादी से पूर्व की स्थिति का वर्णन, स्वतन्त्रता के लिए किए जाने वाले संघर्षों को होली गीतों में ही वाणी मिली है। ब्रज के प्रमुख होली-गायकों —स्व० पातीराम (पतोला), पं० साँवलदास उप्रेती (इन पंक्तियों के लेखक के पितामह) मोहनसिंह, दीवानसिंह आदि—ने होलीगीतों में आधुनिक विषयों को समाविष्ट किया है।

होली-गायक—

श्री पातीराम ठाकुर (पतोला) का होली-गायकों में अपना विशिष्ट स्थान है। पतोला ग्राम बहा धौलपुर के रहने वाले थे। ये पहले चिकारे पर ढोला गाया करते थे। एक बार इन्होंने आगरा (जोगीपुरा) में होली गाई जिसे श्रोताओं ने पसन्द नहीं किया। तभी इन्होंने प्रण किया कि "अब जब मैं आगरा आऊँगा तब मैं इस होली की छाछ कर दूँगा।" यह बात आज से लगभग ६५-७० वर्ष पूर्व की है। इसके बाद पतोला जब दुबारा आया, तब आगरा के कंस-दरवाजा, गोकुलपुरा के होली के मैदान में, उसने होली गाई। अब के इन्होंने इसराज पर होली गाई और श्रोताओं ने खूब पसन्द की। बस, यहीं से पतोला की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। धीरे-धीरे वह होली का श्रेष्ठ गायक बन गया। पतोला ने होली की अनेक तर्जों का आविष्कार भी किया।

पं० साँवलदास उप्रेती होली के प्रसिद्ध गायक तथा पतोला के साथी थे। ये मंझीरा बजाने में अत्यन्त कुशल थे। ग्राम जाजऊ (फतेहपुर सीकरी, आगरा) में इनकी जमींदारी थी। इन्हें 'पटेल' कहते थे। अब भी इनके खानदान के लोग गाँव के पटेल हैं। कट्टर ब्राह्मण जमींदार परिवार में उत्पन्न होने के कारण इनके पिता इनसे इसी बात पर असंतुष्ट रहे। परन्तु ये उनसे छुप-छुप जहाँ होली होती वहाँ पहुँच जाते और होली गाकर अपना सिक्का जमा देते। पतोला भी इसी कारण इन्हें अपने साथ रखता था। इनकी होली के विषय अधिकतर चरखा, खादी, आजादी

आदि हुआ करते थे। इनके लघुभ्राता पं० बेनीप्रसाद उप्रेती भी इन्हीं के साथ होली गाते एवं होली का प्रबन्ध करते थे। पतोला की शैली में होली गाने के कारण लोग इन्हें 'पातीराम' कहा करते थे।

होली के प्रसिद्ध गायक—जिन्हें सही मानों में पतोला का उत्तराधिकारी कहा जा सकता है—मोहनसिंह हैं। मोहनसिंह भी आगरा (ग्रा० बिसैरा, मांडई) के रहने वाले हैं। ये पतोला के प्रमुख शिष्य हैं। अपने गुरु पतोला को आदर देने के लिए ये अपनी होली गाने से पहले पतोला की होली गाया करते थे। वास्तव में मोहनसिंह और पं० सांवलदास टक्कर के होली गायक थे। परन्तु प्रसिद्धि मोहनसिंह को सांवलदास से अधिक मिली। सांवलदास मंझीरा बजाकर अपनी होली को सुमधुर बनाते थे जबकि मोहनसिंह अपने मधुरकंठ से जनता को आकर्षित करते थे।

इनके अतिरिक्त होली के प्रसिद्ध गायकों में बीबानसिंह, नेकराम, अन्तराम आदि का नाम आदर से लिया जाता है। परन्तु पतोला की फेंटी के अगुआ गायकों में मोहनसिंह और सांवलदास का नाम उल्लेखनीय है।

ऋतु गीत—

बारहमासा—इसमें बारह ऋतुओं की विविध विशेषताओं के साथ-साथ वियोगिनी के मन पर पड़ने वाले इनके प्रतिक्रियात्मक प्रभावों का वर्णन एवं चित्रण रहता है। बारहमासा के महत्त्व के विषय में डा० सत्येन्द्र का कथन है—'साहित्य मे षट-ऋतु का जो स्थान है वही लोक-काव्य में बारहमासे का माना जाना चाहिए।" लोककवि ने कहीं-कहीं अच्छा वर्णन प्रस्तुत किया है। आषाढ़ के मेघों का वर्णन है—

"उमँगे से बादर फिरत कामिनी गाजि घोर सुनाइए
ऐसे नंद के लाल कहिए असाढ़ मास जो लागिए।"

लोककवि को सभी ऋतुओं के यथार्थ वर्णन में सफलता प्राप्त नहीं हो सकी, फलतः सभी ऋतुओं का वर्णन अपनी पारस्परिक भिन्नता एव विशेषता को प्रबल रूप मे स्पष्ट नही कर सका है।

सावन के गीत—लोकगीतों के क्षेत्र में सावन के गीतों की विशेष महत्ता है। इसी कारण इसे बारहमासा से पृथक् करके देखा जा रहा है। सावन की ऋतु गीतों के इतने अनुकूल है कि इसमें नितप्रति गीतों की आयोजना रहती है। झूले और मनिरा तक के गीत इसमें आ जाते हैं। इस ऋतु को गीतों की ऋतु कहना चाहिए। सावन के गीतों का वर्ग अत्यन्त विशाल है अतः इन्हें उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

ऋतुशोभा और झूला के गीत—सावन मास में स्त्रियां झूला झूलती हैं। इस समय गाए जाने वाले गीतों को झूले के गीत कहते हैं। इन गीतों से ऋतुशोभा

का भी वर्णन किया जाता है। ऋतुशोभा में रिमझिम बरसती हुई फुहार, उमड़ती-घुमड़ती हुई घटाएँ, पपीहा और कोयल के स्वर तथा चतुर्दिक फैली हुई हरियाली का वर्णन रहता है। 'हरियल सावन' का चित्र तो देखिए—

"गेंदा हजारी रौशन खिलि रह्यो, चम्पा खिल्यो है अनार
बेला चमेली फूलो मोतिया फूल्यो हार सिंगार।
अजब सुगन्धी आली उड़ि रही झुकी है कदम की डार।"

इन गीतों में वर्णनात्मकता है। भावात्मक-गीतों में भाव-व्यंजना भी सुन्दर हुई है। सावन की ऋतु में जिन स्त्रियों के पति घर पर हैं वे तो आनन्दित हैं तथा वियोगिनी व्यथित हैं। वे मायके में पति के आने की प्रतीक्षा करती हैं। स्त्रियों में चार प्रकार के भाव हैं—प्रवत्स्यत्पतिका का, आसन्न वियोगिनी का, संयोगिनी का और आगत-पतिका का। प्रवत्स्यपतिका की प्रतीक्षा का भाव इस गीत में मुखर है—

"कारी सी आई बादरी झकझल्लरि आयौ मेह।
बरसै असाढ़ी मेहरा एजी इत बालम परदेस।"

पति-प्रियतम को संदेश भिजवाने के उपक्रम का भी इन गीतों में उल्लेख मिलता है।

'मनिरा'—मनिरा गीत में चूड़ी पहनने के अवसर का भाव है।

'नीबोला'—नीबोला गीत की टेक है। इन गीतों में भाई के प्रति बहिन का प्रेम उमड़ पड़ा है। सावन के गीतों में जहाँ पति-भाव की अभिव्यक्ति हुई है वहीं भाई के प्रति स्नेह भी व्यक्त हुआ है। इन गीतों में भावज का दुर्व्यवहार भी लक्षित है। एक गीत इस प्रकार आरम्भ होता है—

"झाड़-बुहारूँ कोठरा, कूरी रे पटकन जाँउ रे नीबोला।
कोई अचकिच मिलि गए बीर, औ नीबोला।"

प्रबन्धात्मक-गीत—इनमें लघु-वृत्त को लेकर इन्हें लोकगीत का रूप दिया गया है। रोचकता की दृष्टि से ये गीत सावन के गीतों में सबसे आगे हैं। इन गीतों में एक घटना का उल्लेख मात्र होता है। यह घटना पनघट अथवा उपवन में घटित होती है। प्रमुखतः इन गीतों के माध्यम से स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों को विषय बनाया गया है। इन गीतों के विविध नाम हैं; जैसे—'मरमन', 'कनारिन', 'नटवा', 'धोबिया', 'जाटनी', 'भानजा', और 'मीरा'। इन गीतों में छोटी-छोटी कथाएँ हैं। 'चँदना', 'चन्द्रावली' और 'निहालदे' बड़े गीत हैं।

प्रायः सावन के सभी गीतों का आधार प्रेम है। इन गीतों पर ऋतु का मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी द्रष्टव्य है। प्रबन्धात्मक-गीतों में लोकव्यवहार-पक्ष भी एक विशिष्ट रूप में प्रस्तुत हुआ है।

बालकों के खेल के गीत—

बालकों में खेल के अनेक गीत प्रचलित हैं। इन गीतों में बालकों की कल्पना-शीलता मुखरित है। इन खेलों के नाम हैं—आटे-बाटे, अटकन-बटकन घपरी-घपस आदि। कुछ खेल ऐसे भी हैं जिनमें बालक गीत तो नहीं गाता एक पंक्ति ही दुहराता चलता है। जैसे—कोड़ा है जमालशाही, चील-झपट्टा और कबड्डी।

टेसू के गीत—इन गीतों में सामूहिक लय होती है। टेसू के गीतों में विलक्षणता के दर्शन होते हैं। प्रत्येक चरण अद्भुत अकल्पित संयोजना को प्रस्तुत करता चलता है। एक गीत का प्रारम्भ इस प्रकार है—

"इमिली की जड मे ते निकसी पतग, नौ सै मोती, नौ सै जग।"

झाँझी के गीत—टेसू के गीत बालक गाते हैं और झाँझी के गीत बालिकाएँ। झाँझी के गीत माँ-पुत्री के सम्वाद-रूप मे प्राप्त होते हैं किन्तु असंगतता एवं असम्बद्धता टेसू के गीत जैसी ही होती है। इनमें एक टेक भी होती है जैसे—पारेबरिया आदि। एक गीत इस प्रकार है—

"माँ, भाभी को मुँहड़ो कैसो ?
नाक चना सी, मुँह बटुआ सो, घूँघट में धुर्गाई।
थोरी खानी बहुत कमानी जे अगु जीती आई।।"

चट्टा के गीत—टेसू तथा झाँझी की भाँति चट्टा के गीत भी माँगने के गीत हैं। इन गीतों मे भी विनोद भाव रहता है।

लोरियाँ—वस्तुतः ये बालकों के गीत नहीं हैं। इन्हें स्त्रियाँ गाती हैं और बालक इन्हें सुनते-सुनते सो जाता है। ब्रज में अब लोरियों का प्रचलन अत्यल्प रह गया है।

श्रमसरोपयोगी गीत—साधारणतः यह दो प्रकार के हैं—

(क) पुरहे लेने के गीत - इन गीतों में कोई विशिष्टता नहीं होती। प्रायः दोहा-शैली में इनकी रचनाएँ मिलती हैं। किसान पुरहे लेने के समय श्रम-परिहार के लिए ये गीत गाता है। गीत का प्रारम्भ इस प्रकार है—

"बिन्दाबन बानक बन्यौ भँवर करैं गुंजार।
दुलहिन प्यारी राधिका दूलहे नन्द कुमार।।
—'राम आए' "

(ख) सिला बीनने के गीत—इन गीतों का विषय पुरहे लेने के गीतों के समान कुछ भी हो सकता है। कार्य की एकरसता को दूर करने में ही इन गीतों का महत्त्व है। एक गीत में अच्छी फसल होने से ग्रामीण जनता की प्रसन्नता का प्रकाशन हुआ है।

गृहस्थ-सम्बन्धी गीत—

घर में स्त्रियाँ प्रायः चक्की चलाते समय भी कुछ न कुछ गुनगुनाती रहती हैं। इन्हें चक्की के गीत कहा जा सकता है। धान कूटते समय भी इसी प्रकार की गुनगुनाहट और शब्दों की स्वर-झंकृति सुनाई पड़ती है। वस्तुतः ये गीत श्रमपरिहार के लिए गाए जाते हैं। इन गीतों का विषय कुछ भी हो सकता है। प्रायः परिवार की सम्पन्नता की कामना इनमें की जाती है, जीवन के व्यावहारिक-पक्ष के सम्बन्ध में भी इन गीतों में कुछ न कुछ कहा जाता है।

लोकगीत और जनजीवन—

लोकगीतों में जनजीवन मुखरित है। प्रातः होते ही चक्की तथा बुहारी के साथ जीवन का जागरण होता है और नारीकंठ से गीत निसृत होने लगते हैं। लोकगीतों एवं जनजीवन का इतना निकट का सम्बन्ध है कि लोकगीतों में जनजीवन का प्रतिबिम्ब उभर आता है। क्या लघु स्फुट-गीत, क्या दीर्घ प्रबन्ध-गीत जीवन के व्यावहारिक-पक्ष का उद्घाटन सर्वत्र हुआ है। इस व्यावहारिक-पक्ष की पृष्ठभूमि में जो मनोवैज्ञानिकता है उसने जनजीवन को सत्य रूप में निरूपित किया है। जीवन का कोई भी पक्ष क्यों न हो लोकगीत वहाँ उपस्थित हैं। बालक खेलने जाए तो, किसान खेत में काम करने जाए तो, उत्सव का कोई छोटा सा भी अवसर हो तो भी और जीवन का कोई भी संस्कार हो ये लोकगीत उनमें उल्लास भर देते हैं। यात्रा और सावन के गीत तक जनजीवन में जड़ें जमाए परिलक्षित होते हैं। जीवन का कोई भी अंग गीतों से अछूता नहीं रहता। संस्कारों के गीत के विषय में डॉ० सत्येन्द्र के शब्द हैं—"इन गीतों में घरेलू सभ्यता के चित्र पद-पद पर मिलते हैं।" यह घरेलू सभ्यता ही तो जनजीवन है। जनजीवन के इन गीतों में प्रेम का विषय अत्यन्त व्यापक है। पति-पत्नी तथा भाई-बहिन के प्रेम का वर्णन अधिकांशतः सुनने को मिलता है। लौकिक प्रेम के यौन एवं वासनात्मक संकेत भी इन गीतों में हैं जो अनैतिक भाव की अभिव्यक्ति भले ही करें किन्तु उनसे जनजीवन की स्वाभाविकता अधिक चरितार्थ हुई है। लोकगीतों का मूल उद्देश्य लोकजीवन में उल्लास के जीवन-रस को अनुभूत करना है। इससे जीवन की तिक्तता एवं कटुता से मुक्ति मिलती है। इस प्रकार लोकगीत जनजीवन और जनमानस दोनों की ही एक उद्देश्यपूर्ण अभिव्यक्ति करते हैं। इन लोकगीतों के माध्यम से लौकिक जीवन की परम्पराएँ आज भी जीवित हैं। इन परम्पराओं का महत्त्व आज भले ही अस्वीकृत हो किन्तु यह स्वयं में सत्य है कि ज्यों-ज्यों हम लोक की सहज प्रवृतियों से दूर हटकर यान्त्रिक सभ्यता की ओर अग्रसर होते जाते हैं, जीवन रस से वंचित भी होते जाते हैं।

लोकगाथा—

ब्रज में लोकगाथाएँ या पँवाड़े बहुत अधिक प्रचलित हैं। ये संक्षिप्त रूप में प्रबन्ध-गीत ही हैं। इसमें किसी न किसी लोककथा का आश्रय लिया जाता है। इनमें गीति-तत्व का समावेश होता है अतः प्रबन्धात्मकता के साथ-साथ गीतात्मकता का भी आनन्द इनसे मिलता है। ये गेय होते हैं, इस कारण कहानी में रोचकता की अभिवृद्धि हो जाती है। जन्म के कुछ गीतों में भी प्रबन्धात्मकता मिलती है जैसे—'जगमोहन लुगरा' तथा 'भात न्यौतने' के गीतों में। किन्तु वे एक प्रकार से इन लोकगाथाओं से भिन्न माने जा सकते हैं। इनमें संस्कार के उपयुक्त अवसर को संदर्भ बनाकर कथा का समावेश किया जाता है, कथा में गेयता का नहीं और कथा भी अवसर के सापेक्ष होने के कारण स्वतन्त्र नहीं होती। लोकगाथाओं में कथातत्त्व स्वतन्त्र होता है। ढोला को भी लोकगाथा के अनन्तर ही मानना चाहिए यद्यपि लोकगीत का अध्ययन करते समय ढोला का उल्लेख सविस्तार किया जा चुका है।

अब हम ब्रज की कुछ प्रमुख लोकगाथाओं की चर्चा करेंगे।

जाहरपीर—जाहरपीर में महाकाव्यत्व मिलता है। डा० सत्येन्द्र ने लिखा है—"जाहरपीर वस्तुतः धार्मिक अनुष्ठान का गीत है। जिस प्रकार देवी के गीत गाए जाते हैं और देवी की ज्योति जगाई जाती है, उसी प्रकार जाहरपीर की ज्योति जगाई जाती है।"[१] इस लोकगाथा पर शैव और विशेषतः नाथ-सम्प्रदाय का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। जाहरपीर का जन्म भी गोरखनाथ के आशीर्वाद से हुआ था। जाहरपीर राजस्थान में बीकानेर के निकट बागर के राजा देवराय के पुत्र थे। देवराय राजा निःसंतान थे बाद में गुरु गोरखनाथ का आशीर्वाद फलीभूत हुआ और उन्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। ये पीर हुए और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ने इन्हें विशेष सम्मान दिया। इनका एक नाम गुरु गुग्गा भी है। भादों में गुग्गा का जन्म हुआ था अतः इसी महीने में विशेष रूप से जाहरपीर की ज्योति जगाई जाती है और उनकी पूजा होती है।

यह गाथा बहुत लम्बी है। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> गुरु गैला गुरु बावरा करै गुरुन की सेवा हे
> गुरु ते चेला अति बड़ा तौऊ करै गुरु की सेवा हे
> महरी पै बादर ओर्‍यो बरसै कोलाढार हे
> रानी की भीजै कांचुओ, जाहर मिरगुल पाय हे
> कहाँ सुकाइ दें कांचुओ, कहाँ भरद तेरी पाग
> महल सुकाइ देउ कांचुओ, महरी भरद की पाग

---

१. हि० सा० का० बृहत् इतिहास (१६ वाँ भाग)— पृ० १९४।

जाहर के बाजार में सौनो गढे सुनार
घोड़े कूं अढ़िला बाबुका, रानी सिरियल कौ सिंगार
जाहर की गैल में स्यांपु लहरिया लेए।
पापी चेला डसि लेए दाताऐं दर्सन देइ।

इस का आशय मुख्य रूप में गुरु गुग्गा की कथा उजागर करना ही है। कथा संक्षेप में इस प्रकार है—राजा देवराय ने अपनी बहिन के द्वारा भड़काए जाने पर अपनी रानी बाछल को त्याग दिया। बाछल के पिता के घर जाते समय सर्प ने रथ के बैलों को डस लिया। रानी उस समय गर्भवती थी। गुरु गुग्गा ने गर्भ से ही माता को स्वप्न दिया कि गुरु गोरखनाथ के स्मरण से विष उतर जाएगा। विष उतर गया। मायके में भी बाछल को कष्ट ही रहता। तब गुरु गुग्गा ने गुरु गोरखनाथ से प्रार्थना की कि वे राजा देवराय को सन्मति दें। राजा देवराय को स्वप्न हुआ और वे भयभीत हो गए। गुरु गोरखनाथ का आदेश ही मानकर वे बाछल को घर ले आए जहां जाहरपीर का जन्म हुआ। कामरूप के राजा संजा की पुत्री सिरियल से गुरु गुग्गा की सगाई तै हुई किन्तु इसी बीच राजा देवराय की मृत्यु से विवाह रुक गया। गुग्गा ने सिरियल से ही विवाह करने का निश्चय किया। एक दिन उसने जंगल में वंशी बजाई। वासुकि ने प्रसन्न होकर तातिग नाग को गुग्गा की सहायतार्थ नियुक्त किया। तातिग ने सिरियल को काट लिया और ब्राह्मण वेशधारी गुग्गा ने विष उतारने का विधान किया। तातिग ने विष चूस लिया और सिरियल निरोग ही गई। इस पर गुग्गा की सिरियल से शादी हो गई। वह अपने नगर बागर लौटा। उसके मौसेरे भाइयों ने गुग्गा से आधा राज्य मांगा पर गुग्गा द्वारा ध्यान न दिए जाने पर उन्होंने शिकार के बहाने ले जाकर गुग्गा को मारने का षड्यन्त्र बनाया पर वे सफल नहीं हुए। गुग्गा ने ही दोनों का शिरच्छेद कर दिया। इसपर उसकी मां क्रोधित हुई। क्रोध में मां ने कहा जाओ और अब कभी भी अपना मुंह मत दिखाना। गुग्गा बहुत क्षुब्ध हुआ और वह पृथ्वी में समा गया।

छन्द और भाषा दोनों ही सधुक्कड़ी हैं।

रांझा—इसे प्रेमाख्यान परम्परा की कड़ी माना जा सकता है। जायसी और नूर मुहम्मद द्वारा विकसित की गई इस परम्परा का लोक में भी पर्याप्त प्रचलन हुआ, जहां हिन्दू-मुसलमान दोनों ने इसे गाया है। हीर-रांझा की कहानी वैसे तो पंजाब प्रदेश की है किन्तु इसका प्रसार बहुत व्यापक रूप से हुआ। प्राय: समस्त उत्तर-भारत में किसी न किसी रूप में यह कथा प्रचलित है—कहीं समग्र रूप में कहीं खण्डित रूप में। ब्रज प्रदेश में भी इसके गायक हैं और आज यह ब्रज की प्रमुख लोकगाथा है। रांझा इस कथा का प्रमुख पात्र है एवं नायिका के रूप में रांझा की प्रेयसि हीर है। यह एक प्रेमकथा है। ब्रज में प्रचलित रांझे की कथा में भी नाम

सम्प्रदाय का प्रभाव आ गया है, जैसे गोरखनाथ ने राँझा को गुरुदीक्षा दी है। इस प्रकार इस लोकगाथा का विस्तार किया गया है। इस विस्तार में कई अनावश्यक तत्त्व भी समाविष्ट हो गए हैं। ब्रज में राँझा की शुद्ध प्रेमकथा का रूप नहीं मिलता। वह अन्यान्य प्रभावों को साथ मिलाकर प्रस्तुत होता है। इसका विस्तार ढोले की भाँति है। ढोले की भाँति यह भी पहरियों में विभक्त है। छन्दों में विविधता नहीं है। इस लोकगाथा को प्रायः एकतारे या चिकारे पर गाया जाता है।

लोककथा—

ब्रज में कहानी कहने का चलन अत्यन्त प्राचीन है। अपनी कल्पनाओं को साधारण रूपक या प्रबन्ध-रूप मे प्रस्तुत करने से ही कहानी का जन्म हुआ होगा। बाद मे इन कथाओं में आदर्शवादिता का समन्वय स्वयमेव ही होना गया इसी कारण कहानियों में नीति तथा उपदेश के तत्त्व समाहित होते चले गए। बच्चों की जिज्ञासा के लिए चमत्कार अत्यधिक आकर्षक है अतः नानी की कहानियो मे चमत्कार-प्रधान काल्पनिकता का आविर्भाव हुआ। पुरुषों में उनकी शक्ति की अभिव्यक्ति के लिए पौरुष-प्रधान कहानियों का चलन हुआ। इन चौपाल की कहानियों मे वीरता के माध्यम से ही प्रायः मनोरंजन सिद्ध होता है। 'आल्हा' इसका सजीव उदाहरण है। इतना तो निश्चय किया ही जा सकता है कि कहानी का जन्म तथा विकास सर्वप्रथम लोककथा के रूप में ही हुआ होगा। लोककथाओं में उपर्युक्त तत्त्व प्रचुरता में मिलते है—उनमें चमत्कार है, कल्पना की प्रधानता है, वीरत्व की भावना है, नीति और उपदेश भी हैं। किन्तु लोककथाओं का एक तत्त्व यथार्थता भी है। लोककथाओं में आदर्श और यथार्थ का अद्भुत सामंजस्य है। आदर्श के रूप में मंगल-भावना का तथा यथार्थ के रूप में लोक की सहज अनुभूतियों का प्रकाशन हुआ है। देवी-देवताओं के तथा धार्मिक-अनुष्ठान-विषयक कथाओं में तो आदर्श तथा यथार्थ का आश्चर्यजनक योग किया गया है। कथाओं के अन्त में परिणाम को दिखाते हुए किसी नीति अथवा उपदेश का वाचन भी किया जाता है। यह नीति तथा उपदेश लोकादर्श के रूप में ही प्रतिपादित किया गया प्रतीत होता है।

अवसरों की उपयोगिता की दृष्टि से वर्गीकरण—

ब्रज में लोककथा कहने और सुनने के कई अवसर हैं। किसी धार्मिक विधान के अन्तर्गत कहानी कहने की अनिवार्यता होती है। कहानी के अभाव में व्रत अपूर्ण माना जाता है। इन कहानियों को बहुधा स्त्रियाँ ही सुनाती-कहती हैं। ये कहानियाँ धार्मिक भावना से आबद्ध हैं। यहीं इन कहानियों में लोक-सम्बन्धों की निष्ठा एवं प्रतिष्ठा भी होती है। धार्मिक-व्रत-अनुष्ठान आदि से सम्बन्धित होने के कारण इन्हें अनुष्ठान-विषयक कहानी कहा जा सकता है। कहानी कहने का एक अवसर वह भी

होता है जब घर का कोई वृद्ध जन—नानी, दादी, बाबा, ताऊ आदि—बालकों के मनोरंजन के लिए कहानी कहता है। बालकों की इन कहानियों के दो मुख्य प्रयोजन हैं—एक तो जिज्ञासा की तृप्ति दूसरा ज्ञान-वर्धन। इस कोटि की कहानियों को प्रायः 'नानी की कहानियाँ' कहा जा सकता है। इनमें चमत्कार की प्रधानता रहती है। जिस प्रकार बालकों की कहानी नानी की गोद से सम्बन्धित है इसी प्रकार पुरुषों की कहानियाँ चौपाल से जुड़ी हैं। 'चौपाल की कहानियों' को भी एक अवसर पर व्यक्ति आनन्द और रोचकता के लिए कहता है। इन कहानियों में कौशल-तत्त्व की प्रधानता रहती है। पराक्रम और पौरुष की कहानियाँ भी यहीं कही जाती हैं। आदिम युग से प्रेम और पौरुष की प्रतिष्ठा रही है इस कारण वही वृत्ति लोककथाओं में भी मिलती है। ब्रज की कई लोककथाओं में प्रेम एवं पौरुष का समन्वित-संतुलित रूप मिलता है। इनके अतिरिक्त कहानी कहने के और भी अवसर हैं। एक अवसर है जब किसी चर्चा के मध्य किसी दृष्टांत के रूप में कहानी का आश्रय लेना पड़ता है। इन कहानियों के पात्र कोई भी हो सकते हैं। यहाँ तक कि पशु-पक्षी भी कथा के पात्र बन जाते हैं। ब्रज में पशु-पक्षी से सम्बद्ध कथाओं का भी अत्यधिक प्रचलन है। ये ईसप की नीति कथाओं तथा पालि की जातक-कथाओं जैसी हैं। कहने का अभिप्राय यह नहीं कि ब्रज की पशु-पक्षी-सम्बन्धी कथाओं के मूल में ईसप की तथा जातक कथाओं का ही प्रभाव है प्रत्युत् इनके पात्र एक से हैं। ब्रज की कहानियों में 'बुझौवल-कहानियाँ' भी सम्मिलित की जाती हैं। इनका भी एक विशेष अवसर होता है। इन कहानियों का मुख्य रूप पहेलियों जैसा है। यथा उत्तर के न दे पाने पर युधिष्ठिर को छोड़कर शेष पांडव काल कवलित हुए बाद में युधिष्ठिर द्वारा पहेलियाँ बताने पर वे पुनरुज्जीवित हुए। इस प्रकार की कहानियों का भी ब्रज में अत्यधिक प्रचलन है। अवसरों की उपयोगिता को दृष्टि में रखते हुए डा० सत्येन्द्र ने इस प्रकार वर्गीकरण किया है—१. देवकथा या अनुष्ठान-विषयक, २. चमत्कारों की कहानी, ३. कौशल की कहानी, ४. जान-जोखिम की कहानी, ५. पशु-पक्षी की कहानी, ६. बुझौवल की कहानी, ७. जीवट की कहानी।[1]

डा० सत्येन्द्र द्वारा वर्गीकृत कहानियों के इन प्रकारों में जान-जोखिम की कहानी तथा जीवट की कहानी को एक ही वर्ग में रखना अधिक उपयुक्त होगा जिसे हमने पराक्रम तथा पौरुष की कहानी माना है तथा जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

स्थूल दृष्टि से वर्गीकरण—

ब्रज की लोककथाओं को स्थूल दृष्टि से चार प्रमुख वर्गों में बाँटा जा सकता

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षोडश भाग) सं० महा पंडित राहुल सांकृत्यायन—पृ० २५१।

हैं। यह वर्गीकरण कथ्य या प्रतिपाद्य विषय के अनुसार किया गया है। ये चार प्रकार हैं—

१. आनुष्ठानिक—स्पष्ट ही ये अनुष्ठान-सम्बन्धी कहानियाँ हैं जो व्रत अथवा त्योहार के अवसर पर कही जाती हैं। ये धार्मिक भावना से सम्बद्ध हैं और इनमें लोक-सम्बन्धों का बड़ी हार्दिकता के साथ निर्वाह हुआ है। ये कहानियाँ मुख्यतः स्त्रियाँ ही कहती हैं। इन कहानियों के अभाव में व्रत अपूर्ण माना जाता है। इनमें किसी देवी-देवता का उल्लेख अवश्य होता है। भैयादूज, अहोई आठें, करवा-चौथ, स्याहू, अनन्तचौदस आदि की कहानियाँ अनुष्ठान-विषयक कहानी के अन्तर्गत ही आती हैं।

२. विश्वास-कथाएँ—ये कहानियाँ किसी कार्य के पीछे कारण रूप में निहित इतिहास अथवा कल्पना की ओर निर्देश करती हैं। इनमें लोकविश्वास का उभरता हुआ रूप मिलता है। इन कहानियों को कहने वाला प्रतिपाद्य कथ्य पर पूर्ण विश्वास रखता है तदनन्तर लोक में भी वैसा ही विश्वास जड़ पकड़ जाता है। उदाहरणार्थ—गिलहरी की पीठ पर तीन धारियाँ क्यों होती हैं? अथवा कौवे ने अमरौती कैसे खाई? गणेश जी का सिर हाथी जैसा क्यों है? इन कहानियों में कारण का निरूपण किया जाता है। ये पुराण की कथाओं जैसी हैं जो लोक के विश्वास पर ही आधृत हैं। इस प्रकार की कहानियों को अँग्रेजी की इटियोलोजिकल कहानियाँ माना जा सकता है।

३. नीति-कथाएँ—जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इसमें किसी न किसी प्रकार की नीति का प्रतिपादन किया जाता है। इनका प्रमुख उद्देश्य शिक्षा देना होता है। ये कहानियाँ विशेष अभिप्राय को लेकर रची जाती हैं। 'ईसप की नीति कथाओं' तथा 'पालि की जातक कथाओं' जैसी इन कथाओं में नीति या उपदेश ही मुख्य कथ्य के रूप में मिलता है; किन्तु यह अनिवार्य नहीं कि इन कथाओं के पात्र केवल पशु-पक्षी ही हों। प्रत्येक प्रकार के पात्र इन कथाओं में मिलते हैं। पंचतंत्र की कथाओं से भी इनका कुछ साम्य देखा जा सकता है।

४. मनोरंजन-सम्बन्धी—ये कहानियाँ शुद्ध मनोरंजन की कहानियाँ हैं। कहीं-कहीं अप्रत्यक्ष रूप में बालकों की कहानियों में कुछ ज्ञानवर्धन सम्बन्धी संकेत भी मिल जाते हैं; किन्तु वे गौण हैं। प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन ही है। ये वे कहानी हैं जिन्हें नानी या दादी सुनाती हैं। इनमें चमत्कार प्रधान काल्पनिकता होती है जो बच्चों की कौतूहल एवं जिज्ञासा-वृत्ति को तृप्त कर उन्हें अभीप्सित आनन्द देती हैं। चौपाल की कहानियाँ भी इसी वर्ग के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं। इन कहानियों में

प्रेम और पराक्रम का अद्भुत सामन्जस्य होता है। कहीं-कहीं चमत्कार भी मिलता है। मनोरंजन इनका भी प्रधान लक्ष्य है।

कहानियों में अभिप्राय

अभिप्राय का अर्थ मोटिफ (motif) से लेते हुए डा० सत्येन्द्र ने ब्रज की लोक कहानियों में निम्नलिखित अभिप्राय तत्त्व प्रमुख माने हैं।[1]

१. प्राण-प्रवेश—प्राण-प्रवेश एक विद्या है इसमें प्राण एक शरीर से दूसरे प्रविष्ट कराया जाता है। इस विद्या को जानने वाले नट होते हैं। ब्रज की कई लोक-कथाओं में प्राण-प्रवेश विधा का उल्लेख मिलता हैं। एक कथा में राजा ने नट से यह विद्या सीखी तो राजा के नौकर ने भी चुपके से सीख ली थी और जब राजा ने मृत तोते में अपने प्राण प्रवेश कराए उसी समय नौकर ने राजा के शरीर में प्राण प्रवेश करा दिए। इस प्रकार कहानी आगे चलती है। यह कथा योगानन्द के विषय में 'कथा-सरित्सागर' में दी गई है।

२. प्राणों की अन्यत्र स्थिति—प्राण शरीर से भिन्न माने गए हैं। इसको आधार मानकर कुछ कहानियों में प्राणों की अन्यत्र स्थिति की भी कल्पना की गई है, जैसे किसी राक्षस के प्राणों का तोते में होना। एक कथा में प्राणों की स्थिति एक हार में कल्पित की गई है। ढोला में कथित भौमासुर के प्राण एक बगुले में थे, जिसे मारकर राजा नल ने भौमासुर के प्राण हर लिए थे।

३. विद्या से रूप-परिवर्तन—साधारण लोकवार्ता में ऐसी जादूगरनियों के होने पर भी विश्वास किया जाता है जो मनुष्य का रूप परिवर्तन कर देती है। ब्रज की कई कहानियों में जादूगरनियाँ मनुष्य को तोता, बकरा या मेढ़ा बना लेती है। एक राक्षस-पुत्री ने अपने प्रिय राजकुमार को अपने राक्षस पिता के भय से मक्खी बनाकर बालों में छुपा लिया था।

४. धोखे से स्थान ग्रहण—धोखा देकर स्थान ग्रहण करने की बात भी ब्रज की लोककथाओं में मिलती है एक कहानी में एक मालिन ने रानी को कुए में फिकवा दिया और स्वयं रानी बन बैठी। और वह रानी अंकुर आदि बनती हुई आम की गुठली के स्थान पर निकली।

५. चीर पर लेख—ऐसी कहानियों में प्रायः कोई कुरूप वर अपनी आँख के काजल से सुन्दरी के वस्त्र पर अपना वृत्त अंकित कर देता है और तभी से वह स्त्री उस पुरुष को अपना पति मानती है।

---

1. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (षोडश भाग) सं० महापंडित राहुल सांकृत्यायन-पृष्ठ २५६ तथा ब्रज-लोकसाहित्य का अध्ययन--डा० सत्येन्द्र—पृ० ५०० (अ)।

व्रत की कहानियाँ—

ब्रज में व्रत-त्यौहार आदि के साथ कहानी कहने की अनिवार्यता सम्बद्ध है। स्त्रियाँ इन व्रतों में कहानी सुनाती है। कहानी कहने के अभाव में व्रत अपूर्ण माना जाता है। जिन व्रतों के साथ कहानी कहना आवश्यक है, वे आवश्यक कहानियाँ ये है—(१) नागपंचमी की कहानी, (२) भैया पाँचै की कहानी, (३) दूबरी सातें की कहानी, (४) ओघ द्वादशी की कहानी, (५) अहोई आठें की कहानी, (६) करवा-चौथ की कहानी, (७) शिवचौदस की कहानी, (८) सोमवार की कहानी, (९) रवि-वार की कहानी, (१०) शनिवार की कहानी, (११) शुक्रवार की कहानी, (१२) बृहस्पतिवार की कहानी, (१३) बुधवार की कहानी, (१४) मंगलवार की कहानी, (१५) अनन्त चौदस की कहानी, (१६) भैयादौज की कहानी, (१७) दिवाली की कहानी, (१८) सकट चौथ की कहानी।

कहानियों में वृत्त और भाव—

ये कहानियाँ किसी लौकिक फल की प्राप्ति को हेतु बनाकर किए गए अनुष्ठान की कहानियाँ हैं। अनुष्ठान भी लौकिक ही होते हैं। स्त्रियों की धार्मिक भावना इनसे कहाँ तक सम्बद्ध है यह अभी प्रश्न ही है। इनमे आध्यात्मिकता नहीं मिलती ये कहानियाँ लौकिक भूमि पर खड़ी हैं। इनमें घर-गृहस्थी ही वृत्त हैं। गृहस्थी में आने वाले अभावों की पूर्ति की कामना इन कहानियो में व्यजित है। अशुभ परिणामों के निवाहरण की बात भी इन कहानियों में मिलती है। कहीं-कहीं कल्याण की दृष्टि से देवी-देवताओं को प्रसन्न करना भी इन कहानियों का लक्ष्य है। इन कहानियों में विविध भाव व्यंजित है। ये भाव हैं- भाई-बहिन के अनन्य प्रेम एवं कल्याण का भाव, पुत्र-प्राप्ति की कामना, सौभाग्य-प्राप्ति की कामना, धन-समृद्धि की कामना, देवी-देवताओ का महात्म्य, स्त्री की मान-रक्षा का भाव, पूर्वजन्म के पाप के फल-भोग और उसके निवारण का भाव, गाय की हत्या के प्रायश्चित का भाव। इन कहानियों के अन्त मे एक वाक्य आशीर्वचन वाला होता है। जैसे, यदि किसी कहानी का अन्त परिणाम प्रदर्शन में होता है और यह परिणाम शुभ होता है तो कहा जाता है कि "जैसौ बाकूँ भयौ वैसौ सब काहू कूँ होय।" यदि परिणाम शुभ न होकर अशुभ होता है तो प्रायः यह कहा जाता है कि "जैसा उसको हुआ वैसा किसी को न हो।" इस प्रकार यदि हम इन वाक्यों के मूल में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो ज्ञात होता है कि ये सभी कहानियाँ जन-जीवन में आशावादी दृष्टि तथा आस्था की शक्ति उत्पन्न करने वाली हैं।

कुछ ब्रज-लोककथाएँ और उनका अध्ययन—

यहाँ ब्रज की सभी लोककथाओं का अध्ययन असम्भव है। केवल दो कथाएँ हम उदाहरण-स्वरूप ले रहे हैं।

नागपंचमी की कहानी[1]—

एक गाम मे एक लुगाई ई । ब्वाके पीहर में कोई हतु नाओ । एक दिनां की बात । एक करियल स्याँपु एक घर में ते भाजिकें आइ रह्यो ओ, ब्वा स्याँपु के पीछे एक आदिमी डंडा हात में लए ब्वाइ मारिबै कूं आइ रह्यो ओ । करनी को खेल, बु लुगाई ब्वांई बखत घूरे पै कतना भरिकें कूरो डारिबै आई । स्यांप पै ब्वाई तसुं आइगयो । ब्वाने वाके ऊपर अपनों कतना दाबि दीयौ । सब आदिमी तौ हटि गए । बु स्वाँई ठाड़ी रही । स्याँप ने कही—'आजु ते तू मेरी धरम की बैहन और मैं तेरो भइया ।' लुगाई ने कही—'भैया, मेरे पीहर में कोई हतु नाएं । आजु ते तेरो ही घरु मेरो पीहरु । सामन में मोइ लैबे कूं अइयो ।'

· सामन आयौ । सब भैया अपनी बहिनिन्नें लैबे कूं आए । स्याँपु ऊ अपनी धरम की भैनिए लैबे कूं आयौ । बहिन् ने खूब आदरु भावु करियौ । डलिया कोथरी करी । स्याँप ने डलिया कोथरी तौ अपनी पीठि पै बाँधी औरु अपनी धरम बैहनिए लैकें चल दीयौ । एक करील के नीचे ब्वाकी बाँबी ई । बाँबी के ऊपर ब्वाने अपनी बहिन उतारी । राति भई और बु सोइ गई । स्याँपु अपनी सोउती बहिनिऐ भीतर लै गौ । म्वाँ बड़े-बड़े महल बनि रहे । मनिन के दीए जरि रहे । बु स्याँपु सबु स्याँपन को सरपचु ओ । कुनबा ब्वाको बड़ो ओ । एक बूढ़ी माँ, इकु बापु और भौतु से भइया ए । जब सबु स्याँपु बाहिर चले जाइं तब बु बूढ़ी मां कहै— बेटी अपने भैया भतीजन कूं दूधु सिराइ दै ।' बु रोज कटोरन मे दूधु सिराइ दबौ करै । नेंक खटका कर दे । ब्वाइ सुनिकें सबु स्याँप आइ जाइं ।

एक दिनां की बात । हौंनी बलमान । दूध तातौ रहिगौ औरु ब्वाने खटका करि दीवौ । केतो बिन्ने दूधु पीयौ सोइ सबके मौंह पजरि गए । छोटे-छोटे स्याँप तौ रिस्याए । परि बा पंच स्याँप और ब्वाकी मां ने सबु चुप्पु करि दीए ।

सामन बीति गयौ । सनूनोंऊ हैगो । ब्वाने अपने सबु भैयान कें राखी बाँधी । लुगाई ने कही कि भैया अब मोइ जान दे । स्याँपु ने कही कि मैं मेहमान पै खबरि करिवे जातू । उनई के संग तोइ बिदा करूंगो । स्याँपु महमानें संगई लिवाइ लायौ । बड़ी खातिरदारी करी । बिदा की समैया आयो । बिदा में स्याँप ने अपनी बहिन ऐ एकु मनिन कौ हारु दीयौ और बु दोऊ बिदा है गए । स्याँप ने कही कै भैना, अब मैं तोइ लैबे कूं आऊं तबई आइ जइयौ । भैनिनें कही कि अच्छा ।

महमान बिदा होतीं पोत अपनों एक दुपट्टा भूलि आयौ । बु रस्ताई में ते दुपट्टाऐ लैबे कूं गयौ । ब्वाइ करील के पेड़ के सिवाय कछू न पायौ । परि ब्वा करील पै दुपट्टा टँगि रह्यौ । ब्वाइ घर कूं लै आयौ ।

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षोडश भाग)—पृ० ३५४-५५।

एक दिनां कहा भयौ कि बु लुगाई अपनी छति ऐ लीपि लहेसि रही और ब्वा मनिन के हार ऐ पहरि रही ई। ब्वा सहरपना की जो रानी हुति काई ब्वाकी नजरि ब्वा हार पै पर गई। रानी घर आइकें खटपाटी लेकें परि रही। राजा नें कारनु बूझ्यौ। ब्वाने हार लैबे की राजी परगट करी। राजा ने ब्वाई लुगाई को मालिक बुलायौ और हार की बात पूछी। ब्वाने कही कि मेरी भोटिया ए (बहू) बु ब्वाके पीहर ते मिल्यौ ऐ। राजा नें कही के द्वै दिना कूँ हमें ब्वा हारऐ दे जा। ब्वाई नमूना कौ एकु हारु बनवामनों ऐ। ब्वाने बु हारु लाइकें दै दियो।

कै तो रानी ने बु हारु पहर्‌यौ सोई ब्वा में स्यांपई सांपि। फिर राजा ने बुही बुलायौ, परि ब्वाकी हिम्मति ब्वा हारऐ उतारिबे की न परी। फिर ब्वाने अपनी लुगाई भेजी। ब्वाने वु हारु रानी के गरे में ते उतारि लीयौ, बु फिरि मनिन को हारु है गौ।

राजा बे भेदु पूछ्यौ। ब्वाने सब बात बताइ दई।

नागपंचमी की इस कहानी में उपकारी के प्रति कृतज्ञता का भाव व्यंजित है। सर्प एक स्त्री द्वारा रक्षित होने पर उसे अपनी बहिन बना लेता है और स्त्री भी सर्प को भैया मान लेती है। एक तथ्य द्रष्टव्य है कि कथा में नाग को देवता नहीं माना गया है, न ही उसे मनुष्य-रूप में प्रकट किया है; किन्तु सर्प में मानवीय भावनाओं का होना प्रदर्शित किया है। प्रेम के मानवीय सम्बन्ध सर्प-योनि में भी दिखाए हैं। सर्पों का धरती के भीतर महलों में रहना कदाचित इस लोकविश्वास की अभिव्यक्ति है कि सर्प धरती के भीतर पातालपुरी में रहते हैं। सर्पों का ऐश्वर्य सम्पन्न होना भी लोक-विश्वास ही है। रानी के खटपाटी लेके पड़े रहने में स्त्रीहठ की एक झलक भी मिलती है तथा यह भी ज्ञात होता है कि स्त्रियों के हठ की बात अत्यन्त प्राचीन है। कहानी के अन्त में चमत्कार-वृत्ति भी मिलती है। रानी के हार पहनने पर उसमें साँपों का हो जाना एक चमत्कार ही है। कदाचित इस चमत्कार के कारण कहानी ने यह सिद्ध करना चाहा है कि एक व्यक्ति को किसी स्नेह-पात्र से मिली वस्तु-उपहार उसी व्यक्ति को ही फलती है।

करवाचौथ की कहानी—

करवाचौथ सुहागिन स्त्रियों के सुहाग का व्रत है। इस व्रत में स्त्री अपने अक्षय सौभाग्य की कामना करती हैं। यह व्रत कार्तिक की कृष्ण चौथ के दिन रखा जाता है। स्त्रियां निरजला व्रत रखती हैं। रात्रि में चन्द्र-दर्शन के बाद चाँद को अर्घ्य देकर भोजन ग्रहण करती है। इस दिन दिवाल पर गोबर आदि से लीपकर चित्रफलक तैयार किया जाता है और उस पर चावल पीसकर बनाए गए सफेदे से चित्र खींचे जाते हैं। इन चित्रों में विशेष आशय होते हैं। चित्र के स्थान पर 'करुए' रखे जाते हैं। गौरें भी रखी जाती हैं। दिवाल पर बनाए गए चित्र का पूजन होता है। पूजन गौर का भी होता है। देवरानी-जिठानी करुए बदलती हैं। अकेली ही होने

पर गौर से करुए बदले जाते हैं। कहानी भी कही जाती है। यह कहानी इस प्रकार है[1] —

एक गाम में सात भैया रहत ए। उनकी एक कछु बहुत प्यारी बहिन ई। सातों भैया अपनी भैंनि पै इतनों प्यारु करत ए कि बे बैहिन ते पहलें रोटी नाँय खात। कातिक लगत करवा चौथि आई। सातों भौजाई औरु आठेंई भैंनि नें बर्तु कर्यौ। जि भैंनि के ब्याह के पहली वर्ष ई।

जब भैया बाहिर तें आए तो उन्नें अपनी अम्मा ते कही कि अम्मा ला रोटी दै दै। अम्मा ने रोटी परोसी। फिरि जब रोटी पर्सि गई तो उन्नें पूछी क हमारी भैंनि कहाँ ऐ। अम्मा ने कही : 'बेटाऔ आजु तुमई रोटी खाइ लेउ। बु तौ बर्तो रही है। चन्दा ऐ देखिकें रोटी खाइगी।' उन्नें कही कि तौ री हमऊँ जबई रोटी खाँगे।

सातों भैया अरबैबरि के पेड़ पै चढ़ि गए। उनमें से एकु तौ दीऔ लै गयौ और एकु चलनीं लै गयौ। एक ने चलनी रोपी और एकने दीऔ दिखायौ। एकु भाजि के अपनी भैंनि के पास आयौ और ब्याते कही—देखि बु चन्दा निकरि आयौ। माँ ने सातों भौजाई औरु आठेंई नन्द अरघु देबे कूँ पठै दई। भौजाई जब छति पै चढ़ि के गईं तौ उन्नें कही : जेई अपने भैयान की प्यारी भैंनिऐं। जिनई की चन्दा निकरि आयौ होइगौ। हमारौ तौ निकर्यौ नाएँ। जि कैहू कें बे उल्टाबाटुई औटि आईं।

मैरि भैंनि ने तो अपने भैया को साँचु मानिकें अरघ दें ई दीयौ।

लौटि कें ब्यानें अपनी भौजाईन ते करुए बदले। करुए बदल्त में तौ कहूँत ऐं 'सदा सुहागिल करुए लै। सात सपूती करुए लै।' परि बिन्नें करुए बदल्त में अपनी नन्द ते कही कि 'बर्तु खंडिनी करुए लै। अबबर खानी करुए लै।' भैंनि बिचारी भोरी ई। ब्याकी समझि में कछू न आई। फिरि आठौ भैंनि-भैया खाइबे कूँ बैठे। बहिन नें पहिलौ गसा तोर्यौ सौ तो ब्या में बारु निकर्यौ। दूसरे में मक्खी निकरि। तीसरे गसा ए मुँह तक लै जान न पाई सोई सासुरे ते नौवा आयौ। ब्यानें महमान के मरिबे को संदेसौ सुनायौ। रोहा-राटु मच्यौ। माऊ ते ब्या भैंनि नें कही कि ल्हासै बिकरन न करें। मैं अब्हाल आई।

भैया अपनी प्यारी भैंनि ऐं लैकें ब्याके सासुरे कूँ चले। भैंनि नें ल्हास न उठन दई। ल्हास के आस-पास पीरी माटी बखेर दई और ब्यामें जौ बोइ दए। साल भरि तक न ब्यानें अन्नु खायौ, न पानी पीयौ। ब्या ल्हास के जोरें बु बैठी रही। फिरि साल भरि पीछें बुही करवा चौथि आई।

---

१. भारतीय साहित्य अक्टूबर १६६० (वर्ष ५, अंक ४); सम्पादक—डा० विश्वनाथ प्रसाद पृष्ठ २०४-२०५।

करवाचौथि कौ दिनौ औ। सब बय्यरबानी बर्त की तैयारी करि रही ईं। ब्वाई बखत एक डोकरी आई। ब्वानें ब्वा दुखियारी ते कही कि तू अपने पीहर कूँ चली जा। अपने भैयान ते कहिकें जा ल्हासैं ब्वाँई मँगवाइ लीजो। तेरी छोटी भाभी की कन्नी उँगरिया में इमितुऐ बु ही तोइ सुहागु देगी। जब छोटी भाभी करुए पलटिबे आई तो ब्वाने बु पकरि लई। भाभी ने 'सदा सुहागिल करुए लै' कहके अपनी उँगरिया चीरि कै ब्वाके मोंह में निचोरि, दई।

बु हरे-हरे कहिके ठाड़ौ हैगौ।

इस कहानी के अन्तिम अंश में कुछ रूपान्तर मिलते हैं। एक कहानी में अमृत बूढ़ी भाभी की कन्नी उँगली में है। एक में परियाँ आई हैं और उन्होंने वरदान दिया है। एक में शिव-पार्वती रात की प्रदक्षिणा में निकलते हैं तो पार्वती ने स्त्री की तपस्या पर द्रवित होकर शिव की कन्नी उँगली से अमृत दिलवाया है। इतने रूपान्तरों के बाद भी कहानी के मूल निष्ठाभाव में व्याघात नहीं पहुँचा है। इस कहानी में दो भाव पृथक् रूप से मिलते हैं। पहला, भाइयों का बहिन के प्रति प्रेम दूसरा, बहिन की पति के प्रति निष्ठा। भाई अपनी भूख से व्याकुल थे। आते ही उन्होंने माँ से भोजन माँगा था, किन्तु सदैव की भाँति बहिन को भी साथ में खिलाना चाहते थे। व्रत-उपवास की बात सुनकर भाइयों ने बहिन की भूख की कल्पना की होगी तथा व्याकुलता का अनुमान लगाया होगा। परिणाम से अनभिज्ञ रहकर उन्होंने वैसा उपाय किया जिससे उनकी बहिन को शीघ्र भोजन मिल सके। इस प्रकार कहानी के पूर्वार्द्ध मे भाइयों का बहिन के प्रति प्रेम प्रकट होता है। कहानी के उत्तरार्द्ध में बहिन ने एक वर्ष का कठिन व्रत साधा। वर्ष भर उसने अन्न-जल न ग्रहणकर अपनी तपस्या के माध्यम से पति के प्रति अपनी निष्ठा को ही अभिव्यक्त किया है। अंत में इस तपस्या का फल भी मिलता है। अन्तिम अंश के रूपान्तर से कहानी में कोई अन्तर नहीं आता। करवाचौथ की यह कहानी आद्योपान्त अपने मूल केन्द्र के चारों ओर फैली है। स्त्रियाँ प्रायः इस कहानी को करवा चौथ के व्रत के महात्म्य के रूप में ग्रहण करती हैं। क्योंकि पूर्वार्द्ध में व्रत खंडित हो जाने पर दण्ड का ईश्वरीय विधान मिलता है और अन्त में तपस्या तथा पूर्ण प्रायश्चित के बाद फिर जैसा का तैसा हो जाता है। इस कहानी में लोकविश्वास के अनुसार शकुन-विचार की बात भी मिलती है। अपशकुन भावी दुर्घटना का संकेत देते हैं। करवा चौथ के व्रत के दिन कहानी कहकर सुहागिनें सौभाग्य-प्राप्ति की कामना करती हैं। कहानी का अनुष्ठान की भावना से पूरा तालमेल है।

लघुछन्द कहानी—

ब्रज की कहानियों में लघुछन्द कहानी का प्रचलन प्रमुखतः बाल-साहित्य के

रूप में है। बालकों की मनोरंजन कहानियाँ प्रायः इसी कोटि की हैं। इन कहानियों में कथा का अंश बहुत छोटा है—ऐसा सुबोधता की दृष्टि से है। छोटे-से कथानक को विस्तार देने के लिए कुछ अंशों की पुनरावृत्ति की जाती है। यह पुनरावृत्ति प्रायः पद्य के रूप में होती है। छन्द-शिल्प की दृष्टि से इनका न तो निश्चित आकार होता है न विशेष रूप। किन्तु कहानी की मूल भावना प्रायः पद्य के रूप में रहती है तथा पुनरावृत्ति के कारण उसकी प्रभावोत्पादकता बढ़ जाती है। सरल-सुलभ शैली होने के कारण बालकों के लिए विशेष मनोरंजन की होती हैं। इन कहानियों में कौतूहल बनाए रखने की वृत्ति का अभाव होता है, तो भी अपनी प्रभावक क्षमता के कारण मनोरंजन के लिए पूर्ण सामिग्री इन कहानियों में होती है। लघुछन्द कहानियों के दो भेद किए जा सकते हैं—एक सामान्य, दूसरा क्रम-सवर्द्धित। सामान्य लघुछन्द कहानी में कोई एक बात छोटे पद्य के रूप में कही जाती है जो उन्हीं शब्दों के साथ कहानी में दुहरती रहती है। किसी-किसी कहानी में पद्य दुहरता नहीं है और अन्य छोटे-छोटे पद्यांशों से कहानी आगे बढ़ती जाती है। इन कहानियों का उल्लेख हमने 'लोककथा' वाले अध्याय में विस्तार से किया है।

ब्रज का लोकोक्ति-साहित्य —

लोकवाणी में जन्म लेने वाली, विकसित होने वाली तथा प्रचलित होने वाली सभी प्रकार की उक्तियों को लोकोक्ति कहा जा सकता है। इस प्रकार लोकोक्ति शब्द अधिक व्यापक हो जाता है। लोकगीत, लोकगाथा, लोककथा आदि लोकसाहित्य की ऐसी विधाएँ हैं जिनमें पर्याप्त विस्तार होता है। किन्तु लोकोक्ति में कोई दीर्घ या जटिल वृत्त नहीं होता। लोकोक्तियों में लोकमानस के अनुभव-सूक्ति रूप में रहते हैं। शब्द-शक्ति की दृष्टि से ये बड़े ही लाक्षणिक होते हैं। सामान्य जीवन और जगत् के अन्यान्य अनुभव, लाक्षणिक-पद्धति से लोकोक्तियों में समन्वित होते हैं। लोकोक्ति क्योंकि सूक्ति-रूप होती है अतः इनके छोटे-छोटे वाक्यों में गम्भीरता का पर्याप्त समावेश रहता है। अनुभवों का पुंजीभूत रूप होने के कारण इनमें अपार ज्ञानराशि एवं बुद्धि-तत्त्व का भण्डार होता है। लोकमानस के अनुभव और ज्ञान के प्रतिफलन से इनका रूप बहुत कुछ नीति-शास्त्र जैसा भी हो जाता है। वस्तुतः ग्राम्य-जगत का यह नीति-शास्त्र ही होता है।

लोकोक्ति शब्द को व्यापक अर्थ में लेकर लोकोक्ति-साहित्य के दो वर्ग किए जा सकते हैं—१. पहेली और २. कहावतें।

पहेलियाँ—

पहेलियाँ भी लोकोक्ति का एक रूप ही हैं। इनका प्रचलन अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक काल में इनका प्रचलन एवं प्रयोग परिलक्षित होता है। संस्कृत में इन्हें

प्रह्लोदय कहते हैं। वैदिक काल में ब्रह्मोद्य अश्वमेध-यज्ञ के एक अनुष्ठान रूप में मिलता है। पहेलियाँ अनुष्ठान-रूप में अन्य देशों में भी प्रचलित थीं। किन्तु ब्रज में आज पहेलियों का वैसा रूप नहीं है। यह 'बुद्धि-विलास' का माध्यम है। इनसे साधारण कोटि का मनोरंजन होता है। एक दूसरे की बुद्धि मापने का एक साधन है। मनोविज्ञान की दृष्टि से देखने पर यह भी ज्ञात होगा कि पहेलियों में जन-रुचि भी छिपी होती है और परस्पर पहेली पूछने से इन लोकरुचियों पर प्रकाश भी पड़ता है। डा० सत्येन्द्र ने पहेली में तीन महत्त्वपूर्ण तथ्य स्वीकार किए हैं—"लोक-मानस इसके (पहेली के) द्वारा अर्थ-गौरव की रक्षा करता है, और मनोरंजन प्राप्त करता है। यह बुद्धि-परीक्षा का भी साधन है।"[१] पहेलियाँ ब्रजक्षेत्र के सभी सभ्य-असभ्य निवासियों में प्रचलित हैं।

पहेलियों का वर्गीकरण—

पहेलियों का वर्गीकरण विषय के आधार पर किया जा सकता है। यह वर्गीकरण डा० सत्येन्द्र ने ब्रजलोक-साहित्य का संकलन करते समय किया था। ब्रज-प्रदेश से संकलित की गई प्रहेलिकाओं को सात वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—१. कृषि-सम्बन्धी, २. भोजन-सम्बन्धी, ३. घरेलू-वस्तु सम्बन्धी, ४. प्राणी-सम्बन्धी, ५ प्रकृति-सम्बन्धी, ६. अंग-प्रत्यंग-सम्बन्धी और ७. अन्य विविध-विषयक।

१. **कृषि-सम्बन्धी**—इसमें कृषि-कर्म से सम्बन्धित विषयों पर पहेलियाँ हैं। ये विषय हैं—कुआ, फुलसन, पटसन, मक्का की भुटिया, मक्का का पेड़, हल-जोतना, चर्स, वर्त, चाक, खुरपा, पटेला, पुर। जैसे—

"ओर पास घास-फूँस, बीच में तबेलो।
दिन में तो भीर-भार, राति में अकेलो।।"—कुआ।
"लम्बी छोरी आट की जल में गोता खाए।
हाड़ गोड़ वाके परे रहि गए खाल बिकन कूँ जाय।।"—पटसन।

२. **भोजन-सम्बन्धी**—इसमें ब्रज-क्षेत्र में प्रचलित खाद्य-पदार्थों पर पहेलियाँ हैं। ये विषय हैं—तरबूज, लालमिर्च, पूआ, कचौड़ी, बड़ी, सिंघाड़ा, खीर, पूड़ी, घी, मूली, अरहर, ज्वार का भुट्टा, गेहूँ, ज्वार का दाना, आम, जलेबी, गाजर, अनार, बेर, खिरनी, कचरिया, टेंटी, तिल, कढ़ी।

३. **घरेलू वस्तु सम्बन्धी**—गृहस्थी में प्रयोग होने वाली सामान्य वस्तुओं को इसमें विषय बनाया गया है। ये विषय हैं—दीपक, हुक्का, ताला, छप्पर,

१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षोडश भाग)—पृ० ३६१।

काजल, मोरी, अशर्फी, हँसली, चक्की, चर्खा, किवाड़, पंसेरी, कंघी, जूती, लाठी, ईंट, कुर्ता, पाजामा, रुपया, तराजू, खंभ, कठौती, कढ़ाई, तवा, ढेंकली, आइना, छींका, फावड़ा, सुई, डोरा, कागज, कुटी, पत्तल, आग, दीवाल, कलम, अंगिया, चलनी, दांतुन, रई आदि। जैसे—

"नद्दी की पारि पै बोक चरै।
नदिया सूखै बोक मरै॥"—दीपक।

४. प्राणी-सम्बन्धी—इस वर्ग में प्राणी के जातीय नामों को पहेली का विषय बनाया गया है। प्राणियों के नाम हैं—भैंस, भौंरा, मधुमक्खी, चिरौंटा, दीमक, मोर, बर्रै, जूँ, ऊँट, हाथी, खरगोश आदि। जैसे—

"चार पाम की चापड़-चुप्पो, चापै बैठी लुप्पो।
आई सप्पो लै गई लुप्पो रह गई चापड़ चुप्पो।"

—चापड़-चुप्पो (भैंस), लुप्पो (मेंढकी), सप्पो (चील); इनय के कारण अर्थ संकेत अस्पष्ट हैं।

५. प्रकृति-सम्बन्धी—इसमें प्रकृति के अन्यान्य उपादानों को पहेली के विषय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ये उपादान हैं—चन्दा, सूरज, दिन-रात, बीजुरी, तारे, ओस, ओला, जवासा, ढाक का फूल, बया का घोंसला, आसमान, करील, छाँह, काई आदि।

६. अंग-प्रत्यंग-सम्बन्धी—मनुष्य के ही नहीं, अन्य प्राणियों के अंग-प्रत्यंगों को इसमें पहेली के रूप में पूछा जाता है। ये अंग हैं—आँख, नाक, कान, सींग, दाँत, शरीर, जीभ, दाढ़ी आदि।

७. अन्य विविध-विषयक—इसमें जगत् की अन्य विविध वस्तुओं को विषय बनाया गया है। पिछले ६ वर्गों में इन्हें नहीं रखा जा सकता और न ही इनके वर्ग किए जा सकते हैं। ये इतने विविध हैं कि इनका वर्ग-विभाजन कठिनता से हो सकेगा। अतः इन सभी वस्तुओं से सम्बन्धित पहेलियों को एक बड़े समूह में रख दिया गया है। वैसे इन विषयों पर पहेलियों की संख्या अत्यल्प है। उदाहरणार्थ—रेल, सड़क, मुशक, कुम्हार का आवा, बन्दूक, चाकू, बर्छी, आरी, तबला आदि।

पहेलियों के इस वर्गीकरण के अनन्तर हम यह देखते हैं कि इन पहेलियों का विषय वे ही वस्तुएँ हैं जो ग्रामीण जनता और उसके वातावरण में अति सामान्य हैं। सबसे अधिक पहेलियाँ घरेलू वस्तुओं पर प्राप्त होती हैं। भोजन-सम्बन्धी सामिग्री पर भी पहेलियाँ बहुलता में प्राप्त होती हैं। यदि भोजन-सम्बन्धी वस्तुओं को भी घरेलू वस्तुओं में मिला लिया जाय तो इन दो वर्गों का समूह इतना विशाल हो जाएगा कि ६६% पहेलियाँ इसी वर्ग में समाहित हो जाएँगी। व्यवसाय पर अत्यन्त

अल्प संख्या में पहेलियाँ मिलती हैं। कृषि-विषय पर भी पहेलियाँ कोई विशेष नहीं हैं। प्राणियों में जूँ पर पहेलियों की संख्या सर्वाधिक है।

कहावतें

कहावतें लोकसाहित्य का एक अन्य गतिशील विधात्मक रूप हैं। इनमें लोक-जीवन के अनुभव, ज्ञान, शिक्षाएँ आदि सूक्ति रूप में निहित रहते हैं। उद्भव की दृष्टि से कोई निश्चित मत प्रतिपादित नहीं किया जा सका है। किन्तु इनका जन्म और प्रयोग असंदिग्ध रूप से प्राचीन है। कहावतों का भण्डार ब्रज-लोकसाहित्य में प्रचलित किसी भी विद्या के कोष से निस्सन्देह अधिक विशाल है। स्थान-स्थान पर कहावतें सुनी जाती हैं। यह साहित्य नित्य गतिशील है—नई कहावतें जन्म लेती और चलती रहती हैं। ये मानवी ज्ञान के आसव-रूप हैं जो भावव्यंजक होने के कारण मर्म को भी स्पर्श करने की क्षमता रखती हैं। साधारण शब्दों में कहावत को चुभती हुई उक्ति कहा जा सकता है।

उपयोगिता की दृष्टि से कहावतों का वर्गीकरण—

ब्रज-प्रदेश में प्रचलित कहावतों में उपयोग के आधार पर चार वर्ग स्पष्ट रूप से निश्चित किए जा सकते हैं। चार भिन्न वृत्तियों के कारण ही चार भेद किए गए हैं। ये वृत्तियाँ ही कहावतों को उपयोगिता की दृष्टि देती हैं।

१. **पोषण-वृत्ति**—कोई व्यक्ति अपने निरीक्षण या सामान्य अनुभव के आधार पर किसी बात में विशिष्टता देखता है और अपनी मौलिकता को अभिव्यक्त किए बिना नहीं रहता, तब वह अपनी खोजी हुई विशिष्टता की पुष्टि किसी उक्ति द्वारा करता है। इस प्रकार वह अपने अनुभव को प्रमाणित करने की चेष्टा करता है। इन उक्तियों में सामान्य से विशेष की पुष्टि होती है। विशेष बात वह होती है जिसका वह अनुभव करता है और कहावत उसका सामान्य रूप होती है। इस प्रकार पोषण-वृत्ति द्वारा ही व्यक्ति अनुभव का सामान्यीकरण करता है। उदाहरणस्वरूप—गाय न बाछी नींद आवै आछी।

२. **शिक्षण-वृत्ति**—शिक्षण-वृत्ति के द्वारा कहावतों में किसी न किसी प्रकार की शिक्षा, नीति अथवा उपदेश का समन्वय कर दिया जाता है। इस प्रकार की कहावतों का उदाहरण वैसा ही है जैसे प्रायः यह कह दिया जाता है कि आम खाने से मतलब या पेड़ गिनने से। ब्रज की कहावत का उदाहरण है—"जहाँ की गैल नाँय चलनीं, वहाँ को कोस गिनिबे कौ कहा काम ?" या "गुन घटि गए गाजर खाएँ ते। बल बढ़ि गयौ बाल चबाए ते।"

३. **आलोचन-वृत्ति**—आलोचन-वृत्ति से संचालित कहावतें सामान्य आलोचना का बड़ा ही तीखा रूप होती हैं। जैसे—"बन्दर का जानें अदरक कौ सवाद",

"गदहाए दयी नोंन गदहा ने जानी मेरी आँख फोड़ी"। इनमें मूर्खता की आलोचना है। अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं—"उल्टा चोर कोतवालै डाटै" और "मारै और रोमन न दे।"

४. सूचन-वृत्ति—इन कहावतों में सूचना की वृत्ति होती है। ये ज्ञानवर्द्धक कहावतों का ही रूप होती हैं। जो बातें धारण करनी होती हैं, किन्तु जिनकी धारणा प्रायः नहीं रहती उन्हें स्मृत रखने का प्रयास इन कहावतों द्वारा किया जाता है। कहावत के रूप में वह बात सदा याद रहती है, वैसे सम्भवतः याद न भी रहे, जैसे—"बुद्ध बामनी शुक्र लामनी।" इन कहावतों में प्रायः ऋतु, खेत, व्यवसाय आदि की सूचना रहती है।

अन्य वर्गीकरण—

डॉ० सत्येन्द्र ने दो प्रकार के वर्ग निर्धारित किए हैं। पहला—जातिपरक कहावतें, और दूसरा विविध कहावतें।

(क) जातिपरक कहावतें[1]—

ब्राह्मण—बामन, कुत्ता, नाऊ, जाति देखि घुर्राऊ।
मरी बछिया बामन के सिर।
जो लौं गोकुल गोसाँई, तौ लौं कलजुग नाहीं।

बनियाँ—बनियाँ मित्र न वेश्या सती।
जाकौ बनियाँ यार, ताकूँ नहिं बैरी दरकार।
नीबू, बनियाँ, आमियाँ, मसके ही रस देंइ।

जाट— नट विद्या जानी पर जट-विद्या नाहिं जानी।
लाख जाट पिंगुन पढ़ै, एक मुच्च लागी रहै।
खानों खाइकें म्हानों, जिद्दी जाट कौ बानों।
जाट कहै सुन जाटिनी, याही गाम में रहनों,
ऊँट बिलाई लै गई तौ हांजी-हांजी कहनों।

नाई— नाऊ छत्तीसा।
नई नाइन बाँस कौ नहन्ना।

सुनार— सौ सुनार की एक लुहार की।

कुम्हार—कहूँ ते कुम्हार गधा पै नाँय चढ़ै।

माली— मालिन अपने बेरन कहूँ काँये बतावै।

तेली— तेलिया खसम करिकें का पानी ते हाथ धोवै।

कोरी— सत न पौनी, कोरिया तै लठमलठा।

---

1. ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन—डा० सत्येन्द्र—पृ० ५१५-५१७।

(ख) अन्य कहावतें—

ब्रज प्रदेश में अन्य प्रकार की कहावतों का भी प्रचलन है। डॉ० सत्येन्द्र ने इनके सात प्रकार माने हैं।[१]

(१) अनमिल्ला, (२) भेरि, (३) अचका, (४) औठपाव, (५) गहगड्ड, (६) ओलना, (७) खुंसि। इन सभी प्रकार की कहावतों की प्रमुख विशेषता है—इनकी पद्यबद्ध शैली।

१. अनमिल्ला—जैसा कि नाम से स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार की कहावतों में कई अनमेल कथनों का एक स्थान पर उल्लेख किया जाता है। इस प्रकार अनमिल्ला में असंगतता होती है। इस असंगतता का उल्लेख आश्चर्य की सृष्टि करता है। यही अनमिल्ला का उद्देश्य भी होता है। अनमिल्ला के पद्य के विषय में डॉ० सत्येन्द्र ने कहा है—"इसके प्रथम चरण में पद्यानुकूल गति रहती है किन्तु दूसरे चरण में प्रायः वह गति पंगु कर दी जाती है।"[२]

उदाहरण—"पीपर बैठी भैंसि उगारै, ऊँट खाट पै सोवै।
पीछें फिरि कें देखि लुगाई, अँगियाऐ कुत्ता धोवै॥"
"गोरी के नैंना बने, जैसे बरध को सींग।
उठाय भीति में घूँस दिए, मरि मेरे ससुर कुम्हार॥"

२. भेरि—सामान्यतः इनमें ऐसी बात का समावेश रहता है जो समाज की दृष्टि से अवाञ्छनीय होती है। 'भेरि' में अन्तिम पंक्ति सदैव एक ही रहती है—

उदाहरण—"राँड़ मारि ने पहर्‌यौ काँचु।
अब मति जानौ वाकौ साँचु॥
सासू पहरि पैंठ कू गई
गड़ुवा गड़त भेरि है गई।"

३. अचका—अनमिल्ला की भाँति अचका में भी अद्‌भुत भाव की व्यंजना होती है, किन्तु इसकी सृष्टि असंगति से नहीं होती। नजाकत में कल्पना के योग से होती है। यह नजाकत भी अति के कारण ही अचका बनती है। किन्हीं-किन्हीं 'अचकों' में भाव की सुकुमारता के स्थान पर फूहड़पन भी मिलता है।

उदाहरण— "पीपर पैते उड़ी पतँग, औ कहूँ लागि जाए मेरे अंग,
मैंने दें दई बखुर किंवार, नाहिं उड़ि जाती कोस हजार।"
'मेरी परौसिनि कूटै धान, भनक परि गई मेरे कान,
बाइ पर्‌यौ चानन कौं लालौ, मेरे हाथनु परि गयौ छालौ।"

१. ब्रज-लोकसाहित्य का अध्ययन—डॉ० सत्येन्द्र—पृ० ५३७-५४२।
२. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (सोलहवां भाग)—पृ० ३५६।

४. औठ पाव—'भेरि' की भाँति ही इनकी भी अन्तिम अर्द्धाली एक सी ही होती है, वह है—'जिही मरिबे के औठपाए'। औठपाए में वस्तु की दृष्टि से उन परिणामों का दिग्दर्शन कराया जाता है जो किसी कार्य को समझते-बूझते हुए करने पर निकलता है।

उदाहरण— "एक आँखि तौ कूआ कानी दूसरी लई मिचकाइ,
भीति पै चढ़ि कैं दौरन लाग्यौ जेई मरिबे के औठपाए।"

५. गहगड्ड—गहगड्ड का अर्थ आनन्द से है। इनमें अन्त में 'मचै गहगड्ड' आता है जिससे 'सुख' की भावना की अभिव्यक्ति होती है। 'गहगड्ड' में दो व्यक्तियों की परस्पर संक्षिप्त वार्ता होती है। एक ओर से कुछ सुझाव रखे जाते हैं जिनसे पहला व्यक्ति सोचता है—आनन्द आएगा, किन्तु दूसरा उसे अस्वीकृत करके अपनी अभिरुचि प्रकाशित करता है जिससे उसके लिए आनन्द आए।

उदाहरण— "किनक कटोरा ध्यौ घना, गुर बनिए की हट्ट।
तपूँ रसोई जेऔ मुसाफिर, औ माचै गहगड्ड।
—नहीं गहगड्ड, नहीं गहगड्ड।
सेत फूल हरिआई डंडी, औ मिरचौं के ठट्ट।
हम घोटें तुम पियौ मुसाफिर, यौं माँचै गहगड्ड।
—मचै गहगड्ड, मचै गहगड्ड।

६. ओलना—'गहगड्ड' की भाँति सुख की कल्पना 'ओलना' में भी निहित रहती है, किन्तु इसमें एक ही व्यक्ति की उक्ति रहती है और वह उन स्थितियों का वर्णन करता है जो सुख प्रदायक हो सकती हैं। अन्तिम पंक्ति इसकी भी प्रायः एक-सी ही होती है।

उदाहरण— "रिमझिम बरसै मेह कि ऊँची रावटी,
कामिनी करै सिंगार कि पहरैं पामटी,
बारह बरस की नारि गरे में डोलना,
इतनौ दे करतार फेरिना बोलना।"

७. खुँसि—'भेरि', 'औठपाए' एवं 'ओलना' की भाँति इसमें भी अन्त की अर्द्धाली का स्वरूप निश्चित रहता है—'खुँसि ऊपर खुँसि तीन'। 'खुँसि' में स्वाभाविक दोषों की गणना होती है तथा उसके तीन दोष बताए जाते हैं।

उदाहरण— "एक तौ लँगड़ी घोड़ी,
दूजी कानें चाल थोड़ी,
तीजें जाकौ फाट्यौ जीन,
खुँसि ऊपर खुँसि तीन।"

१२ | लोकसाहित्य का काव्य-वैभव

लोकसाहित्य के काव्यत्व के सम्बन्ध में पं० रामनरेश त्रिपाठी के विचार द्रष्टव्य हैं—"(लोक) गीतों में कवित्व है, उसे ही मैं अपनी लेखनी-द्वारा प्रकट करने में समर्थ हुआ हूँ। पर ये गीत जब स्त्री-कंठ से निकलते हैं, तब इनका सौंदर्य, इनका माधुर्य और इनका उन्माद कुछ और ही हो जाता है। इससे गीतों का आधे से अधिक रस तो स्त्रियों के कंठ ही में रह गया। खेद है, मैं उसे कलम की नोंक द्वारा अपने पाठकों तक नहीं पहुँचा सका। यूरोप में यह काम फोनोग्राफ के रिकोर्डों से लिया जाता है। विधाता ने स्त्रियों के कण्ठ में जो मिठास रख दी है, जो लचक भर दी है, उसे मैं लोहे की लेखनी में कहाँ से ला सकता हूँ।"

आगे उन्होंने लिखा है—"जब गृह-देवियाँ एकत्र होकर पूरे उन्माद के साथ गीत गाती हैं, तब उन्हें सुनकर चराचर के प्राण तरंगित हो उठते हैं। आकाश चकित सा जान पड़ता है, प्रकृति कान लगाकर सुनती हुई-सी दिखाई पड़ती है। मैं एक अच्छे अनुभवी की हैसियत से अपने उन मित्रों से, जो कौवाली और टप्पे सुनने को बाहर मारे-मारे फिरते हैं, सानुरोध कहता हूँ कि लौटो, अपने अन्तः पुरों को लौटो। कस्तूरी-मृग की तरह सुगन्ध-स्रोत की तलाश में कहाँ फिर रहे हो? स्वर का सच्चा सुख तुम्हारे अन्तः पुर में है। वहाँ की हृत्तन्त्री का तार जरा अपने मधुर वचनों से छू दो, फिर देखो, कैसा सुखमय जीवन जाग उठता है।"[१]

पं० रामनरेश त्रिपाठी के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि लोकगीतों का सौंदर्य एव माधुर्य आधे से अधिक नारी-कंठ में विद्यमान रहता है। अतः जो लोकगीत लिपिबद्ध किए गए हैं उनमें उतना सौंदर्य एवं माधुर्य नहीं मिलता। अतः लिपिबद्ध लोकसाहित्य के आधार पर इनके काव्यत्व का अध्ययन पूर्ण नहीं हो सकता। एक बात मैं और यहाँ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। हमारे यहाँ काव्य के परीक्षण के जो मानदंड हैं सब शिष्ट-साहित्य सम्बन्धी हैं। जैसे रस, अलंकार, रीति, ध्वनि वक्रोक्ति तथा रागतत्त्व, कलातत्त्व, कल्पनातत्त्व, शैलीतत्त्व आदि। इनके शिष्ट-साहित्य

१. कविता-कौमुदी (५वाँ भाग)—पृ० ६३-६४।

का तो परीक्षण संभव है परन्तु लोकसाहित्य का पूर्ण परीक्षण हमें इन मानदंडों से असंभव जान पड़ता है। क्योंकि लोकसाहित्य (लोकगीतों) का आनन्द तो हम लोक-गायकों के कण्ठ से निसृत ध्वनियों के उतार-चढ़ाव के आधार पर प्राप्त करते हैं। इन उतार-चढ़ावों को लिपिबद्ध करना कठिन ही नहीं असम्भव है। शिष्ट-साहित्य में यह कठिनाई नहीं होती। वहाँ तो साहित्य पूर्ण लिपिबद्ध है। इसके अतिरिक्त कण्ठ की मधुरता रसपरिपाक में अत्यधिक सहयोग प्रदान करती है। लोकगीतों को सुनकर जितना आनन्द प्राप्त होता है उतना उन गीतों को लिपिबद्ध रूप में पढ़कर नहीं होता। इसी प्रकार की कठिनाई हमें इन गीतों के परीक्षण के सम्बन्ध में भी मिलती है।

स्वाभाविकता—

लोककाव्य में मानव-हृदय का शुद्ध प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है। लोक-मानव सभ्यता से दूर रहने के कारण जितना सहज एवं स्वाभाविक बना रहा है उतना शिष्ट-मानव नहीं। क्योंकि सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ स्वाभाविकता का ह्रास होता चला जाता है। सभ्यता का सम्बन्ध मस्तिष्क से है और स्वाभाविकता का हृदय से। यही कारण है कि सभ्य समाज की कविता सभ्य रही और गाँव की कविता अधिक स्वतन्त्र और स्वाभाविक। अतः आजकल जिसे सभ्यता कहा जाता है वह वास्तव में अस्वाभाविकता का दूसरा नाम है।

इस नगर की सभ्यता से दूर गाँवों तथा असभ्य जनों के कण्ठों में निवास करने के कारण लोककाव्य में अत्यधिक स्वाभाविकता देखने को मिलती है। यही कारण है कि लोककाव्य अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। इतना ही नहीं जिस काव्य में जितनी अधिक स्वाभाविकता होगी वह काव्य उतना ही लोकप्रिय होगा, चाहे वह नगर का हो या ग्राम का। अपनी स्वाभाविकता के कारण ही वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, सूर तथा तुलसी समाज में अधिक लोकप्रिय एवं प्रतिष्ठावान् रहे हैं। फिर लोकगीतों में तो स्वाभाविकता कूट-कूट कर भरी है। इसमें अस्वाभाविकता नहीं मिलती। विद्वानों ने लोककाव्य की आत्मा उसकी सरलता, सरसता तथा स्वाभाविकता को माना है। लोककाव्य और अलंकृत (शिष्ट) काव्य में मूलतः यही भेद है। लोककाव्य रसप्रधान काव्य है परन्तु रस की सृष्टि के लिए उसमें विभाव, अनुभाव तथा संचारियों की आवश्यकता नहीं होती। रस की उत्पत्ति तो इसमें स्वतः होती है। इसी प्रकार लोककाव्य में अलंकारों का स्वाभाविक तथा अनायास प्रयोग हुआ है। तुक और छन्द का बन्धन भी लोककाव्य को बेड़ियों में नहीं बाँध सका। लय अवश्य ही लोककाव्य का प्रधान गुण माना जा सकता है। यही वह तत्त्व है जो लोककाव्य को संगीतमय बना देता है।

लोककाव्य में अनेक स्वाभाविक वर्णन नितान्त स्वाभाविक शैली में प्राप्त होते हैं। मनोभावों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी अनेक गीतों में मिल जाती है। उदाहरण के लिए यह गीत देखिए—

सावन के महीने में आकाश में आच्छादित घटा को देखकर एक पति को अपनी वियोगिनी पत्नी की याद आ जाती है। वह पत्नी से मिलने घर आता है परन्तु वहाँ उसकी पत्नी द्वार बन्द कर सो रही थी। वह द्वार खटखटाता है तब पत्नी पूछती है—तुम कुत्ते हो या बिल्ली या मेरे ससुर के पहरेदार ? तब पति कहता है—

ना हम कुकुर बिलरिया न ससुर पहरिया।
धन ! हम अही तोहरा नयकवा बदरिया बुलाएसि।

(न मैं कुत्ता हूँ, न बिल्ली और न तुम्हारे ससुर का पहरेदार। हे प्रियतमे ! मैं तुम्हारा पति हूँ। मुझे घटा बुला लाई है।)

'बदरिया बुलाएसि' में कितनी स्वाभाविकता है ! कितना माधुर्य है ! हृदय का कैसा सुन्दर चित्र है !

ऐसे न जाने कितने उदाहरण लोकगीतों में बिखरे पड़े हैं।

रस-परिपाक—

लोकगीतों में रस-परिपाक पूर्णरूप से हुआ है। प्रत्येक गीत रस से सराबोर है। प्रत्येक गीत की स्थिति 'बोरत लो बोर्‌यो पै निबोरत बनै नहीं' की भाँति है। लोकगीत रस से लबालब भरा ऐसा प्याला है जिसको पीने से प्यास बुझने के बजाए और बढ़ती है। यह एक ऐसी अविच्छिन्न प्रवहमान् सरिता है जो अपने किनारों की भूमि तथा वृक्षों को रससिक्त कर सदा हरा-भरा बनाए रखती है। "लोकगीतों की पयस्विनी जिस प्रदेश से प्रवाहित होती है वह अपने तट पर स्थित वृक्षों को ही जीवन-प्रदान नहीं करती बल्कि उसका शीतल प्रवाह सभी जनों को समान भाव से आनन्द प्रदान करता है। अपनी इसी रसात्मकता के ही कारण लोकजीवन से सम्बन्धित ये गीत मानव-हृदय को इतना 'अपील' करते हैं। शुष्क-हृदय भी इनको एक बार पढ़कर आर्द्रचित्त हुए बिना नहीं रह सकता।"[1]

लोकगीतों में प्रायः सभी प्रकार के रस पाए जाते हैं परन्तु प्रधानता वात्सल्य, शृंगार एवं करुण रस की ही है।

वात्सल्य—

पुत्र-जन्म की उत्पत्ति पर लोकमानस ने अपने हर्षोल्लास को अनेक माध्यम से अभिव्यक्त किया है। ब्रज के लोकगीतों में कृष्णजन्म के अवसर पर वात्सल्य की

1. लोकसाहित्य की भूमिका—डा० कृष्णदेव उपाध्याय—पृ० २६१।

जो अभिव्यक्ति हुई है वह अन्यत्र दुर्लभ है। यशोदा की हर्ष, उत्साह, भय, चिन्ता आदि भावनाएँ अनेक गीतों में उपलब्ध होती हैं। कृष्ण के मिट्टी खाने पर माता का सहज 'क्रोध', यमुना में कूद पड़ने पर 'भय' और चिन्ता, कृष्ण की दैनिक परिचर्या मे 'उत्साह' आदि भावनाएं माता के नैसर्गिक प्रेम की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। पुत्र कृष्ण को नजर लग जाने पर माता की सहज चिन्ता एवं आकुलता इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

काहू जोगिया की नजर लगी है, मेरो कारो कन्हैया रोवै री।
घर-घर हाथ दिखावे जसोदा, बार-बार मुख जोवै री।
राई-नोन उतारे जसोदा, दूध पिवै नहिं सोवै री।
मेरी गली एक आयो जोगिया। अलख-अलख कहि बोलै री।

घर घर हाथ दिखाना, बार-बार मुख जोहना, राईनोन उतारना आदि माता की आकुलता की कितनी स्वाभाविक अभिव्यक्तियाँ हैं।

श्रृंगार—

लोकगीतों में श्रृंगार के दोनों रूपों (संयोग एवं वियोग) का जो स्वरूप मिलता है वह नितान्त ही पवित्र, मार्मिक एव सयत है। श्रृंगार का स्थायी भाव प्रेम या रति है। लोक में रति का सामान्यतया अर्थ स्त्री-पुरुष के प्रेम से ही लगाया जाता है। वास्तव में काम का शरीर में अंकुरित होना 'श्रृंग' कहलाता है। उसकी उत्पत्ति का कारण, अधिकाश उत्तम प्रकृति से युक्त रस 'श्रृंगार' कहलाता है। स्त्री-पुरुष के प्रेम का वर्णन ही इसमें मुख्य रहता है। कभी स्त्री-पुरुष मिलते हैं तो कभी किसी कारणवश वे परस्पर बिछुड़ते भी हैं। ऐसी स्थिति में उनके मानसिक विकारों में भी परिवर्तन आ जाता है। इसमे इसके दो पक्ष स्वीकार किए गए है—संयोग और वियोग।

संयोग-श्रृंगार के अन्तर्गत नायक एवं नायिका के प्रेमपूर्ण कार्यों का, उनके रूप-सौंदर्य का, परस्पर वार्ता का, दर्शन-स्पर्श का वर्णन आता है। लोकगीतों में श्रृंगार-रस का स्वरूप अत्यन्त उज्ज्वल रूप में मिलता है। उसमें कही भी वासना की गंध नहीं मिलती और न ही अश्लील एवं कुरुचिपूर्ण प्रदर्शन। यहाँ तो प्रेम का सहज एवं स्वाभाविक रूप ही देखने को मिलता है।

एक स्त्री पनघट पर जाती है वहाँ उसका पति उसे मिल जाता है। वह उससे बातें करना चाहता है। परन्तु उस स्त्री के साथ उसकी ननद भी है। वह बातें करे तो कैसे करे? एक ओर पति का आतुर आग्रह दूसरी ओर लाजभरी विवशता—

पनिया भरने चली बाँकी रंसीली।
घैड़े कों उतार गोरी कूएँ पै रख दी

'हमसे करो दो एक बातें रसीली ॥ (पनिया०)
बातें तो राजा कैसे करूँ मैं,
छोटी ननदिया मोरे संग में रमीली ॥ (पनिया०)

और अन्त में पति की अभिलाषा अपूर्ण ही रह जाती है। दोनों इच्छुक, संयोग अनुकूल, परन्तु कम्बख्त ननद ने सारी आशाओं पर पानी फेर दिया—अब दोनों विवश। अपने-अपने मन को मार चुप-चाप चल देते हैं।' यह है श्रृंगार का भव्य, एवं पावन रूप।

पति पत्नी को हृदय से चिपकाए सो रहा है। इतने में बालक रो पड़ता है। पत्नी पुत्र स्नेह से विचलित हो जाती है। वह पति से करवट लेने का आग्रह करती है और किवाड़ खोलने को कहती है जिससे वह बालक को चुप करा सके। परन्तु पति सुख में मस्त है। वह नहीं उठता और न करवट ही लेता है। पत्नी की कितनी विचित्र स्थिति है—

पवन झड़ लागी हो धीरे-धीरे ॥
सो राजा मोरे खोलो न अजड़ किवरिया।
कलेजा पड़ा कांपे हो धीरे-धीरे ॥
सो राजा मोरे ले लो न तुम करवटिया।
ललन पड़ा रोवे हो धीरे-धीरे ॥
अरी गोरी मेरी हम न लें करवटिया।
ललन पड़ा रोओ हो धीरे-धीरे ॥

कैसी विडम्बना है! भाव संधि कहें या कुछ और पर है बिल्कुल यथार्थ वर्णन!

रति को उद्दीप्त करने के लिए रूप का चित्रण अत्यन्त आवश्यक होता है। लोकगीतों में—विशेषकर ब्रज के—कृष्ण एवं राधा के सौंदर्य का चित्रण अधिक हुआ है। ब्रज के होली गीतों में राधा तथा गोपियों के रूप का वर्णन अत्यधिक हुआ है। राधा का रूप अब छुपाए नहीं छुपता। घूँघट की ओट उस की कांति को रोकने में असमर्थ है—

रूप दुरै किहि भाँति री, तू कहै क्यों न सजनी।
घूँघट में न छिपात सखी, मेरे गोरे बदन की कान्ति री।
बरज रही बरज्यौ ना मानै, कौन दई संजोग री।
मैं तरुणी अरु या ब्रज के सब बावरे लोग री ॥

राधा और कृष्ण के रूप-सौंदर्य के विषय में जो कल्पना की गई है उसमें अवस्था एव परिस्थिति-भेद से विविधता आगई है। ऐसे गीत जीवन से इतने संपृक्त हैं कि इनमें रूप अथवा प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रणों की अपेक्षा नहीं रही है। "साहित्य

के बिम्ब-विधान और आलम्बन तथा उद्दीपन-विभावों के अंकन में इसकी आवश्यकता होती है। पर लोकगीतों में आलम्बन-रूप, रूप-सौंदर्य तथा उद्दीपन-रूप, प्रकृति-सौंदर्य लोकभावना में प्रत्यक्ष विद्यमान रहता है। लोकभावना इस प्रत्यक्ष और सम्पर्कित को केवल संकेतों, रेखाओं और बिम्बों में ग्रहण करके अधिकांश को कल्पना और प्रत्यक्ष में सवेदित करने में समर्थ हो जाती है। इन संकेतों में प्रत्यक्षानुभव की शक्ति, रेखाओं में तीखेपन की मार्मिकता और बिम्बों में कल्पना को उत्तेजित करने की शक्ति अवश्य रक्षित होती है।''

लोकगीतों में संयोग श्रृंगार की अपेक्षा वियोग श्रृंगार की अधिकता दृष्टिगोचर होती है। वियोग का जैसा मार्मिक, सहज एवं हृदयस्पर्शी चित्र लोकगीतों में देखने को मिलता है वैसा अलकृत साहित्य में दुर्लभ है। कजली और बारहमासे में लोककोकिला का स्वर हृदय-विदारक हो उठा है। प्रकृति इन भावनाओं को उद्दीप्त करने में पूर्ण समर्थ है। सावन का महीना आगया। सारी कामिनियाँ मल्हार गारही हैं। घनघोर घटा आकाश मे घुमड़ रही है। पपीहा बागों में शोर मचा रहे हैं। किसी बन में मोर भी चिल्ला रहे हैं। कोयल कूक रही है। परन्तु राधा अभागिन बैठी रो रही है। उसकी व्याकुलता बढ़ती जारही है। रह-रह कर हृदय में 'मरोर' उठती है—

> सामन महीना मल्हार गावें कामनी जी, एजी कोई घटा उठति घनघोर।
> पपिहा पी-पी करै 'थेरी बाग' में जी, एजी कोई बन में कोहकत मोर।
> आंम की डारन बैठी कुहलिया जी, एजी कोई करत निराले सोर।
> राधा अभागिन घर बैठी रोवती जी, एजी कोई आए न नन्द किसोर।
> को समुझावै व्याकुलता बढ़ि रही जी, एजी कोई रहि-रहि उठत मरोर।

कृष्ण नहीं आते, न आएँ। उनका यह दुःख तो सहनीय है परन्तु इससे कहीं घातक बात यह है—

> कूबरी कन्हैया जी के मन बसी।
> बैठि रहत निकट जमुना के चन्दन खौरि दिए खासी।
> अपनो उदर भरन की खातिर, मोहि लिया है ब्रजवासी॥

अनेक लोकगीत ऐसे हैं जिनमें प्रकृति उद्दीपन-विभाव के रूप में आई है। ऋतुसम्बन्धी परिवर्तनों और रूपों से लोकगीतों में मानवीय भावों को अधिक उत्प्रेरित एवं संवेदित किया गया है। परन्तु इन गीतों में कवि-परिपाटी वाले उद्दीपन ही नहीं गिनाए गए वरन् दैनिक जीवन में दृष्टिगोचर होने वाली वस्तुओं का भी उपयोग किया गया है। स्पष्ट है कि इन गीतों में रस के उपादान लोकाभिमुख हैं। वे स्वतन्त्र हैं, नवीन हैं, मौलिक भी। किसी परम्परा या परिपाटी से बँधे नहीं हैं।

करुण—

शृंगार के अतिरिक्त लोकगीतों में करुण रस की मात्रा अत्यधिक रूप में उपलब्ध होती है। जन्म से लेकर मृत्यु तक कई ऐसे अवसर आते हैं जहाँ हम इस करुण रस की सरिता को उद्दाम रूप से प्रवहमान देखते हैं। करुणा की प्रतिमूर्ति नारी के ही अवरुद्ध कण्ठ से ऐसे गीत निकले हैं जिनमें उनके जीवन की दुखभरी कहानी सुनने को मिलती है। नारी के जीवन में विशेष रूप से तीन अवसर ऐसे आते हैं जब उनके हृदय पर गहरी चोट लगती है—(१) बिदाई, (२) वियोग तथा (३) वैधव्य। वे तीनों अवसर ऐसे हैं जहाँ नारी के सुखमय जीवन का अन्त होता है और दुखमय जीवन का प्रारम्भ होता है। उनके जीवन का मादक वसन्त पतझड़ में परिवर्तित हो जाता है।

बिदा के अवसर पर लड़की अपने माता-पिता के घर को छोड़कर ससुराल चली जाती है। यह समय अत्यन्त ही करुणाजनक होता है। माँ-बाप के लाड़भरे लालन से पल्लवित कन्या एक अजनबी के हाथ सौंप दी जाती है। अनजान घर, अनजाने से लोग। अपने पिता के घर की याद कर उसका हृदय द्रवित हो जाता है, आँखों से आँसुओं की धार बह निकलती है। ऐसी स्थिति पर केवल स्त्रियों की ही नहीं वरन् पुरुषों की दशा भी अत्यन्त करुणास्पद हो जाती है। ऐसे अवसर पर बड़े-बड़े धीर पुरुषों का धैर्य भी टूट जाता है।

"एक भोजपुरी गीत में बेटी की विदाई के समय माता-पिता के रोने का पारावार नहीं है। पिता के लगातार रोने के कारण गंगा में बाढ़ आ गई है। माता के अश्रुपात के कारण उसकी आंखों के आगे अँधेरा छा गया है। भाई के रोने से उसकी धोती पैर (चरण) तक भीग गई है परन्तु भावज की आँखें गीली भी नहीं हुई है—

बाबा के रोवले गंगा बढ़ि अइली,
आमा के रोवले अन्होर।
भइया के रोवले चरन धोती भीजें,
भऊजी नयनवा ना लोर॥

इस छोटे गीत में करुण रस का सागर हिलोरे मार रहा है जिसमें सहृदय पाठक अपनी सुधि-बुधि खोकर भावमग्न हो जाते हैं।[१]

वास्तव में बिदा के गीत अत्यन्त मार्मिक होते हैं। इन गीतों में माता-पिता, भाई आदि लड़की के पीहर के लोगों की विविध द्रावक मनोवृत्तियों का चित्र उपलब्ध

१. लोकसाहित्य की भूमिका—कृष्णदेव उपाध्याय—पृ० २६५।

होता है। ब्रज के एक लोकगीत में इसी प्रकार की मनोवृत्तियों का हृदय-द्रावक चित्र प्रस्तुत किया गया है—

औरे के कौरे गुडिया ओ छोड़ी।
रोमत छोड़ी सहेली री।
× × × ×
मेरौ सब दुख रिति गयौ पेटु।
मैं हा फिर नहिं जनमुंगी धीअ।
मेरी धीअरि जमैया लै गयौ॥

बिदा के गीतों के अतिरिक्त वैधव्य के गीतों में करुणा की पराकाष्ठा देखने को मिलती है। बाल-विधवाओं की मनोवेदना का चित्रण जिन गीतों में हुआ है उनमें विधवाओं की सरलता, भोलापन तथा निरीह वेदना अत्यन्त ही हृदय-विदारक बन गई है।

एक बालविधवा अपने पिता से प्रश्न करती है कि "आपने मेरी शादी किस लिए की ? मेरा गौना कब किया ? मेरा सिर सिन्दूर के बिना रोरहा है और आँखें काजल के बिना बरस रही हैं। मेरी गोद बालक के बिना रोरही है और सेज पति के बिना रोरही है—

बाबा सिर मोरा रोवेला सेनुर बिनु,
नयना कजरवा बिनु ए राम।
बाबा गोद मोरा रोवेला बालक बिनु,
सेजिया कन्हइया बिनु ए राम॥[१]

वीर—

'आल्हा' और 'लुरकी' जैसे काव्यों में वीररस के पर्याप्त उदाहरण मिल जाते हैं। ये वीररस के ऐसे अनूठे काव्य हैं जिन्हें पढ़कर बूढ़ों की सूखी धमनियों में भी गर्म रक्त का संचार हो उठता है। 'आल्हा' की प्रत्येक पंक्ति वीर रस से भरी हुई है।

शान्त—

संतों के पदों में, निर्गुनी गीतों में तथा अनेक भजनों में शान्त रस की प्रधानता है। ईश्वर को पति तथा अपने को स्त्री मानकर अपनी अनुभूतियों को कई गीतों में चित्रित किया गया है। संसार की नश्वरता, ब्रह्म की सत्यता, माया आदि पर जो गीत उपलब्ध होते हैं उनमें शान्त रस की झाँकी देखने को मिल जाती है।

---

१. लोकसाहित्य की भूमिका—कृष्णदेव उपाध्याय—पृ० २७०।

हास्य—

लोकगीतों में स्थान-स्थान पर हास्य का पुट भी पाया जाता है। ऐसे गीतों का हास्य ग्रामीण अवश्य है पर ग्राम्य नहीं। विवाह के अवसर पर अनेक परिहास गीत गाए जाते हैं। इनमें निहित कटीला व्यंग पाठकों पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। शिव जी के विवाह के गीतों में पार्वती द्वारा वर्णित शिव के रूप को सुनकर खूब हँसी आती है। लोकगीतों का हास्य अनगढ़, भौंडा तथा अश्लील एवं कामुक नहीं है। इनमें जीवन है और जीवन को जिलाने वाली हँसी।

अलंकार-योजना—

लोकगीतों में अलंकारों का प्रयोग शिष्ट-साहित्य के समान सायास नहीं होता। लोकगीतों में तो इनकी योजना स्वतः स्वाभाविक रूप में होती है। चमत्कारिक, गूढ़ार्थ व्यंजक तथा संकर अलंकारों की अपेक्षा रूपक, उपमा, श्लेष, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार ही अधिक उपलब्ध होते हैं। वास्तव में लोककवि अलंकारों के चमत्कार के पचड़े में नहीं पड़ता। वह परिसंख्या और परिकर से परे होता है। लोककवि जिन अलंकारों को प्रयुक्त करता है उनमें एक विचित्र सरलता, स्वाभाविकता, नवीनता तथा मौलिकता है जो शिष्ट-साहित्य में प्रयुक्त अलंकारों में उपलब्ध नहीं होती।

डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने लोकगीतों में प्रयुक्त अलंकार-योजना की विशेषताओं की ओर संकेत किया है। उन्होंने लोकगीतों में अलंकार-योजना की चार विशेषताएँ बताई हैं जो इस प्रकार हैं[१]—

(१) लोकगीतों में अलंकारों का सन्निवेश अनायास ही होता है। लोककवि जानबूझकर अलंकारवादी कवियों की भाँति अलंकारों का प्रयोग नहीं करता।

(२) लोकगीतों में अलंकार-विधान की दूसरी विशेषता इनकी मौलिकता है। लोककवि ने परम्परा युक्त अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है।

(३) लोककवि ने ग्रामीण वातावरण से ही उपमानों का चुनाव किया है।

(४) लोकगीतों में प्रयुक्त अलंकार-योजना की चौथी विशेषता आकृति-साम्य है। अर्थात् लोककवि उपमानों का चुनाव करते समय उपमेय की आकृति का अनुकरण करने वाले उपमान को ही स्थान या महत्त्व देता है।

उपमा—लोककवि ने उपमा का प्रयोग स्वाभाविक एवं सहज रूप में किया है। उपमान लोक से ही चुने गए हैं। लोक से उपमान चुने जाने पर भी सौंदर्य में किसी प्रकार की कमी नहीं आने पाई है—

कन्हैया फूल गुलाब राधे रंगा भरी।
पान तैं पतरी हरद तैं पियरी,

---

१. लोकसाहित्य की भूमिका—पृ० २५६-२५७।

भौं पतरी सुत डार,
पेरें नथ बुलरी। कन्हैया०।

यहाँ राधा को पान के समान पतली तथा हरद के समान पीतवर्णा बताया है। उसकी भौंहों को झुकी हुई कोमल डार के समान बताया है। इस प्रकार उपमान लोक के साथ-साथ प्रकृति से भी लिए गए हैं।

एक मैथिली लोकगीत में प्राकृतिक वस्तुओं को उपमान के रूप में बडी सुन्दर तथा भावोद्बोधक रूप में प्रयुक्त किया है—

बाँस कोंपर सन भाय हम तेजल,
कमल फुलसन बाप,
पुरइन दहसन माय हम तेजल,
छुटि गेल बाबा केर राज।

बाँस की कोंपर के समान भाई को, कमल के फूल के समान पिता को, तथा पुरइन से हरेभरे सरोवर के समान माता को छोड़कर बाबा के सुखमय राज्य से मेरा बिछोह हो गया है। साधारण जीवन से ली गई ये उपमाएँ कितनी काव्यात्मक हैं।

रूपक—

माटी केर दियरा, पटम्बर सुत बाती,
नेहवा के तेलवा जरै सारी रात।

मिट्टी का दीपक है जो शरीर के रूप में है, रेशम की बाँती मन के भावों के रूप में है और प्रेम रूपी उसमें तेल है।

श्लेष—

रसवा के भेजलों भँवरवा के सेमियाँ,
रसवा ले अइले हा थोर।
यतनाइ रसवा में केकरा के बँटबो,
सगरी नगरी हित मोर।

मैंने भ्रमर को रस लेने के लिए भेजा था लेकिन वह थोड़ा ही रस लेकर आया। मेरे पास थोड़ा ही रस है, मैं किसे-किसे दूँ, क्योंकि गाँव के सभी लोग मेरे हितू हैं। यहाँ 'भ्रमर' से तात्पर्य पति तथा 'रस' से तात्पर्य प्रेम से है।

भाषा—

लोकगीतों में कृत्रिमता का नितान्त अभाव है। यही कारण है कि इनमें पद-विन्यास या शब्द सरल, सीधे-सादे तथा ग्रामीण हैं। इन गीतों में मधुरता कूट-कूट कर भरी है। प्रत्येक शब्द अपना एक विशेष अर्थ रखता है। प्रत्येक शब्द अपनी

व्यंजना से रस को पुष्ट कर जनसाधारण के लिए बोधगम्य बना देता है। अतः सबसे अधिक ध्यातव्य वस्तु शब्दार्थ-माधुरी ही है।

लोकगीतों में कोमलकान्त-पदावली का सुन्दर व्यवहार हुआ है। पदावली इतनी गठित होती है कि इसमें से किसी शब्द को अलग नहीं किया जा सकता। शब्द लय के अनुसार ही गठित तथा जड़े गए हैं। उनका अपना संगीत की दृष्टि से एक विशेष मूल्य भी है। कहीं भी कर्णकटु शब्दों का प्रयोग नहीं। प्रत्येक शब्द में ग्रामीण-जीवन की गहराई है, वेदना की व्यापकता है। अतः शब्दावली आडम्बर-हीन है।

शब्द-चयन, शब्द-शक्ति तथा अभिव्यंजना-प्रणाली की दृष्टि से लोकगीतों का महत्त्व कम नहीं है। लोकगीतों में शब्द शक्तियों (लक्षणा तथा व्यंजना) का प्रयोग शब्द और अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए नहीं होता वरन् भावगम्य बनाने के लिए होता है।

छन्द—

लोककवि पिंगलशास्त्र को सामने रखकर अलंकार व छन्द का विधान नहीं करता और न वह जगण, मगण की भूल-भुलैयों में पड़ता है। उसके छन्द सरिता के किनारों की भाँति है जो कहीं सँकरे कहीं फैले हैं। सरिता की सहज गति को जैसे उसके किनारों ने बाँध रखा है वैसे ही लोक की सहज भावनाओं को इन छन्दों ने बाँध रखा है। बाँधने में कोई जानबूझ कर प्रयत्न नहीं किया गया। किसी प्रकार का बाँध या पाट सहज गति को रोकने के लिए नहीं बनाया गया। वह तो स्वयं बन गया, लय तथा गायन सुविधा के आधार पर।

लोकगीतों की प्रमुख विशेषता उसकी भावव्यंजना है छन्दविधान नहीं। भाव-व्यंजना के आधार पर ही छन्दों का प्रयोग हुआ है। छन्दों से अधिक ध्यान लय पर दिया गया है। अनेक गीत ऐसे हैं जिनमें न तो मात्रिक छन्द हैं और न वर्णिक ही। लय ही जनताश्रित होती है। हाँ, कुछ रूप ऐसे हैं जिनमें विशेष भावनाओं की अभि-व्यक्ति विशेष छन्दों मे ही मिली है। विप्रलम्भ का वर्णन विशेष कर जाँत के गीतों में हुआ है जो अधिक लम्बे हैं। वीरता एवं साहस को अभिव्यक्ति 'आल्हा' में मिली है। अब 'आल्हा' एक छन्द विशेष हो गया है। हास्य के लिए 'दोधक' छन्दों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार छन्दों पर विशेष ध्यान लोकगीतों में नहीं दिया गया। तुक और लयों पर ही विशेष बल दिया गया है।

ध्वनिवाद की दृष्टि से लोकगीतों का अध्ययन—

ध्वनिसिद्धान्त के अनुसार काव्य में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के अलावा एक और तीसरी शक्ति—व्यंग्यार्थ की मान्यता स्वीकार की गई है। जिस काव्य में

व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारक हो, उसे ध्वनि कहते हैं और इसी को उत्तम काव्य की संज्ञा दी गई है। आनन्दवर्धन का कहना है कि ध्वनि के अन्तर्गत रस, गुण, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति आदि सभी आ जाते हैं। रस, रसाभास, भाव, भावाभास, उदय, शबलता, सन्धि आदि रसतत्त्व भी ध्वनि के अन्तर्गत ही हैं। रस भी व्यंग्य ही है। उसे कहा नहीं जाता। शब्द का अर्थ तो सभी को मालूम हो हो जाता है परन्तु शब्द के अतिरिक्त जो अर्थ है—प्रतीयमान, जब उसका ज्ञान पाठकों को हो जाता है तो उन्हें एक विलक्षण आनन्द का अनुभव होता है। यही व्यंग्यार्थ है जो रस की प्रतीति कराने में सहायक होता है। यही ध्वनि है जो काव्य की आत्मा है। ध्वनिकार का मत है कि अंगना के सुशोभन अंगों के अतिरिक्त जैसे लावण्य, सौष्ठव, कांति, चमक-दमक, एक पदार्थ है वैसे ही महाकवियों की वाणी में एक ऐसी वस्तु होती है जो शब्द, अर्थ, रचनावैचित्र्य आदि से अलग प्रतीयमान होती है वही काव्य की आत्मा है यही विशेष अर्थ ध्वनि है।[१] अर्थात् जहाँ पर अर्थ या शब्द अपने अभिप्राय की प्रधानता का परित्याग करके जिस विशेष अर्थ को व्यक्त करता है उसे ध्वनि कहते हैं।[२]

वास्तव में ध्वनिसिद्धान्त एक व्यापक सिद्धान्त है। "उसकी सत्ता उपसर्ग और प्रत्यय से लेकर सम्पूर्ण महाकाव्य तक है। पद-विभक्ति, क्रिया-विभक्ति, वचन, सम्बन्ध, कारक, कृत-प्रत्यय, तद्धित-प्रत्यय, समास, उपसर्ग-निपात, कालादि से लेकर वर्ण, पद, वाक्य, मुक्तक पद्य और महाकाव्य तक उसके अधिकार-क्षेत्र का विस्तार है। जिस प्रकार एक उपसर्ग या प्रत्यय या पदविभक्ति मात्र से एक विशिष्ट रमणीय अर्थ का ध्वनन होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण महाकाव्य से भी एक विशिष्ट अर्थ का ध्वनन या विस्फोट होता है। प्र, परि, कु, वा, डा, आदि जहाँ एक रमणीय अर्थ को व्यक्त करते हैं, वहाँ 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे विशाल काव्य-ग्रन्थ का भी एक ध्वन्यर्थ होता है जिसे आधुनिक शब्दावली में संकेत, मूलार्थ आदि अनेक नाम दिए गए है।"[3]

वास्तव में रसनिष्पत्ति की शर्त 'विभावानुभाव......' नाटकों तथा प्रबन्ध-काव्यों में तो पूरी तरह लागू हो जाती है परन्तु मुक्तक एवं गीतकाव्य में कठिनाई आ पड़ती है। रस या भाव होते हुए भी उनमें रसनिष्पत्ति की पूर्ण प्रक्रिया चरितार्थ नहीं होती। अतः आचार्यों ने इसे रसवद् अलंकार माना था। परन्तु ध्वनिवाद ने इस भेद को भी दूर कर दिया। एक ही मानदंड से जहाँ प्रबन्धकाव्य का

---

१. ध्वन्यालोक-आचार्य विश्वेश्वर—पृ० १३।

२. वही—पृ० ३७।

३ वही० (भूमिका-लेखक-डा० नगेन्द्र)—भूमिका—पृ० १४-१५।

मूल्यांकन हो सकता है वहाँ उसी मानदंड से मुक्तक का भी सफलतापूर्वक मूल्यांकन किया जा सकता है। यही ध्वनिवाद की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

यद्यपि ध्वनिकार ने काव्य में रस को ही आनन्दप्रद माना है परन्तु प्रधान पद व्यंग्यार्थ को ही दिया है। क्योंकि रस भी व्यंग्य ही होता है। रस, अलंकार, वस्तु भी ध्वनित होते हैं। अतः ध्वनि के तीन मुख्य भेद किए गए—रसध्वनि, अलंकार-ध्वनि और वस्तुध्वनि। अलंकार और वस्तु की उत्पत्ति शब्द व अर्थ की शक्ति के द्वारा होती है परन्तु रसध्वनि में रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि शब्द या अर्थ की शक्ति से उत्पन्न नहीं होते क्योंकि ये सब स्वयं किसी शब्द या अर्थ से वाच्य नहीं होते। ये तो विभावादिकों द्वारा व्यक्त होते हैं।

वैसे ध्वनिवादियों ने ध्वनि के दो भेद किए हैं—अभिधामूला ध्वनि या अविवक्षित-वाच्य ध्वनि और लक्षणामूला ध्वनि या विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि। लक्षणामूला में वाच्यार्थ जब एक दूसरे अर्थ में संक्रमित हो गया होता है तो उसे अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य ध्वनि और जब अत्यन्त तिरस्कृत होता है तो उसे अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि कहते हैं। अभिधामूला ध्वनि में वाच्यार्थ तिरस्कृत नहीं होता परन्तु वांछित होते हुए भी अन्यपरक होता है। इसीलिए उसे विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि कहते हैं। इसके दो भेद हैं—असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम। रस- भावादिकों में असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य होता है। उसमें वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का बोध बड़ी शीघ्रता से होता है और क्रम लक्षित नहीं होता। संलक्ष्य-क्रम में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का क्रम लक्षित होता है। इसके तीन भेद हैं—शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव और उभय-शक्त्युद्भव। असंलक्ष्यक्रम के रस, भाव, रसाभास, भावाभास, शांति, उदय, सन्धि, शबलता ये आठ भेद हैं। इस भेदोपभेद पर ध्वनि के प्रमुख अठारह भेद किए गए हैं।

यद्यपि लोकगीतों तथा गाथाओं में ध्वनि के सभी भेदों को ढूँढना एक असफल प्रयास होगा फिर भी कुछ मुख्य भेदों के दर्शन हमें प्राप्त हो जाते हैं और उनका अध्ययन भी आवश्यक है। यह तो निर्विवाद है कि लोककवियों ने अपने काव्य की रचना किसी काव्यशास्त्रीय आधार पर नहीं की। अतः उस दृष्टि से लोकगीतों का अध्ययन करना भी व्यर्थ होगा।

लोकगीत अत्यन्त ही भाव प्रधान है। रस के सागर हैं। लोक के हर्ष-उल्लास, सुख-दुःख, राग-घृणा, हास्य-क्रोध आदि भाव लोकगीतों में ध्वनित हुए हैं। कहीं-कहीं इसे स्पष्ट रूप से कहा गया है तो कहीं इसे व्यंजित किया गया है। रस या भाव सदैव व्यंग्य होते हैं वे कहे नहीं जाते। लोकगीतों में उन्हें व्यंजित करने की भी चेष्टा की गई है। लोकजीवन अत्यन्त ही सरल एव सहज है। उसमें आडम्बर एवं बुद्धि

का अधिक प्रदर्शन नहीं। उनके जीवन में किसी प्रकार का दुराव नहीं, जो कुछ है स्पष्ट है। इसीलिए लोककवि अपनी भावनाओं को व्यंजित करने में सर्वत्र स्वच्छन्द रहे हैं। परन्तु उन सादे लोगों की कथन-प्रणाली विदग्धता-पूर्ण होती है। भावुकता के साथ-साथ उनका यह कथन-वैदग्ध्य लोकगीत में उभर कर आया है। ऐसे स्थलों पर ही भावों को लोकगीतों में कहा नहीं गया वरन् ध्वनित किया गया है। मूलतः लोकगीतों में नारी-जीवन की करुणा ही ध्वनित की कई है।

बाबा सिर मोरा रोवेला सेनुर बिनु,
नयनवा कजरवा बिनु ए राम।
बाबा गोद मोरा रोवेला बालक बिनु,
सेजिया कन्हइया बिनु ए राम।

इस पद में सेनुर, कजरवा, सेजिया आदि शब्दों से विधवा नारी की मार्मिक वेदना को ध्वनित किया गया है। इसमें यह कहीं नहीं कहा गया कि मैं पति बिना रो रही हूँ। यह कथन होता तो इसे भावों को सीधा कहने वाला वाक्य कहा जाता, ध्वनि नहीं। परन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि 'सिर सिन्दुर के बिना रो रहा है। आँखें काजल के बिना रो रही हैं। गोद पुत्र के बिना रो रही है और सेज पति के बिना रो रही है।' सिन्दूर, काजल, पुत्र, सेज आदि नारी के सौभाग्य तथा पति से समागम के चिह्न हैं। वे सब अब मिट गए हैं। जिस सिर की शोभा सिन्दूर से थी, जिन आँखों में चंचलता काजल से थी, वे अब मिट गए हैं अतः सिर और आँखें उनके बिना रो रही हैं। इन्हीं प्रमुख शब्दों से नारी के विधवा-जीवन की करुणा ध्वनित की गई है। यह रसध्वनि का श्रेष्ठ उदाहरण है।

लोकगीतों में कई स्थानों पर लक्षणामूलाध्वनि का कुशल प्रयोग देखने को मिलता है। यथा—

चइत मास जोबना फुलायल, हो रामा।
कि सइयाँ नहिं आएल।

जिस प्रकार फूल खिलता है और विकसित होता है उसी प्रकार सुन्दरी का यौवन भी विकसित हो उठा है। 'जोबना' के साथ 'फुलाअल' शब्द का प्रयोग व्यंजनागर्भित है। यहाँ अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य ध्वनि है। 'फुलाअल' ने अपना फूल से सम्बन्धित अर्थ (फूलना) का संक्रमण शरीर के अंगों का गदरा जाना, भर जाना, विकसित होना, आदि अर्थ में कर दिया है।

अब अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि का उदाहरण लीजिए—

कथिले बदन पसारइ नागरि,
कमल-नयन मुरझाय

के की कहलक सुन्दरि कहुकहु
सोवहि हंस सुखाय ?

यहाँ 'हंस' का प्रयोग 'प्राण' के अर्थ में हुआ है। 'हंस' ने अपने 'हंस' (पक्षी विशेष) अर्थ का सर्वथा तिरस्कार कर अन्य अर्थ (प्राण) को ध्वनित किया है अतः यहाँ अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि है।

लोकगीत में लक्षणा और व्यंजना का प्रयोग केवल शब्द और अर्थ में चमत्कार-प्रदर्शन के लिए नहीं होता वरन् भाव को अधिक से अधिक व्यंजित करने के लिए होता है। मानव की समस्त रागात्मक भावनाओं की व्यजना कई स्थलों पर ध्वनि के माध्यम से गई है।

अभिधामूलाध्वनि के दो भेद किए गए है—असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य तथा सलक्ष्य-क्रम व्यंग्य। असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का ऊपर उदाहरण दिया गया है। लोकगीतों में असंलक्ष्य के अनेक उदाहरण मिल जाएंगे। भाव तथा भावाभास, भावसंधि तथा भावशबलता आदि रसध्वनि के ही भेद है। इनका रूप भी लोकगीतों में मिलता है। एक-एक गीत एक-एक सम्पूर्ण.भाव को ध्वनित करते हैं। चैता तथा जँतसार के गीतों में विरह की मार्मिकता ध्वनित हुई है। निर्गुण गीतों में शृंगार के साथ-साथ भक्ति-भाव भी ध्वनित हुआ है।

संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के दो भेद हैं—शब्दशक्तिमूला और अर्थशक्तिमूला। शब्दशक्तिमूलाध्वनि में श्लिष्ट शब्द का प्रयोग किया जाता है। पद के पर्यायवाची रख देने पर उसका अर्थ-सौंदर्य समाप्त हो जाता है। प्रायः लोकगीतों में ऐसे कई श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग किया जाता है।-जैसे गोरस। गोरस का एक अर्थ दूध है तो दूसरा अर्थ (गो=इन्द्रिय) इन्द्रिय-रस है। परन्तु ऐसे स्थलों पर गोरस के स्थान पर 'दुग्ध' पर्यायवाची शब्द रख देने पर उस पद का अर्थ-सौंदर्य समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार 'भँवर' शब्द भी है जिसका प्रयोग लोकगीतों में खूब हुआ है।

दूसरा भेद है अर्थशक्तिमूला संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि। इसमे कहीं वस्तु से वस्तु को, अलंकार से अलंकार को, अलंकार से वस्तु को तथा वस्तु से अलंकार को ध्वनित किया गया है। वैसे लोकगीतों में अलंकार-ध्वनि के उदाहरण कम ही प्राप्त होते हैं परन्तु वस्तुध्वनि के उदाहरण खूब मिलते हैं। कहीं-कहीं तो वस्तु से भाव को ध्वनित किया गया है—

आम मजरि महु तूअल,
सैयो ने पहु मोर चूरल।

यहाँ 'तूअल' शब्द अत्यन्त मार्मिक है। 'तूअल' का अर्थ 'रसहीन फूलों का पतन' है। महुआ गिरता या झरता नहीं, चूता है। महुए के फूल में जो रस है, माद-कता है वह वायु से स्पर्शित होकर पृथ्वी पर टपकने लगता है। यहाँ लोककवि ने

इस प्रकृति-व्यापार (वस्तु) से विरहिणी की मनोव्यथा (भाव) को ध्वनित किया गया है।

डा० श्याम परमार ने 'लोकगीतों में रंग-वैचित्र्य' पर अपना मौलिक अध्ययन प्रस्तुत किया है।[1] मूलतः यह ध्वनिसिद्धान्त का ही विषय है। ध्वनिसिद्धान्त के अन्तर्गत वस्तुध्वनि के दो भेद किए गए हैं—विचारात्मक और चित्रात्मक। इसमें विचारात्मक का सम्बन्ध अन्तर्जगत से है और चित्रात्मक का बहिर्जगत से। पहली में हृदयपक्ष प्रधान है और दूसरी में बुद्धिपक्ष। चित्रात्मक वस्तुध्वनि के चार मुख्य भेद किए गए हैं—पदार्थ, रूप-गुण, घटना तथा व्यापार। पदार्थ के अन्तर्गत वस्तुओं के आकार-प्रकार, घनत्व आदि से युक्त प्रकृति के उपादानों को लिया गया है, जैसे—पहाड़, पेड़, फूल आदि। रूप में वस्तु के नेत्र, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों को स्पर्श करने के गुण लिए गए हैं। किसी चित्र का सम्बन्ध किसी एक संवेदना अथवा संवेदनाओं से हो सकता है। वस्तु के रूप, रंग आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं।[2] श्याम परमार द्वारा किया गया 'रंग-वैचित्र्य' अध्ययन इसी के अन्तर्गत आता है।

डा० श्याम परमार ने लिखा है—"भारतीय काव्य एवं साहित्य में रंगों का उल्लेख प्रायः सौंदर्य-सृष्टि के निमित्त एवं विविध वातावरण के संश्लिष्ट चित्रण में आलंकारिक योजना के उद्देश्य से किया गया है। जिन रंगों का उल्लेख हमारे पूर्ववर्ती परिष्कृत-साहित्य में उपलब्ध है वे आदिम वृत्तियों के आकर्षण से ऊपर उठे हुए हैं। उनमें क्रमशः नई-नई रंगतें (शेड्स) और मूलरंगों के अतिरिक्त सम्मिश्रित प्रभाव उत्पन्न होता गया है। यही कारण है कि लोकसाहित्य में प्रयुक्त रंगों में जहाँ मौलिकता अनगढ़त्व और चटकीलापन अवस्थित है वहाँ परिष्कृत-साहित्य में अभिजातवर्गीय रुचि को परितोष प्रदान करने वाले रंग-विषयक विकास, वैचित्र्य, छटा और प्रभाव मिलते हैं। किन्तु रंग, ध्वनि, गंध और स्पर्शयुक्त चित्रों की भी भारतीय-साहित्य में कमी नहीं हैं। उन चित्रों में प्रकृति का प्रतिबिम्ब उन्हीं उपकरणों से उद्भासित हुआ है जो लोकसाहित्य में अपनी स्वाभाविक, अनलंकृत और सांकेतिक-योजना द्वारा प्रकट होते हैं।"[3] यह सांकेतिक-योजना मूलतः ध्वनि ही है। यहाँ श्याम परमार स्पष्ट रूप से ध्वनि-सिद्धान्त से प्रभावित हैं।

यह पूर्णतः सत्य है कि सांकेतिक-शब्दों द्वारा रूप और रंग का प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। इन्द्रधनुष के रंग, वृक्षों की हरिताभा, सरिताओं का श्वेत-फेनिल जल, पहाड़ों का गहरा कत्थई रंग, मेघों का श्याम-वर्ण आदि अव्यक्त प्रभाव उत्पन्न करते हैं। ये ही वे रंग है जो मानव की भावनाओं को युगों से अनुरक्त किए हैं।[4]

---

१. भारतीय लोकसाहित्य—पृ० ८१-९७।
२. हिन्दी छायावादोत्तर काव्य में ध्वनि—डा० कुन्दनलाल उप्रेती—(अप्रकाशित)।
३. भारतीय लोकसाहित्य—पृ० ८१।
४. वही—पृ० ८४।

जिस प्रकार चित्रकला में रंग किसी वस्तु के रूप के सौंदर्य को उभारते हैं उसी प्रकार गीतो में भी। लोकगीतों में भी रंगों के प्रति एक ऐसा सांकेतिक निर्णय मिलता है जो संस्कार-रूप में जनमानस की रुचि को प्रभावित करने की क्षमता रखता है। अतः लोकगीतों के रंगों में आदिम रुचि ही ध्वनि हुई है।

लोकगीतों में जो रंगों की आभा अभिव्यक्त हुई है उसका माध्यम है शब्द-चित्र। उनमें कल्पनाजन्य बुद्धि अथवा परम्परा के विश्वास ही रंगतों को पकड़ लेते हैं।[१]

(यहाँ मैं विस्तार से रंगों के अध्ययन की ओर नहीं जाना चाहता, क्योंकि डा० श्याम परमार ने व्यापक रूप से इसका अध्ययन किया है। फिर भी इस दृष्टि से लोकगीतों पर शोध करने की आवश्यकता है। यहाँ ध्वनि की दृष्टि से केवल मैंने संकेत ही दिया है। व्यापक अध्ययन के लिए यहाँ कोई गुंजाइश नहीं दिखाई देती।)

आधुनिक लोकगीतों में नई चेतना भी ध्वनित हुई है। "युग की बदलती हुई परिस्थितियों में आज गीतों के भीतर एक नई रोशनी के चिह्न प्रकट होने लगे हैं। उनमें 'सोने की थाली में भोजन परोसा' की सम्भावित कल्पना, वीरों को देवतुल्य मानने का विश्वास, अन्धश्रद्धा, भ्रम, आदि अब जीवन के कठोर सत्य से टकराकर ढहने लगे हैं। थाली तो दूर रही, रोटी और जीवन में शान्ति के प्रश्न प्रबल हो उठे है।"[२]

इस युग की बदलती परिस्थितियों के कारण ही लोकगीतों में कहीं सन् सत्तावन की क्रांतिकारी चेतना ध्वनित हुई है तो कहीं औद्योगिक-क्रांति के परिणाम स्वरूप समाज में उत्पन्न होने वाली महँगाई, भूख, दरिद्रता, घुटन, कुंठा आदि। यथा—

ना बिरहन की खेती पाती, ना बिरहन को बंज।
जाही पेट से बिरहा उपज, गाऊँ दिन औ रात॥

मध्यवर्गीय परेशानियों के साथ-साथ लोकगीतों में निम्नवर्गीय परेशानियाँ भी ध्वनित हुई हैं। अहीरों, कहारों, धोबियों, चमारों, भिखारियों आदि के गीतों और नृत्यों को श्रमपरिहरण का साधन नहीं माना जा सकता। खुरच कर देखने पर पता चलता है कि उनमें उनकी अकुलाती, तड़पती आहें तथा मजबूरियाँ ही ध्वनित हुई हैं। यह सही है कि आधुनिक-जीवन के सत्य ने लोकगीतों के पुराने भोलेपन को झकझोर कर झुलसा दिया है, फिर भी उन गीतों में एक नई आशा का अंकुर कठोर पथरीली धरती को फोड़ता, नए-जीवन का संगीत नए स्वर में गाता दिखाई देता है। यही लोकगीतों का नया सौंदर्य है जो नए रूप में ध्वनित हुआ है।

---

१. भारतीय लोकसाहित्य—पृ० ६७।

२. वही—पृ० ६६।

परिशिष्ट (क) | खड़ीबोली-लोकसाहित्य का अध्ययन

खड़ीबोली का क्षेत्र—

कुरु-प्रदेश में व्यवहृत की जाने वाली बोली कौरवी बोली है। यह नामकरण महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने किया था। इसी का दूसरा नाम खड़ीबोली है। लल्लूलाल जी और सदल मिश्र ने खड़ीबोली शब्द का प्रयोग सम्भवतः सबसे पहले १८०३ ई० में किया था। आज कौरवी की अपेक्षाकृत खड़ीबोली शब्द अधिक प्रचलित है। खड़ीबोली के क्षेत्र का निर्धारण करते हुए डा० धीरेन्द्र वर्मा का कथन है—"खड़ीबोली उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद, बिजनौर, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर और मेरठ—इन पांच जिलों, रामपुर रियासत और पंजाब के अम्बाला जिले में बोली जाती है।"[1]

खड़ीबोली भाषियों की जनसंख्या—

उत्तर प्रदेश में इनकी संख्या ७६, ६५, ७५१ तथा पंजाब प्रदेश में ८६, २२, ६७३ है। कुल भाषा-भाषियों की यह संख्या १६५१ के जनगणना सम्बन्धी आंकड़ों के आधार पर १,६६, १८, ७२४ ठहरती है। चारों ओर की प्रायः अनिश्चित सीमाओं के कारण ठीक-ठीक जनसंख्या की गणना एक दुस्साध्य कार्य है।

खड़ीबोली-लोकसाहित्य का वर्गीकरण—

खड़ीबोली का लोकसाहित्य अन्य बोलियों के लोकसाहित्य की भाँति ही समृद्ध है। इसमें तीन प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं—गद्य, पद्य और गद्य-पद्य मिश्रित। भाषा के दृष्टिकोण से यह स्थूल वर्गीकरण है। शैली एवं विधात्मक रूप के दृष्टिकोण से खड़ीबोली के लोकसाहित्य को पाँच बड़े वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) लोकगीत, (२) लोकगाथा, (३) लोकनाट्य, (४) लोककथा एवं (५) प्रकीर्ण साहित्य। खड़ीबोली में लोकनाट्य का रूप विशेषतः विकसित रूप में मिलता है।

---

१. विचारधारा—डा० धीरेन्द्र वर्मा—पृ० १२।

खड़ीबोली के लोकगीत—

खड़ीबोली के लोकगीतों का वर्गीकरण—

अन्य भारतीय बोलियों के लोकगीत-साहित्य की भाँति ही खड़ीबोली के लोकगीतों में विविध विषयों पर रचनाएँ मिलती हैं। इन रचनाओं में अतीत के सांस्कृतिक मूल्यों पर भी प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः लोकगीत धरती के गीत हैं अतः संस्कृति से दूर नहीं हो सकते। खड़ीबोली के लोकगीत के वर्गीकरण में कई कठिनाइयाँ प्रस्तुत हुई हैं; जैसे संस्कार-सम्बन्धी-गीत एक विशेष संस्कार से सम्बद्ध होने पर भी अन्य संस्कारों के अवसर पर भी गाए जाते हैं। जन्म के गीत जन्मदिवस, मुंडन, यज्ञोपवीत आदि के अवसरों पर भी गाए जाते हैं। रसात्मकता के दृष्टिकोण से वर्गीकरण और भी कठिन है क्योंकि एक गीत में ही एक से अधिक भाव तदन्तर रसों का आविर्भाव हुआ है। डा० सत्या गुप्त ने साधारण रूप में इस प्रकार वर्गीकरण किया है[1]—

१. अनुष्ठानिक गीत—जिसके अन्तर्गत संस्कार-सम्बन्धी तथा धार्मिक-गीत आते हैं।

२. लोकगीतों में ऋतु-वर्णन (होली, सावन)

३. खड़ीबोली के लोकगीतों में स्त्री-पुरुषों के विशेष तथा विभिन्न क्रिया-कलापों का उल्लेख, श्रमगीत।

४. बाल-गीत—इनके अन्तर्गत लड़के-लड़कियाँ दोनों ही के गीत आते हैं।

संस्कार-सम्बन्धी गीत—खड़ीबोली-लोकसाहित्य में, जीवन के विभिन्न १६ संस्कारों के अवसर पर ये गीत लोकाचार के साथ गाए जाने वाले गीत हैं।

जन्म के गीत—पुत्र-जन्म से पूर्व भी तीन संस्कार होते हैं—गर्भाधान, पुंसवन तथा साध-पूजना या साध-पहराना। प्रथम दो के लिए गीत की आयोजना नहीं के बराबर है। गर्भाधान के सातवें महीने में साध-पूजने के अवसर पर गीतों का प्रचलन है। इन गीतों में पुत्र की कामना, माँ का सौभाग्य और प्रसन्नता की भावना रहती है। कुछ गीतों में कन्या-जन्म के प्रति उपेक्षा का भाव भी व्यंजित रहता है।

पुत्र-जन्म के अवसर पर गीतों का सुन्दर विधान होता है। इन गीतों में एक ओर पुत्र-जन्म की प्रसन्नता है तो दूसरी ओर बंध्यात्व के दोष से मुक्ति-जनित प्रसन्नता भी। ये गीत जच्चा-बच्चा के गीत भी कहलाते हैं। इनमें जच्चा के खान-पान, उसकी नाजुकता एवं उदारता-अनुदारता के चित्र मिलते हैं। इन गीतों में सास, जिठानी तथा ननद की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। ननद पूछती है—

---

१. खड़ीबोली का लोकसाहित्य—डा० सत्या गुप्त, पृ० ६१।

"भावो को होवे नन्दलाल, तुमें क्या देगी,
जच्चा कहती है—मेरे हाथ का कंगन है भारी, वो ही तुमें दूंगी।"

छठी के गीत—जन्म के छठे दिन, शुद्धि तथा स्नान के संस्कार को छठी कहते हैं। छठी का पूजन भी होता है। प्रीतिभोज की भी प्रथा प्रचलित है। छठी के गीत विविध नामों से जाने जाते हैं, यथा—दाई, जच्चा, पदों, चीरा, खिचड़ी, कठुला, पालना, ननद, जिठानी आदि। इन गीतों में लोक-मनोविज्ञान की अभिव्यक्ति हुई है। जगमोहन तथा मनरंजना के गीत भी इसी दिन गाए जाते हैं।[1]

दशूठन—इसका एक नाम दष्ठौन या नामकरण-संस्कार भी है। प्राय: दसवें दिन होता है। इसमें लोकाचार तथा पौरोहित्य विधान दोनों का रूप रहता है। जच्चा के मायके से उसके सम्बन्धी वस्त्रादि तथा खानपान की सामग्री लाते हैं, इसे खिचड़ी या छूछक कहते हैं। इसी दिन 'ब्याही' गीत गाए जाने की प्रथा भी प्रचलित है।

मुंडन—बुआ आकर बालक के केश उतरवाती है। इसका नेग उसे मिलता है। इस दिन के गीत जन्म के समय के गीत ही होते हैं अन्य गीत भी गाए जाते हैं। एक गीत है—

"घुंघरवाले बाल लला के,
दादा भी रहसैं दादी भी रहसैं,
हंस के करें हैं गरब लाल के।"

कनछेदन—यह कोई विशेष महत्व का संस्कार नहीं होता। इस दिन प्राय: जन्म के गीत और ब्याही के गीत ही गाए जाते हैं।

जनेऊ—विद्यारम्भ के समय यह यज्ञोपवीत-संस्कार होता है। यह संस्कार बड़े धूम-धाम से मनाया जाता है। इस दिन ब्याही तथा बन्ने के गीत गवते हैं।

विवाह-संस्कार—विवाह-संस्कार के अन्तर्गत अनेक लोकाचारों का विधान है। 'पक्की' या 'रोकना' से लेकर गौने तक के सभी आचारों में घर की स्त्रियाँ गीत गाती हैं।

सगाई—यह विवाह निश्चित हो जाने की सूचना है।

लगन टेहला—सगाई के बाद कन्या-पक्ष से लग्नपत्रिका जाती है तथा धन, फल, मेवे, मिठाई वस्त्रादि भी जाते हैं। वर-पक्ष से इसके स्थान पर 'संजोया' भेजा जाता है जिसमें फल मेवे के अतिरिक्त कन्या के शृंगार प्रसाधन भी होते हैं। स्त्रियाँ इस अवसर, कन्या-पक्ष में 'सुहाग' गाती हैं।

---

१. खड़ी बोली का लोकसाहित्य—डॉ० सत्या गुप्त—पृ० ४१।

हलद—५, ७ या ८ दिनों तक वर-कन्या के हल्दी चढ़ाई जाती है। इसे 'हलद' कहते हैं।

तेल—हल्दी की भाँति तेल भी चढ़ाया जाता है। तेल के बाद नित्यप्रति उबटन-क्रिया भी होती है जिसका उद्देश्य सौंदर्य की अभिवृद्धि होता है।

मढ़ा—वर तथा कन्या-पक्ष में क्रमशः बारात के जाने एवं आने के एक दिन पहले विवाह के घर में मढ़ा चढ़ता है। इस दिन 'मढ़े' के गीत गाए जाते हैं।

भात—विवाह का मुहूर्त निकाले जाने के बाद वर अथवा कन्या की माँ अपने भाई को भात न्यौतने जाती है। जो भात लेकर आता है उसे भातई कहते हैं। कहीं-कहीं 'न्यौतना' के गीत के साथ-साथ 'नरसी का भात' तथा 'नींदना भात' के गाए जाने का भी प्रचलन है। भातई को 'सीठने' भी मिलते हैं। इनका स्वरूप उपहास का होता है; यथा—

> "भातियों की मूँछ जैसे कुत्ते की पूँछ
> मत पाड़ियो रे लाल, वो तो विचारा गरीबड़ा।"

घुड़चढ़ी—विवाह के प्रथम दिवस या कभी-कभी उसी दिन घुड़चढ़ी का कार्यक्रम होता है। 'कुँआ पूजना' भी इसी में ही सम्मिलित होता है। इस दिन 'घोड़ी', 'बन्ना' तथा 'सेहरा' के गीत गाए जाते हैं।

कोयल—बारात जाने के बाद यह प्रथा वर-पक्ष की स्त्रियाँ रात्रि में मनाती हैं। इसमें भाँति-भाँति के हँसी मजाक का समावेश रहता है ब्रज में इसे 'खोइया' कहते हैं। इसमें हास्य की सीमा अश्लीलता को छूती है। बारात के स्वागत के वर्णन के गीत विशेष गाए जाते हैं जो सुरुचिपूर्ण नहीं होते। घर की स्त्रियाँ 'स्वाँग' करती हैं। ये 'स्वाँग' वैसे ही होते हैं जैसे कन्या-पक्ष में कार्यक्रम होते हैं। इस अवसर 'बहू बन्ने' तथा 'सुहाग' भी गाए जाते हैं।

खोड़िया तथा बधावा—अगले दिन दोपहर यह प्रथा होती है। 'नृत्य' 'गान' आदि 'खोड़िया' कहलाता है तथा बाद में बधावा गाया जाता है। इसमें माँ का नाम भी लिया जाता है; यथा—

> "बधावा है 'कमला' की कोख,
> जिसने जाया है हरि सा पूत।"

पाणिग्रहण-संस्कार—विवाह का यह मुख्य संस्कार पुरोहित द्वारा मंत्रोच्चार के साथ होता है। 'कन्यादान' तथा 'भाँवरें' सर्वप्रमुख प्रथाएँ हैं।[1] भाँवरों के समय एक गीत गाया जाता है। प्रत्येक फेरे के साथ स्त्रियाँ कहती हैं कि अभी भी बेटी

---

1. खड़ीबोली का लोकसाहित्य—डा० सत्या गुप्त—पृ० ५२-५४।

अपने पिता की है, सातवें फेरे पर कहती हैं कि अब वह पराई हो गई। अगले दिन 'कंगन' खिलाया जाता है (कहीं-कहीं यह प्रथा वर के घर लौटने पर होती है) इसी दिन 'बढार' का आयोजन रहता है। इस अवसर पर कन्या-पक्ष की स्त्रियाँ वर-पक्ष वालों को 'सीठने' या 'गालियाँ' देती हैं।

विदा—कन्या की विदा अत्यन्त करुणापूरित होती है। माँ-बाप तथा भाई इत्यादि संयम खोकर रो पड़ते हैं। गीतों में करुणा की भावना इस अवसर को और अधिक करुण बना देती है। एक गीत में कन्या अपने धनवान पिता से पूछती है—

"काहे को ब्याही विदेश, रे लक्खी बाबुल मेरे,
भइयों को दीन्हें महल दुमहले, हमको दियो परदेस रे।"

गौना—विवाह के बाद कन्या जब मायके लौट जाती है तब कुछ समय पश्चात गौने की प्रथा होती है। इसमें लड़का तथा अन्य सम्बन्धी 'वधू' को फिर से विदा कराकर ससुराल लाते हैं। इस प्रथा में, वधू-पक्ष में 'सुहाग' तथा वर-पक्ष में 'घोड़ी बन्ने' गाए जाते हैं।

मृत्यु-संस्कार—'महायात्रा' का यह संस्कार जीवन का अन्तिम संस्कार होता है। वृद्ध की स्वाभाविक मृत्यु पर शोक नहीं मनाया जाता। इस समय के गीत बहुत कम हैं। जो स्वाभाविक भी है। रुदन लयात्मक होता है। खड़ीबोली प्रदेश में 'उलाहणी' नामक शोक-गीत इसी समय गाया जाता है। एक उदाहरण है—

"ए चन्दन रूख कटाइयोणी, ऐ बाढ़ी बेग बुलाइयोणी,
ऐ सासो बाज्जे बाजियाणी, ऐ बेट्टों मूंड़ मुंडाइयाणी।"

धार्मिक गीत—

ये गीत व्रत, त्योहार तथा अनुष्ठान-विषयक होते हैं। इन गीतों में भाग्य-वाद तथा कर्मवाद का लोकविश्वास के माध्यम से प्रकाशन होता है। धार्मिक-गीतों के तीन वर्ग किए जा सकते हैं—देवी-देवताओं के गीत, व्रत-त्योहार के गीत तथा जोगियों के गीत।

देवी-देवताओं के गीत—इन गीतों में गणेश, शीतलामाता तथा गंगा का अत्यधिक महत्त्व है। गंगा का एक गीत इस प्रकार है—

'ना आऊँ दुनियाँ के ठाँवें, गंगा जी शिव से जगड़ी।
पापी पराधी जो नर कहिए, वे नर मुझ में न्हाएँगे।
दुखी रहैगा मेरा जीव, निरखी बहैगी मेरी धार॥ गंगा जी०"[1]

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षोडश भाग)—पृ० ५०१-५०३।

त्योहार गीत—त्योहारों एवं पर्वों पर भी गीत गाए जाते हैं। इन गीतों में कथा का अंश भी होता है। गणेश चतुर्थी पर गाए जाने वाले गीत का उदाहरण दिया जा रहा है—

"आज मेरे ग्यान गणपत आए।

गणपत आए मेरे सिर पै बैठे (रामा), अच्छे-अच्छे साल दुसाले उढ़ाए।"[१]

जोगियों के गीत—जोगियों के गीत वैराग्य-मूलक होते हैं, किन्तु इनसे गृहस्थ-जीवन पर सद्प्रभाव पड़ता है। ये गीत ऐतिहासिक वृत्तों पर मिलते हैं, जैसे—'बमलहरी', 'रिख ब्याहलो', 'गोपीचन्द-भरथरी', 'नरसी का भात' आदि।

ऋतुगीत—ऋतुगीतों मे सर्वाधिक प्रचलन सावन के गीत, बारहमासा तथा होली के गीतों का है। सावन के गीतों मे विरह की व्यंजना अधिक मिलती है। सावन् के दिनो में स्त्रियाँ झूले पर एक गीत गाती हैं जिसे 'चन्द्रावलि' कहते हैं। बारहमासे के गीतो में भी विरह-व्यजना ही प्रधान है। इनके अतिरिक्त सावन मे कुछ वृत्तात्मक गीत भी गाए जाते हैं। ये स्त्रियों तथा पुरुषों के पृथक्-पृथक् होते हैं। ये गीत हैं—आल्हा, जाहरपीर, गोपीचन्द, भरथरी, मखन, चन्दना, चन्द्रावलि, निहालदे, नर-सुलतान तथा गुग्गापीर, आदि। सावन के गीतों में पति प्रेम, विरह-व्यजना, प्रकृति-चित्रण तथा भाई का प्रेम विषय-रूप मे चित्रित होता है। होली के गीतो मे उल्लास की व्यजना है। यह त्योहार पारस्परिक प्रेम-रग में भीगने का त्योहार है। होली पर 'पटका' गाया जाता है। इसे स्त्रियाँ गाती हैं। वे मंडलाकार घूमती जाती हैं और एक दूसरे के हाथ पर हाथ मार कर इस प्रकार गाती हैं—

"राज्जा नल के बार मची होली। री मची होली, ए मची०

इक पै तो राज्जा सिल्वा बी ना है।

मैं काहे कु पहर खेलूँगी हो होली। ए खेलूँगी०। राजा नल के०।"[२]

श्रमगीत—जीवन मे श्रम का अपना पृथक् महत्त्व है। श्रम के आधार मे कर्तव्य-भावना भी रहती है जिसके पूर्णतः निर्वाह में शिथिलता न आए इसलिए श्रम और कार्य की एकरसता तथा नीरसता दूर करने के लिए इस प्रदेश मे श्रम-गीतों का भी चलन है। श्रमगीत स्त्रियों तथा पुरुषों दोनों के ही होते हैं। स्त्रियाँ चक्की चलाते समय, चर्खा चलाते समय, ओखली कूटते समय, पानी भरते समय ये गीत गाती हैं इससे उनके श्रम का परिहार होता है। स्त्रियों के श्रमगीतों में घर की व्यवस्था, समृद्धि की कामना, स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध आदि विषय-रूप मे प्रस्तुत

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (षोडश भाग)—पृ० ५०१।

२. होली तथा अन्य गीतों के लिए देखिए—खड़ीबोली का लोकसाहित्य—डा० सत्या गुप्त—पृ० ८३-८७।

होते हैं। कहीं-कहीं भजन भी गाए जाते हैं। चक्की के एक गीत में असंतोष इन शब्दों में व्यक्त हुआ है—

"ना इस घर में चक्की री ना चूल्हा
ना चक्की में चून बेहुण मेरी
बुरा है सुसर का देस।"

'सिल्ला बीनने' के गीत भी प्रायः स्त्रियाँ ही गाती हैं क्योंकि वे ही सिल्ला बीनती हैं।

पुरुषों के श्रम गीत में कोल्हू तथा कुएँ के गीत हैं। कोल्हू के गीत को 'पल्हावे' या 'मल्हौर' कहते हैं। इनका विषय शृंगार, नीति तथा धर्म होता है। कुछ गीतों में अश्लीलता भी मिलती है। कुँए के गीत को 'बारे' कहते हैं। बारे का विषय 'भक्ति' होता है, किन्तु इनमें मनोरंजन, विनोद, व्यंग्य तथा उपालम्भ का भी स्थान होता है

बालगीत—*बालगीतों में खेल के गीतों का ही प्रमुख स्थान है। इन गीतों में* जीवन के गम्भीर पक्षों का भी विनोदात्मक अनुकरण मिलता है। सामूहिक-जीवन और परस्पर सहयोग की भावना इन गीतों में मिलती है। इस प्रदेश में बालकों के ये खेल प्रचलित हैं—भड़्भड़्ने, पाँ पिट्टा, कच्छू गगा, भोई माई, कीलमकीड़, कुल्हाड़ा, लीली घोड़ी, बुढ़िया-बुढ़िया, अँधे की लकड़ी, चल-चल चमेली बाग में तथा त्यौहारों में झाँझी, टेसू तथा चौपई-चोकड़ी के खेल खेले जाते हैं। इन सभी खेलों में गीतों का प्रयोग होता है। बालिकाओं के गीतों में भाई के स्नेह का भावमय चित्रण है। गुड़ियों के खेल में उनके विवाह आदि में भी गीतों का उपयोग किया जाता है। बालिकाएँ सावन के गीत भी गाती हैं किन्तु वे विवाहित स्त्रियों के गीतों से पृथक् होते हैं।[1]

राजनीति-सम्बन्धी गीत—राजनीति-सम्बन्धी गीत खड़ीबोली-लोकसाहित्य की अपनी ही विशेषता है। गांधी की मृत्यु पर एक गीत मिलता है—

"नाथूराम तैंणे जुलमा करा, कैसे मारा गांधी
तुझे कुछ न आई लाज"

हिन्दुस्तान-पाकिस्तान विभाजन पर भी एक गीत है—

टेसन ऊपर छोरी रोवै मुसलमान की
बाबूजी मेरा टिकस काट दो पाकिस्तान की"

---

१. खड़ीबोली का लोकसाहित्य—डा० सत्या गुप्त—पृ० ६१-६७।

लोकगाथा —

लोकगाथा में कथातत्व एवं गीतितत्व का समन्वय होता है। लोकगीतों की भाँति ही खड़ीबोली-लोकसाहित्य में लोकगाथाओं का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

खड़ीबोली की लोकगाथाओं का वर्गीकरण—लोकगाथाओं का वर्गीकरण वर्ण्यविषय के आधार पर किया गया है। यह वर्गीकरण पूर्ण वैज्ञानिक नहीं हो सका है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि एक वर्ण्यविषय के प्रतिपादन में दूसरा कथा-तत्व आए ही नहीं। प्रायः अन्य अनेक कथातत्वों का भी समावेश एक ही गाथा में हो जाता है। ऐसा गाथा के दीर्घ होने के कारण होता है। प्रेम-गाथाओं में वीरता भी समाविष्ट हो जाती है तथा पौराणिक गाथाओं में प्रेमतत्व भी समाविष्ट होकर सन्मुख प्रस्तुत हो सकता है। फिर भी किसी लोकगाथा को देखकर यह कहा जा सकता है कि इसमें अमुक तत्व की प्रमुखता है और उस प्रमुख तत्व के आधार पर उस लोक-गाथा को वर्गीकृत किया जा सकता है। खड़ीबोली-लोकगाथाओं के तीन वर्ग किए जा सकते हैं—१. पौराणिक गाथाएँ, २. वीर गाथाएँ और ३. प्रेम गाथाएँ।

पौराणिक-गाथाएँ—इन लोकगाथाओं के अनन्तर वे गाथाएँ आती हैं जिनके विषय पुराण से लिए गए हैं। विषय में तो पर्याप्त रूप से हेर-फेर मिलता है किन्तु प्रायः नायक अथवा नायिका पौराणिक ही रहते हैं। इन लोकगाथाओं में पुराण जैसा अर्थ ही प्रतिपादित नहीं किया जाता। विषय के मूल भाव निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं और वह पुराण के मूल विषय का जन-संस्करण हो जाते हैं। खड़ीबोली-प्रदेश में प्रचलित कुछ पौराणिक लोकगाथाओं के नाम इस प्रकार हैं—पूरन भगत, गोपीचन्द भरथरी, शिव-पार्वती-विवाह आदि। पौराणिक गाथाओं पर नाथयोगियों का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। क्योंकि पौराणिक लोकगाथाओं में कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में योगी-सन्यासियों का सन्दर्भ रहता है। प्रायः गोरखनाथ का नाम इनसे सम्बद्ध है। इन पौराणिक लोकगाथाओं को अधिकांशतः योगी, सिद्ध, सन्यासी आदि ही गाते हैं। इनकी कथावस्तु अलौकिक होती है।

वीरगाथाएँ—वीर लोकगाथाओं में सामन्तीयुग का प्रभाव परिलक्षित होता है। इन गाथाओं का वीर नायक भी कोई सामन्त ही होता है। इन गाथाओं में नायक के वैभव, नायक की वीरता, नायक के जातीय गुणों का बखान रहता है। इन्हें चारण या भाट गाते हैं। कभी-कभी वीर गाथाओं में शृंगार की प्रवृत्ति भी मिल जाती है। इसका प्रमुख कारण भारतीय संस्कृति में प्रेम और वीरता का परम्परा रूप में चला आ रहा सम्बन्ध है। वीर ही योग करता है अतः योग की प्रवृत्तियों का पाया जाना नितान्त स्वाभाविक ही है। इन वीरगाथाओं में कतिपय प्रमुख नाम ये हैं—आल्हा, जाहर, रूपबसन्त तथा राजा कारक आदि।

प्रेमगाथाएँ—प्रेमगाथाओं में भी अन्य कथातत्त्व भी समाहित रहते हैं, किन्तु इनमे प्रेम के अतिरिक्त अन्य तत्त्व गौण होते हैं। प्रेमगाथाओं की नायिकाएँ या तो प्रेमिकाएँ हैं अथवा ससुराल में अत्याचार से पीड़ित स्त्रियाँ हैं। इन लोकगाथाओं में संघर्ष की भावना भी मुख्य रूप मे पाई जाती है। सामाजिक परम्पराओं के चित्रण का भी पर्याप्त स्थान रहता है। इन प्रेमगाथाओं मे नायक-नायिका को इन परम्पराओं से विद्रोह भी करना पड़ता है। अन्त मे वे विजयी भी होते हैं। इन लोकगाथाओं को कथागीत भी कहा जा सकता है तथा ऋतु-सम्बन्धी लोकगीतों के वर्गों मे भी इसको स्थान दिया जा सकता है, क्योंकि इन लोकगाथाओं को स्त्रियाँ सावन के गीतों तथा त्यौहारों पर भी गाती हैं। इस वर्ग की प्रमुख गाथाएँ खड़ीबोली-प्रदेश मे इन नाम से प्रचलित हैं—चन्द्रावल, निहालदे, लीलो चमन, चन्दना, मखन, हंसासव, मनरा आदि।

लोकगाथाओं में वर्ण्यविषय—खड़ीबोली प्रदेश की लोकगाथाओं में विविध वर्ण्यविषय मिलते हैं। लोकगाथाएँ ग्रामीण सभ्यता और जीवन का रूप होती हैं अतः जीवन से सम्बद्ध अन्यान्य विषयों का इसमे स्वतः ही समावेश हो जाता है। लोक-गाथाकार की बड़ी व्यापक दृष्टि है। जीवन का कोई भी अंग उसने अछूता नहीं छोड़ा है। इनमे देश-प्रेम तथा राष्ट्रीयभावना, लौकिक तथा अलौकिक प्रेम, वीरता एवं साहस आदि विषय प्रमुख रूप मे आते हैं। जातीय गुणों की अभिव्यक्ति के लिए ये गाथाएँ लिखी गई प्रतीत होती हैं। श्री कृष्णचन्द्र शर्मा 'चन्द्र' का यह कथन द्रष्टव्य है—" 'पँवाड़ा' शब्द का संबंध 'पँवार अथवा पमार' नाम की क्षत्रिय जाति के यशोगान से है, अर्थात् 'पँवाड़े' वे गीत हैं जिनमे पँवारों की वीरता का वर्णन किया गया हो।[१] लोकगाथाओं मे प्रेम, रहस्य, रोमांच के साथ-साथ धर्माचरण, सदाचरण तथा ईर्ष्या एवं कलह का भी स्वाभाविक चित्रण हुआ है। लोकगीतों मे समाज की समस्याओं की ओर भी संकेत रहता है, यथा—स्त्रियों पर पुरुषों के अत्याचार, अनमेल-विवाह, बहु-विवाह तथा विधवा-समस्या आदि। इस प्रकार हम पाते हैं कि खड़ीबोली-लोक-साहित्य की गाथाओं मे वर्ण्यविषयों की विविधता है।

लोकगाथाओं की विशेषताएँ—लोकगाथाओं की सामान्य विशेषताएँ निम्न हैं—

१. लोकगाथाओं में जातीय संस्कृति, परम्पराएँ, प्रथाएँ युग विशेष का यथार्थ चित्रण होता है। चित्रण मे स्वाभाविकता होती है।

२. लोकगाथाओं में मानव-अनुभूतियों का सरस अंकन होता है। पुरुष तथा स्त्री अपने पृथक् व्यक्तित्व को लेकर चलते हैं।

३. लोकगाथाओं में गीति-तत्त्व के प्रभाव से लोकनाट्य का भी विकास किया है।

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (सोलहवां भाग)—पृ० ३९४।

४. लोकगाथाओं में सरल अभिव्यक्ति होता है।

५. इनमें सर्वत्र प्रवाह रहता है।

६. लोकगाथाओं की लिखित रचनाएँ नहीं होती तथा इनका लेखक भी अज्ञात होता है।

७. लोकगाथाओं में उपदेश या नीति की शिक्षा नहीं होती, प्रत्युत ये विषय प्रधान होते हैं।

८. लोकगाथाओं में मनोरंजन की पूर्ण सामग्री रहती है।

९. लोकगाथा में पशु-पक्षी भी पात्र बनकर आ सकते हैं। वे मनुष्य की वाणी बोलते हैं।

१०. एक गाथा में प्रधान गाथा के साथ-साथ अनेक उपगाथाओं का भी गुंफन होता है।

११. लोकगाथाओं में औत्सुक्य की भावना बनाए रहने का गुण होता है।

१२. लोकगाथाओं में एक व्यक्ति गायक होता है, अन्य श्रोता होते हैं।

१३. लोकगाथाओं में वर्णन की प्रधानता होती है।

१४. लोकगाथाओं को गाने में वाद्ययन्त्रों का प्रयोग भी प्रायः किया जाता है।

खड़ीबोली-लोकसाहित्य में लोकनाट्य—

खड़ीबोली-लोकसाहित्य में लोकनाट्य की अपनी ही विशेषता है। लोकनाट्य के लिए मंच आदि की विशेष तैयारी नहीं करनी होती। संगीत इसकी प्रमुख विशेषता है। लोकनाट्य, नाटक का साधारण एवं अपरिमार्जित स्वरूप होता है। किन्तु इसमें जीवन की अभिव्यक्ति स्वाभाविक रूप से मिलती है। खड़ीबोली-प्रदेश में लोकनाट्य के विभिन्न रूप प्रचलित है। ये हैं—नौटंकी, स्वांग, भगत और ख्याल। रामलीला तथा रासलीला भी इनके ही अंग हैं।

नौटंकी—नौटंकी लोकनाट्य का प्रमुख रूप है। नौटंकी में रंगमंच का भी उपयोग होता है। यह मंच स्थाई नहीं होता। नौटंकियों में वर्ण्य-विषय पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। लोकगाथा के सभी विषय प्रायः लोकनाट्य के भी विषय होते हैं। पौराणिक आख्यान, वीरता एवं साहस की कहानियाँ, भक्तिपरक कथाएँ तथा लौकिक शृंगार एवं प्रेम की कथाएँ प्रमुख रूप से नौटंकी के विषय होते हैं। अभिनय के लिए स्त्रियाँ मंच पर नहीं आतीं, इनकी भूमिका छोटे बालक करते हैं। इस कारण नौटंकी में स्त्री-पात्रों के अभिनय में उतनी स्वाभाविकता नहीं आ पाती। प्रायः नौटंकियों में विदूषक की भी भूमिका रहती है जो दर्शकों को हास्य-रस का आस्वाद कराता रहता है। यह हास्य निम्नस्तर का हास्य होता है तथा अश्लील भी। यह द्विअर्थक

शब्दों एवं शब्दों के उच्चारण से मौन-संकेत भी देता है। नौटंकी में संगीत का उप-योग वाद्य-यंत्रों के साथ किया जाता है। नौटकी शुरू होने से पहले ही नगाड़ा बजने लगता है। यह आरम्भ होने की सूचना होती है। नौटकी में संवाद गद्य की अपेक्षा पद्य मे अधिक बोले जाते हैं। बीच-बीच में नृत्य-गान का भी समावेश रहता है। कभी-कभी यह नृत्य-गान मूल-विषय से हटकर भी होते हैं।

रामलीला तथा रासलीला—ये दोनों ही लीला के रूप हैं। प्रथम राम से तथा द्वितीय कृष्ण से सम्बद्ध है। भारत के उत्तरी-भाग में ये सर्वत्र प्रचलित हैं। खड़ीबोली-प्रदेश मे भी ये अन्य प्रदेशों की अपेक्षा यत्किंचित् परिवर्तित रूप में प्रचलित हैं।

स्वाँग—खड़ीबोली-प्रदेश मे 'स्वाँग' को 'साँग' भी कहते हैं। जनता में यह बहुत लोकप्रिय हैं। स्वाँग का अर्थ नकल या अनुकरण भी है। नौटकी की भाँति स्वाँग के भी विविध विषय होते है, किन्तु इनमे हास्य की प्रमुखता होती है। इसके अन्य विषयो मे धार्मिक तथा लौकिक प्रेम-कथाएँ भी हैं। धार्मिक कथाओं में मोरध्वज, नरसी तथा हरीचन्द अधिक लोकप्रिय हुई है। वस्तुतः स्वाँग और नौटकी में तात्त्विक दृष्टि से कोई विशेष भेद नही होता।

भगत—नौटंकी तथा स्वाँग की भाँति भगत भी लोकनाट्य का एक रूप है तथा तात्त्विक दृष्टि से यह भी नौटंकी तथा स्वाँग से पृथक् नही है। इसमें भक्ति की प्रतिपादना होती है अतः इसे 'भगत' नाम से अभिहित किया है। 'भक्ति' इसका मूल प्रतिपाद्य होता है।

खोड़िया—स्त्री-समाज में खोड़िया का प्रचलन है। इसमें दो स्त्रियो का अभिनय होता है। स्त्रियाँ 'बहू-बन्ने' गाती हैं। खोड़िया विवाह के अवसर पर ही किए जाते हैं।

खड़ीबोली-लोकनाट्य की विशेषताएँ—

लोकनाट्यों की निम्न विशेषताएँ हैं—

१. ये पद्य प्रधान होते हैं, किन्तु गद्य वर्जित भी नही होता। पद्य का प्रयोग प्रभावोत्पादकता के लिए किया जाता है।
२. लोकनाट्यों में आडम्बर नहीं होता, यह ग्रामीण अभिरुचियों के अनुकूल होता है।
३. कथानक जीवन की किसी भी घटना से ले लिए जाते हैं। प्रायः पौराणिक होते हैं।
४. लोकनाट्य की प्रेम कथाओं में बतरस रहता है, क्योंकि प्रेम-संदर्भ के संवाद दीर्घ एवं गीतात्मक होते हैं। इनमें प्रेममार्ग की कठिनाइयों का भी उल्लेख रहता है।

५. अभिनय के लिए स्त्रीपात्र की भूमिका वेश बदलकर पुरुष ही करते हैं।
६. लोकनाट्य में सामाजिकता की दृष्टि से लोकविश्वासों का पूर्ण निर्वाह होता है।
७. लोकनाट्य में पद्य की कलात्मकता की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना कि उसकी 'तर्ज' पर।
८. लोकनाट्य सम्पूर्ण समाज व समुदाय की वस्तु है।

लोककथा—

खड़ीबोली-प्रदेश मे लोकगीतों के महत्व के बाद दूसरा स्थान लोककथाओं का है। अन्य प्रदेशों के लोकसाहित्य की भाँति ही खड़ीबोली-लोकसाहित्य में भी कथा-साहित्य का भण्डार कम नहीं है। खड़ीबोली की लोककथाओं में जनमानस की विविध भावनाएँ, युग की विभिन्न परम्पराएँ, लोक के विश्वास तथा अपने जीवन-दर्शन का सहज चित्रण हुआ है।

खड़ीबोली-लोककथाओं का वर्गीकरण—लोककथाओं का अध्ययन करने के लिए उनका वर्गीकरण करना आवश्यक हो जाता है। लोककथा क्या लोकसाहित्य की अन्य विधाओं मे भी यह वर्गीकरण सुगमता से नही हो पाता। उद्देश्य, कथा-वस्तु तथा अभिप्राय की दृष्टि से लोककथाएँ एक दूसरे से इतनी जुड़ी हुई जान पड़ती हैं कि प्रायः उनका स्पष्ट वर्गीकरण करना असम्भव ही दृष्टिगत होता है। डा० स्मिथ थाम्पसन ने लोककथा को दो वर्गों में रखा है—सरल कथाएँ तथा जटिल कथाएँ। यह वर्गीकरण अत्यन्त स्थूल है तथा इस दृष्टि से सभी कथाओं का भलीभाँति अध्ययन भी नहीं हो सकता। सरल कथाएँ वे हैं जिनका कथानक सीधा है तथा एक प्रवाह से आगे बढ़ता है, और प्रासंगिक कथाओं से मुक्त होता है। जटिल कथाएँ वे हैं जिनमे मुख्यकथा के साथ अन्य कथाएँ भी संबद्ध रहती हैं। कथानक मे उतार-चढ़ाव भी होते हैं।

खड़ीबोली की लोककथाओं का एक वर्गीकरण यह भी हो सकता है[1]—

---

१. यह वर्गीकरण डॉ० सत्या गुप्त ने अपनी पुस्तक 'खड़ीबोली का लोकसाहित्य' में पृ० १७७ पर प्रस्तुत किया है। इस वर्गीकरण की भी सीमाएँ हैं। वर्गीकरण का कोई निश्चित आधार नहीं है—प्रथम चार वर्ण्य-विषय के आधार पर पृथक् की गई हैं, पाँचवीं तथा छठी दो भिन्न उद्देश्यों का आधार लेती हैं तथा सातवें वर्ग में पात्रों (पशु-पक्षी) का आधार लिया गया है। पशु-पक्षी सम्बन्धी कथाएँ अन्य वर्गों में भी आ सकती हैं। हास्य कथाएँ प्रथम चार के किसी भी वर्ग की हो सकती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इनका स्पष्ट वर्गीकरण तो नहीं किया जा सका है किन्तु अध्ययन की दृष्टि से यह वर्गीकरण उपयुक्त है। अतः हमने यही वर्गीकरण स्वीकार किया है।

१. धार्मिक-कथाएँ, २. ऐतिहासिक-कथाएँ, ३. अलौकिक-कथाएँ; ४. सामाजिक-कथाएँ, ५ नीति-कथाएँ, ६. हास्य-कथाएँ तथा ७. पशुपक्षी सम्बन्धी-कथाएँ।

धार्मिक कथाएँ—गीतों की भाँति ही धार्मिक लोककथाओं को दो वर्गों में रखा जा सकता है—(क) व्रत, त्योहार तथा अनुष्ठान-सम्बन्धी लोककथाएँ तथा (ख) देवी-देवता-सम्बन्धी लोककथाएँ। प्रथम प्रकार की कथाएँ वे हैं जिन्हें स्त्रियाँ किसी व्रत या त्योहार के अवसर पर अनुष्ठान अथवा लोकाचार के साथ कहती-सुनती हैं। लोकाचार कथाएँ यद्यपि अनुष्ठान की अनिवार्यता नहीं स्वीकार करतीं किन्तु व्रत के साथ कथा कहने का चलन अवश्य है। देवी-देवताओं की कथाओं में राम, कृष्ण, शिव-पार्वती, चुटक विनायक, अंजना, सूर्य, शनि आदि की कथाएँ गिनी जाती हैं। धार्मिक कथाएँ प्रेरणात्मक-कथाएँ हैं। जीवन के किसी धार्मिक मूल्य की स्थापना इनमें की जाती है तथा एक प्रकार से महात्म्य की कथाएँ हैं।

ऐतिहासिक कथाएँ—लोक का इतिहास नागरिकों के इतिहास की भाँति इतिहास की पुस्तकों मे नहीं रहता। वह मौखिक रूप में युगों-युगों से संचित होता हुआ इन ऐतिहासिक लोककथाओं में सुरक्षित रहता है। ये लोककथाएँ ही इतिहास का प्रमाण होती हैं। जनमानस के कण्ठ-कण्ठ तक विचरते हुए इनमें परिवर्तन भी होता रहता है, किन्तु कथा की मूल भावना वैसी ही बनी रहती है। ऐतिहासिक कथाओं के नायक-नायिकाएँ ऐतिहासिक पात्र होते हैं। ये ऐतिहासिक कहानियाँ खड़ीबोली-लोकसाहित्य में रामायण-महाभारत काल से लेकर औरंगजेब के युग तक चली आती हैं। इनमें अधिक लोकप्रिय लोककथाएँ महाभारत, भर्तृहरि, हरिश्चन्द्र, मोरध्वज, ध्रुव, भोज, वीर विक्रमजीत, सिकन्दर तथा अकबर आदि से सम्बन्धित हैं। विक्रमजीत तथा भोज की कथाएँ विशेष चाव से सुनी जाती हैं।

अलौकिक कथाएँ—लोक में अलौकिक कथाओं का भी प्रचलन पर्याप्त रूप से होता है। इन अलौकिक लोककथाओं में 'अद्‌भुत' की व्यंजना रहती है। इस अद्‌भुत तथा आश्चर्य-व्यंजना की पृष्ठभूमि में लोक की अन्यान्य इच्छाएँ एवं कल्पनाओं का उजागर रूप देखने को मिलता है। मानव की सहज आकांक्षाओं का ही ये प्रतिरूप होते हैं। इन कथाओं में अभिप्राय ही प्रमुख-रूप से आश्चर्योत्पादक होते हैं, जैसे—'अमृतजल' की कल्पना जिसे पीकर व्यक्ति अमर हो जाता है। इन कथाओं में आनन्द के लिए पूरी सामग्री रहती है, किन्तु यह आनन्द क्षणिक ही होता है। इस वर्ग की कहानियाँ प्रतीकात्मक अर्थ की अभिव्यंजना भी कहीं-कहीं करती हैं, जैसे—'झिलमिला का पेड़'। इस वर्ग की अन्य प्रमुख कथाएँ हैं—सुनार दे नार, [illegible] का खेल, बाबा जी, मकली [illegible] रानी, दो भाई, गुलबकावली,

शमीजम, पलंग का पाया, बाँसुरी आदि है। इन कहानियों का खड़ीबोली-प्रदेश में अत्यधिक प्रचलन है। इन अलौकिक कथाओं में लोकविश्वास अन्धविश्वास के रूप में भी मिलता है, जिन पर कथा कहने वाला तथा सुनने वाले सभी विश्वास करते चलते है। इन कहानियों में जादू की बातें होती हैं। इनमें दाने, परियाँ, भूत भी होते हैं।

सामाजिक कथाएँ—दैनिक जीवन की घटनाओं की कहानियाँ, लोक की नैतिकता की कहानियाँ, सामाजिक समस्याओं की कहानियाँ इस वर्ग में आती हैं। सामाजिक कथाओं के चार उपवर्ग किए जा सकते हैं—(१) स्थानीय कथाएँ, (२) बाल-कथाएँ, (३) जाति-सम्बन्धी कथाएँ और (४) सामान्य कथाएँ। स्थानीय कथाओं के अन्तर्गत खड़ीबोली-प्रदेश की घटनाओं से सम्बन्धित कथाएँ आती हैं। कुछ स्थानीय कथाओं के नाम इस प्रकार हैं—श्रवणकुमार, नरककुंड, नवलदेकुआ, उल्लू देवता की कथा आदि। बाल-कथाओं में भी दो वर्ग हैं—पहला लघुछन्द तथा साधारण। इस प्रदेश में प्रचलित कतिपय लघुछंद कथाएँ ये हैं—बरसो राम धड़ाके से, गोग्गो रानी, काने कचरे की कहानी, जाट और बनिया, मैना और चना आदि। *साधारण बाल-कथाओं में छंद का प्रयोग नहीं होता।* जातिकथाओं में जातीय गुणों, रहन-सहन तथा खान-पान की चर्चा रहती है। इसमें मनोविज्ञान का किंचित सहारा लिया जाता है। इनमे ब्राह्मण, बनिया, जाट, डोम, नाई, चमार, कुम्हार आदि से सम्बन्धित कथाएँ है। शेष सामाजिक कथाओं को सामान्य कथाओं के वर्ग में रखा जा सकता है। इन स्फुट कहानियों में सामाजिक समस्या की कहानी, मानवीय संबन्धों की कहानी तथा जीवन के विविध कार्य-कलापों की कहानियाँ समाविष्ट हो जाती हैं। खड़ीबोली-प्रदेश में प्रचलित कुछ कहानियों के नाम इस प्रकार है—सृष्टि की उत्पत्ति, आदमी की उमर, भगवान से माँगो, सबसे बड़ा धन, अन्धेर नगरी चौपट राजा, तिरिया चरित्र, रूप बसन्त आदि कथाएँ हैं।

नीति-कथाएँ—खड़ीबोली-लोकसाहित्य में कथाओं का नीतिपरक रूप भी मिलता है। यह व्यावहारिक नीति होती है। जीवन के आचार-विचारों का इनमें निर्देशन रहता है। इन नीतिपरक लोककथाओं का उद्देश्य लोकजीवन का मार्ग निर्धारित करना होता है। यह ऐसा मार्ग निर्दिष्ट करती हैं जो स्वयं के लिए भी हानिकारक सिद्ध न हो और दूसरों को भी कष्ट न दे। इन कथाओं के अन्तर्गत हम कहावतों को भी समेट सकते हैं क्योंकि इनमें भी नीति की प्रतिपादना रहती है, किन्तु इनमें कथातत्व का अभाव होने के कारण इन्हें कथाएँ न कहना ही उचित होगा। खड़ीबोली-लोकसाहित्य में प्रचलित कुछ प्रमुख नीति-कथाएँ हैं—'जैसे को तैसा', 'भगवान सब जगह रहते हैं', 'सत्त की जीत', 'जो भगवान करै सब ठीक है', 'पाहुना परमेस्वर', 'पुन्न से पाप भी कट जा' तथा 'अब अपने-अपने आंग का खावै'

आदि। इन कथाओं में लोकविश्वास की अभिव्यक्ति हुई है। ईश्वर, भाग्य आदि इन कथाओं के विषय हैं। कहानी के अन्त में प्रायः नीतिवाक्य भी रहता है।

हास्य-सम्बन्धी लोककथाएं—नागरिक सभ्यता की अपेक्षा ग्रामीण सभ्यता में हास्य का अधिक उन्मुक्त रूप देखने में आता है। यही कारण है कि लोककथाओं में हास्यकथाओं का भी अपना महत्त्व है। इन कथाओं का प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन होता है। लोक में इसका एक रूप 'गप्प' के नाम से भी मिलता है। आकार की दृष्टि से खड़ीबोली की लोककथाओं को दो वर्गों में बाँट सकते हैं—दीर्घ एवं लघु। लघु कहानियाँ चुटकुलों के रूप में प्राप्य हैं। इन छोटी-बड़ी कहानियों में कुछ निश्चित पात्रों की कथाएं भी हैं जैसे—लाल बुझक्कड़, शेखचिल्ली, ठग तथा 'चिड़' सम्बन्धी कथाएँ। कुछ लोकप्रिय हास्यकथाओं का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है—'मरद के बच्चा होने का दर्द', 'अम्मा मेरी अक तेरी', 'पैसे में बहू', मिठुआ', 'सीरे की हँडिया' 'ऊँटों की गठड़ी', 'दो के चार' आदि। बीरबल के चुटकुले भी इस प्रदेश में अत्यन्त प्रचलित हैं।

पशु-पक्षी-सम्बन्धी लोककथाएं—संस्कृत साहित्य मे 'पंचतन्त्र' तथा 'हितोपदेश' की कहानियों में पशु-पक्षी पात्र रूप में प्रस्तुत हुए हैं। पालि-साहित्य की जातक कथाओं में भी ऐसा ही है। यही परम्परा खड़ीबोली के लोकसाहित्य में चली आरही है। कुछ लोककथाएँ तो संस्कृत-साहित्य की देन हैं। लोकसाहित्य में यह द्रष्टव्य है कि वहाँ हमें पशु-पक्षी के सहयोगी के रूप में मिलते हैं। इस प्रदेश में प्रचलित कुछ लोककथाओं के नाम इस प्रकार हैं—'सोने के बालों वाला बन्दर', 'नेकी-बदी', 'सेर और जुलाहा', 'सेर और टपका', 'मैना का ब्याह', 'सोने का जौ', 'कछुआ दोस्त', 'चिड़िया और कग्गा', गीदड़ और ऊँट' आदि। पशु-पक्षी-सम्बन्धी कहानी होने पर भी ये मानवीय भावनाओं की ही कहानियाँ हैं।

खड़ीबोली का प्रकीर्ण साहित्य—

खड़ीबोली के प्रकीर्ण साहित्य के दो मुख्य वर्ग किए जा सकते हैं:—

(क) कहावतें या लोकोक्तियाँ।

(ख) पहेलियाँ।

खड़ीबोली की कहावतों का वर्गीकरण—लोकोक्तियों में विविध विषय मिलते हैं, जिसका कारण है लोकोक्तियों में व्यापक जीवन के अनुभव। जीवन के विशाल क्षेत्र में अन्यान्य अनुभवों के आधार पर कहावतों का जन्म होता है। लोकोक्तियों को वर्गीकृत करना कठिन है। फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिए हम लोकोक्तियों के इस वर्गीकरण को स्वीकृत करते हैं—

(१) सामाजिक कहावतें

(क) जाति-सम्बन्धी । (ख) नारी-सम्बन्धी ।

(ग) ऐतिहासिक । (घ) सामाजिक व्यवहार-ज्ञान-सम्बन्धी ।

(२) भाग्य-सम्बंधी कहावतें । (३) खान-पान तथा स्वास्थ्य-सम्बंधी ।

(४) लोकविश्वास-सम्बंधी । (५) मनोवैज्ञानिक ।

(६) कथा-सम्बंधी । (७) भाषा-विज्ञान-सम्बंधी ।

(८) प्रकीर्ण ।

सामाजिक कहावतें—जाति-सम्बन्धी—

जाट—'जाट मर्‌या जब जानिए जब बरसोड़की हो लेय ।'

ब्राह्मण—'आए कनागत फूले कांस, बाम्मन उछले नौ-नौ बांस,
गई कनागत टूटी आस, बाम्मन रोवै चूल्हे पास ।'

बनिया—'बनिए का बेट्‌टा कुछ सोच कर ही गिरैगा ।'

नाई—'जानवरों में कौवा, आदमियों में नौवा ।'

नारी-सम्बन्धी —

'दूध की गइया और पूत की मैया की लात भी सही जात है ।'

'माँ पिस्सनहारी भी पाल लेगी, बाप लखपती भी नी पाल सकता ।'

'माँ टोट्‌टे की, बाप नफे का,
'बहन हुए की, यार बख्त का ।'

ऐतिहासिक कहावतें—

'कहाँ राजा भोज, कहाँ गंगू तेली ।'

सामाजिक व्यवहार-ज्ञान-सम्बन्धी—

'बड़े का कहा और आँवले का खाया पीछे से मीठा लगता है ।'

'लाचारी पत्थर से भी भारी ।'

'बैहता पानी उड़ता पंछी इनकी क्या परतीत ।'

भाग्य-सम्बन्धी कहावतें—

लोकजीवन के अभाव भाग्यवादी दृष्टिकोण के कारण सरस तथा करुण रूप में प्रस्तुत हुए हैं । यही रूप कहावतों में भी परिलक्षित होते हैं, यथा—

'बिध गया सो मोती, रह गया सो पत्थर ।'

'माँ ते जाये सात पूत करम ने न्यारे न्यारे बाँटे ।'

खान-पान तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी—

'सावन करेला, भादों दही, मौत नहीं तो जहमत सही'

'आँत भारी तो माथ भारी'

लोकविश्वास-सम्बन्धी—

इन कहावतों में लोकविश्वास को वाणी मिली है, भले ही यह लोकविश्वास अंधविश्वास ही क्यों न हो।

'पड़वा गमन न कीजै भले सोने की होय'।

'बुढा बोलिए न बुड्ढा'।

मनोवैज्ञानिक—

इन कहावतों में मानव-मन का सत्य निहित होता है। इनमें जीवन की उस व्यावहारिकता की भी अभिव्यक्ति होती है जिनकी पृष्ठभूमि में मन का अचेतन रूप भी क्रियाशील होता है। यथा—

'कुम्हार का कुम्हारी पर बस न चला तो गधी के कान ऐंठ दिए'।

'चोर-चोरी से गया तो क्या हेरा-फेरी से भी गया'।

कथा-सम्बन्धी—

लोक में प्रायः किसी घटना या कथा से कहावत का निर्माण होता है। जिन कहावतों के मूल में कोई कथा रहती है वे इस वर्ग की कहावतें हैं। जैसे—

'माया तेरे तीन नाम, परसा, परसू, परसराम'।

भाषाविज्ञान-सम्बन्धी—

खड़ीबोली द्वित्वप्रधान एवं संयुक्ताक्षर प्रधान है अतः जिन कहावतों में इनका प्रयोग है वे इस वर्ग की कहावतें हैं। डा० सत्या गुप्त ने यह वर्ग स्वीकार किया है। वस्तुतः कहावतों का यह वर्ग नहीं हो सकता, क्योंकि खड़ीबोली की अपनी यह विशेषता प्रायः सभी प्रकार की कहावतों में मिलती है।

प्रकीर्ण लोकोक्तियाँ—

शेष कहावतों में कुछ कहावतें ऐसी हैं जो स्पष्टतः अन्य किसी वर्ग में नहीं रखी जा सकतीं। वे इस वर्ग में आती हैं। इन कहावतों में हास्य, व्यंग्य तथा अतिशयोक्ति का प्रमुख स्थान है। यथा—

'इस तरह चले गए जैसे गधे के सिर से सींग'।

'फूहड़ चाल्ले नौ घर हाल्ले'

पहेलियाँ—

लोक-जीवन में पहेलियाँ वाणी-विलास, बुद्धि-परीक्षण तथा मनोरंजन की वस्तु हैं। लोकसाहित्य की अन्य विधाओं की भाँति ही खड़ीबोली-प्रदेश में पहेलियों का पर्याप्त प्रचलन है।

पहेलियों का वर्गीकरण—

खड़ीबोली प्रदेश में पहेलियों के प्राप्त रूपों को उनके विषय के आधार पर

वर्गीकृत करने पर निम्न प्रकार की पहेलियाँ मिली हैं—

(१) शरीर-सम्बन्धी, (२) जीव-सम्बन्धी, (३) प्रकृति-सम्बन्धी, (४) खान-पान-सम्बन्धी तथा (५) दैनिक व्यवहार-सम्बन्धी।

शरीर-सम्बन्धी—इन पहेलियों का विषय शरीर की क्रियाएँ तथा अंग हैं। यथा—

"गरमी में वो पैदा होवै धूप पड़े मुरझावै।
हे सजनी वो इतना कोमल, हवा लगै कुम्हलावै।"—पसीना।
"लाल कहूँ लागै नहीं, बरजत लागै बार।
कोई पहेली एक में, दीजो चतुर बताए।"—ओठ।

जीव-सम्बन्धी—इन पहेलियों के विषय नाना पशु-पक्षी हैं। उदाहरणार्थ—

"एक जानवर ऐसा जिसकी दुम पर पैसा"—मोर।

प्रकृति-सम्बन्धी—प्रकृति की नाना वस्तुएँ इनका विषय हैं। जैसे—

"चार खूँट चौबारे, जिसमें खेले दो बणजारे।"—चाँद-सूरज।

खान-पान-सम्बन्धी—भोज्य-पदार्थों का वर्णन बुझौवल रूप मे इस वर्ग की पहेलियों में मिलता है—

"इधर भी खूँटा उधर भी खूँटा
गाए मरखनी दुद्धा मीठा"—सिंघाड़ा।
"चार कबूतर चार रंग, महल मे जाकै एक रंग।"—पान
"घर में उपजे घर बह जाए
खेत में उपजे सब कोई खाए"—फूट।

दैनिक व्यवहार-सम्बन्धी—दैनिक व्यवहार की वस्तुएँ इन पहेलियों का विषय है। यह पहेलियाँ विशेषतः खड़ीबोली-क्षेत्र की ही प्रमाणित हुई हैं। यथा—

"चाची के दो कान, चाचा के वो भी नहीं।
चाची चतुर सुजान, चाचा कछु जानै नहीं।"—कढ़ाई-तवा।
"एक अना ईवाजना, नदी किनारे चुगना है।
सोने की सी चोंच निकाले, दम-दम पानी पीता है।"—दिया(दीपक)।

परिशिष्ट (ख) | लोकसाहित्य का अध्ययन एवं महत्त्व

(१) लोकसाहित्य की पृष्ठभूमि—

लोकसाहित्य की आधारशिला धर्म की धरती पर ही टिकी हुई है। धर्म लोकजीवन का प्राण है, बल है। और भारतीयों का जीवन तो धर्ममय है। अतः भारतीय लोकसाहित्य की पृष्ठभूमि धर्म ही है। यही कारण है कि हमारे लोकसाहित्य में धार्मिक भावनाओं का प्रकाशन किसी न किसी रूप में हुआ है। लोकगीत, लोकगाथा, लोककथा, लोकनाट्य, लोककला, लोकसंगीत, लोकनृत्य तथा कहावतें, मुहावरे, पहेलियाँ, सूक्तियाँ आदि में धर्म-सम्बंधी विचारों तथा भावनाओं का प्रकाशन हुआ है। "लोकसाहित्य के सभी अंगों में धर्म उसी प्रकार से वर्तमान है जिस प्रकार से माला की प्रत्येक मनिका में सूत्र। धर्म की अनुस्यूतता के कारण ही जनता का साहित्य इतना लोकप्रिय हो सका है। इसी हेतु इसको इतना स्थायित्व प्राप्त हो सका है।"[१]

लोकसाहित्य में लोकमानस के धार्मिक-विश्वासों की अभिव्यक्ति हुई है। भारतीय लोकमानस जगत की विषमता को देखकर अपने भाग्य को इसका जिम्मेदार ठहराता है। वह इसे अपने कर्मों का फल स्वीकार करता है। प्रायः यही कहता है "करमगति टारै नाहि टरी", "जो भाग्य में लिखा है उसे कोई नहीं मिटा सकता", "बोया पेड़ बबूल का आम कहा तै खाय", "करम लिखा सस भोगब रेना", "कर्म न मेटो जाय" आदि। कितना दृढ़ विश्वास है अपने भाग्य अथवा कर्म पर। प्रायः अनेक लोककथाओं में भाग्य-परिवर्तन का वर्णन हमें देखने को मिलता है। मानिकचन्द्र राजा से भड़भूजा बनता है। दिन पलटते देर नहीं लगती। उसे पुनः राज्य प्राप्त होता है। यही भाग्य का खेल है। इस खेल के पीछे एक आशावादी दृष्टिकोण है। यही कारण है कि हमारे यहाँ की लोककथाओं का अन्त सदैव सुखान्त रहा है। अनेक संघर्षों को पारकर सार्वजनीन मंगल की भावना इन कथाओं में निहित है। इसके पीछे हमारी धर्मबुद्धि ही कार्य कर रही है।

---

१. लोकसाहित्य की भूमिका—डा० कृष्णदेव उपाध्याय—पृ० १०६।

भारतीय अद्वैतवाद ने विश्वबन्धुत्व की भावना को जन्म दिया है जो लोक-कथाओं में उपलब्ध होती है तथा भारतीय भक्तिमार्ग ने सदाचार तथा सत्य के प्रति प्रगाढ़ आस्था को जन्म दिया है। अनेक लोकगीतों तथा कथाओं में इसी सदाचार, सतीत्व, सत्यनिष्ठा आदि का चित्रण हुआ है। प्रधान देवताओं का पूजन, सूर्य, पीपल, गंगा, आदि प्राकृतिक वस्तुओं का पूजन तथा पत्थर आदि का पूजन हमारी धार्मिक प्रवृत्ति का ही सूचक है। विभिन्न व्रतानुष्ठान, त्योहार तथा संस्कारों के चित्रण के पीछे भी हमारी यही पूत-भावना विद्यमान है, यहाँ तक कि चेचक आदि बीमारियों को भी हम शीतला माता की कृपा के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार "जनता के इस लोकप्रिय साहित्य में वर्णित विधिविधानों, रीतिरिवाजों, विश्वास-परम्पराओं तथा रहन-सहन का अनुशीलन किया जाय तो इससे ज्ञात होता है कि उनको धर्म से कितनी प्रेरणा प्राप्त हुई है, कितना बल मिला है। किम्बहुना, यदि लोकसाहित्य के निर्माण में धर्म का आधार न प्राप्त होता तो उसका इतना सजीव, स्वस्थ तथा सबल होना संभव न था।"[१]

(२) लोकसाहित्य में लोक-जीवन का चित्रण—

किसी विशेष अंचल की स्थानीय लोकसंस्कृति उस अंचल के लोकमानस के आधार पर ही संघटित होती है और लोक की चेतना सदैव समाज की परम्परा और परिस्थितियों पर आधारित होती है। "लोकसाहित्य रचा नहीं जाता, वह बादलों की तरह झरता और घास की तरह उगता है। वह अपने क्षेत्र की मिट्टी-पानी में ठीक उसी रूप में उगता और फलता-फूलता है जिस रूप में समाज के लिए वह उपयोगी सिद्ध होता है। इसीलिए न वह मानसिक ऐय्याशी है और न उद्दीप्त क्षणों की काल्पनिक सृष्टि। वह तो जीवन की श्रमशील परिस्थितियों, समाज के सक्रिय संघर्षों, विषमताओं और प्रकृति-जन्य बाधाओं के बीच लोककंठों से स्वतः फूट पड़ता है। ऐसी स्थिति में उसमें जो विश्वास, तंत्र-मंत्र, परम्परा, अनुभवजन्य निष्कर्ष, अनुभूत विचार और भाव व्यक्त हुए मिलते हैं। वे लोक के मानसिक और सामाजिक विकास की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करते हैं।"[२]

सामाजिक चित्रण—लोकसाहित्य (गीत) में सामाजिक-जीवन का सहज और स्वाभाविक चित्र देखने को मिलता है। भारतीय समाज की यथार्थ स्थिति का परिज्ञान लोकसाहित्य से ही प्राप्त होता है। भारत में मानव-जीवन को सोलह संस्कारों से संस्कृत करने का विधान प्रारम्भ से चला आरहा है। इन संस्कारों में तीन संस्कार—

---

१. लोकसाहित्य की भूमिका—डा० कृष्णदेव उपाध्याय—पृ० ३१५।
२. गढ़वाली लोकगीत—एक सांस्कृतिक अध्ययन—पृ० २८६।

जन्म, विवाह तथा मृत्यु—प्रमुख हैं। इनमें प्रथम दो तो आनन्द के अवसर हैं और अन्तिम शोक का। लोकसाहित्य में इन संस्कारों से सम्बन्धित अनेक लोकगीत उपलब्ध होते हैं और इनके साथ ही साथ इन विभिन्न संस्कारों पर किए गए लोकाचारों तथा अनुष्ठानों का विधिवत् उल्लेख भी हमें मिलता है। हमारा भारतीय समाज संयुक्त-परिवारों का एक आदर्श उदाहरण रहा है। माता-पुत्री, पिता-पुत्र, भाई-बहिन, सास-बहू, ननद-भावज, पति-पत्नी के परस्पर मधुर तथा कटु सम्बन्धों की झाँकी हमें लोकसाहित्य में देखने को मिलती है। पति-पत्नी तथा भाई-बहन का जैसा आदर्श प्रेम भारतीय समाज में देखने को मिलता है वैसा अन्य समाज में दुर्लभ है। माता-पुत्री तथा भाई-बहिन का विशुद्ध, सात्विक एवं दिव्य प्रेम का वर्णन लोकसाहित्य में उपलब्ध होता है। सास के बहू पर अत्याचार, ननद के ताने, सौत का डाह आदि परस्पर के अरुचिकर सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ता है। इसके अतिरिक्त ननद-भावज, देवर-भाभी, श्वसुर-बहू आदि के सम्बन्ध भी लोकसाहित्य में अरुचिकर दिखाए गए हैं। लोकसाहित्य में अनमेल विवाहों का भी चित्र प्रस्तुत किया गया है। बालविवाह, वृद्धविवाह, बहु-विवाह, पर्दा-प्रथा आदि पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

आर्थिक तथा राजनैतिक चित्रण—लोकसाहित्य में आर्थिक एवं राजनैतिक समस्याओं का चित्रण भी किया गया है जिनका लोकजीवन से शाश्वत सम्बन्ध है। ग्रामीण जीवन की श्री-समृद्धि के साथ-साथ वहाँ की दीनता, निर्धनता तथा हीनता का वर्णन अनेक गीतों के माध्यम से हुआ है। जहाँ अनेक गीतों (झूमर आदि) में सोने का लोटा, सोने की थाली का ऐश्वर्यशाली वर्णन है तो वहाँ दूसरी ओर टूटी खटिया और चुवाते झप्परों का हृदयद्रावक चित्र भी है। निरवाही के अवधी गीतों में अनेक कष्टों का (पेट की मार, झोंपड़ी तथा वस्त्रों का अभाव आदि) हृदय-विदारक वर्णन बहन के माध्यम से किया गया है। ग्रामीण जीवन की निर्धनता के साथ-साथ भारतीय किसान की इच्छा एवं साध का भी चित्रण मिलता है। भरतीय जीवन की साध है—अच्छे बैल हों, पानी का कष्ट न हो, एक घर हो, खेत पश्चिम में हो और भगवान इतना दें कि उसे कर्ज न लेना पड़े। बस, इससे बड़ी साध कुछ नहीं। इसी साध के आधार पर वह अनेक कष्टों एवं संघर्षों को चुनौती दे देता है।

युग की बदलती परिस्थितियों के लोकसाहित्य में एक नई चेतना को जन्म दिया है। सन सत्तावन के स्वाधीनता संग्राम का विद्रोहीस्वर, अंग्रेजी शासन का विरोध, एक नए आजाद हिन्दुस्तान की कल्पना, खादी-आन्दोलन, औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न सामाजिक परिवर्तन आदि सभी लोकगीतों में उभर कर आए हैं। आजकल के चुनाव प्रचार एवं अभियानों की अभिव्यक्ति भी लोकगीतों के माध्यम से होने लगी है।

धार्मिक चित्रण—लोकसाहित्य में धार्मिक जीवन का चित्रण विशेष रूप से हुआ है क्योंकि भारतीय जीवन ही पूर्णतः धर्ममय है। भारत की जनता जो भी

कार्य करती है उसके मूल में कहीं न कहीं धर्म का बीज छिपा रहता है। यह धार्मिक भावना इतनी दृढ़ है कि युगों से परिस्थितियाँ बदलने पर भी अपेक्षाकृत वह कम बदली है। वही मूर्ति-पूजा, बड़-पूजा, पीपल-पूजा, सालिगराम-पूजा, गंगा-पूजा, सूर्य-पूजा, तुलसी-पूजा, देवीदेवताओं की पूजा, भजन, कीर्तन आदि सब वही ज्यों का त्यों चला आ रहा है। लोकमानस आज (वैज्ञानिक, भौतिकवादी युग में) भी वैसा का वैसा ही है। ग्रामीण स्त्रियाँ आज भी उन्हीं पुराने व्रतों तथा अनुष्ठानों का विधान उसी रूप में करती हैं। आज भी पति उसके लिए परमेश्वर है। इस प्रकार लोक-साहित्य में धार्मिक जीवन की अभिव्यक्ति सहज एवं स्वाभाविक हुई है।

(३) लोकसाहित्य-संकलन—

लोकसाहित्य के संकलन का कार्य अत्यन्त ही कठिन तथा परिश्रम पूर्ण है। संकलन-कर्ता को अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। वास्तव में यह कार्य अत्यन्त ही परिश्रम, साहस एवं धैर्य की अपेक्षा रखता है। लोकगायकों से गीत गवा कर उस गीत को लिपिबद्ध करना अत्यन्त ही कठिनाई का कार्य है। प्रायः देखा गया है कि अधिकांश लोकगायक लोकसंकलनकर्ता को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। इसलिए संकलनकर्ता को यह कार्य सहानुभूतिपूर्वक करना पड़ता है। इधर कुछ भीषण कठिनाइयाँ सामने आ रही हैं। हमारी शिक्षापद्धति ने समाज में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन उत्पन्न कर दिया है। नई सभ्यता तथा अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार से प्रायः गाँव के ही लोग अब लोकगीतों से घृणा करने लगे हैं। वे गीत गाना तथा सुनना अपमानजनक समझते हैं। इससे होता यह जा रहा है कि हमारे समाज से लोक-गायकों का वर्ग कम होता चला जा रहा है। लोकगायन जिनका पारम्परिक कार्य है वे विशेष जातियाँ भी गीत गाने में सकुचाने लगी हैं। इसके अतिरिक्त गाँवों में शहरों की अपेक्षा पर्दाप्रथा अब भी अधिक है। पूर्वी क्षेत्रों में तो इसका कठोर प्रचलन है। अतः संकलनकर्ता तो स्त्रियों से गीत कहलवा ही नहीं सकता। वे स्त्रियाँ गीत लिखवाने के लिए तैयार ही नहीं होती। यदि असावधानी के कारण (जैसेतैसे उनके गाने पर) कोई पंक्ति छूट जाती है तो उस पंक्ति की पुनरावृत्ति नितान्त असंभव हो जाती है। एक तो गायकों की संकुचित मनोवृत्ति, उनका गाने का अपना विशेष 'मूड' तो दूसरी ओर संकलनकर्ता की असावधानी तथा व्यवहार दोनों ही लोक-गीतों के संकलन में कठिनाई के कारण बने हुए हैं। संकलनकर्ता को गायकों के 'मूड' को समझना चाहिए। मार्च के माह में वे सावन के गीत इकट्ठे नहीं कर सकते। उन्हें परिस्थिति को भी परखना चाहिए।

संकलनकर्ता को दिलचस्पी लेकर यह कार्य करना चाहिए। उन्हें उसी वेश-भूषा तथा उसी व्यवहार के साथ गायकों से मिलना चाहिए जिस रूप में वे रहते हैं।

अपने को अजनबी बनाकर यह कार्य नहीं हो सकता। उन्हें गायकों के प्रति सहानुभूति एवं सम्मान प्रदर्शित कर अपना कार्य करना चाहिए। बिखरी सामग्री को एकत्र करने की क्षमता के साथ-साथ उन्हें बड़ी चतुराई बरतनी चाहिए। किसी तथ्य को बिना परीक्षा किए ही ग्रहण नहीं करना चाहिए। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि संकलनकर्ता को उसी स्थानीय भाषा में अपने संकलन का कार्य करना चाहिए जिस भाषा में लोकगायक गाता है। उसके गाते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जो लोकगायक गाता है या जैसा वे सुनते हैं वैसा ही वे लिखें भी। अपनी तरफ से सुधार कभी नहीं करना चाहिए। यह संशोधन खतरे से खाली नहीं है। इस विषय में उसे पूरी ईमानदारी से काम लेना चाहिए। गायक का नाम, पता, अवस्था, लिंग, व्यवसाय, जाति, स्थिति आदि को सही रूप में लिखना चाहिए। गायक के गाँव की स्थिति, भाषा आदि का भी स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए। प्रायः ऐसा भी होता है कि एक ही गीत के या गाथा के या कथा के अनेक पाठ मिल सकते हैं। संकलनकर्ता को सभी को लिपिबद्ध करना चाहिए। यह भाषा-शास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है।

संकलनकर्ता सदैव अपने पास एक नोटबुक, पेन या पेन्सिल रखें। लाल, हरी तथा नीली स्याही के पेन भी आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त 'टेपरिकार्डर' तथा कैमरा अत्यन्त आवश्यक है। कैमरा से गायक, गाँव में होने वाले विशेष त्यौहार, अनुष्ठान, मन्दिर तथा अन्य अपेक्षित दृश्यों तथा वस्तुओं का चित्र लिया जा सकता है। 'टेपरिकार्डर' से पाठान्तर की संभावना नहीं रहती। कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनको संकलनकर्ता उस क्षण लिखने में कठिनाई अनुभव करता है—यह कठिनाई 'टेपरिकार्डर' से दूर हो जाती है। इसके अतिरिक्त गायक के गीत का आरोह-अवरोह राग, स्वर आदि को ज्यों का त्यों सुरक्षित रखा जा सकता है।

इस प्रकार लोकसाहित्य-संकलन में अनेक कठिनाइयाँ तो हैं ही फिर भी उनको दूर करने के उपाय किए जा रहे हैं। लोकसाहित्य संस्थानों को इस ओर ध्यान देना चाहिए। उन्हें विशेष गाँवों में छोटे-छोटे केन्द्र स्थापित कर संकलन की व्यवस्था करनी चाहिए।

(४) लोकसाहित्य का महत्त्व—

लोकसाहित्य का किसी देश-विशेष के जनजीवन के लिए सांस्कृतिक महत्त्व है। किसी देश का समाज, धर्म, साहित्य, दर्शन लोकसाहित्य में यथार्थ रूप में सुरक्षित है। इसके अध्ययन से हमें देश-विशेष के राष्ट्रीय जीवन का पूरा चित्र मिलता है। इसके साथ ही साथ स्थानीय इतिहास, भूगोल तथा भाषा-सम्बन्धी ज्ञान भी हमें उपलब्ध होता है। अतः लोकसाहित्य का महत्त्व अभिजात-साहित्य से कहीं अधिक है।

यही कारण है कि पश्चिमी देशों में इसके वैज्ञानिक अध्ययन के लिए अनेक 'सोसाय-टियों' की स्थापना की गई है। भारत में भी अब इसके अध्ययन के लिए अनेक 'संस्थानों' की स्थापना हो चुकी है।

सामाजिक महत्व—लोकसाहित्य में किसी देश-विशेष के जनजीवन का यथार्थ एवं स्वाभाविक वर्णन उपलब्ध होता है। किसी देश-विदेश के मनुष्यों का रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार, वेशभूषा, रीति-रिवाज, अन्धविश्वास, आदि का सच्चा चित्र हमें लोकसाहित्य में ही उपलब्ध होता है। यदि आपको किसी देश के जनजीवन की सच्ची कहानी जाननी हो तो वहाँ के लोकसाहित्य (गीत, गाथा आदि) का अध्ययन परमावश्यक है। इस दृष्टि से लोकसाहित्य को हम समाज का अव्यवस्थित इतिहास निस्संकोच कह सकते हैं। समाज के शाश्वत सम्बन्ध, समयानुकूल बदलती सामाजिक परिस्थितियाँ, सामाजिक प्रथाएँ, सामाजिक मनोविज्ञान आदि का विशद विवेचन लोकसाहित्य में ही हुआ है। अतः सामाजिक दृष्टिकोण से लोकसाहित्य का अपना विशेष महत्त्व है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी इसीलिए इसका महत्त्व स्वीकार किया गया है। किसी देश की संस्कृति उस देश के लोकसाहित्य में ही पूरी तरह से सुरक्षित है।

ऐतिहासिक महत्व—लोकसाहित्य का ऐतिहासिक दृष्टि से भी परम महत्त्व है। इतिहास की अपार तथा प्रामाणिक सामग्री लोकसाहित्य में भरी पड़ी है। इतिहास के अध्ययन के लिए भी लोकसाहित्य का विशेष महत्व है। कर्नल टाड का इतिहास इसी अध्ययन का परिणाम है। इतिहास की बिखरी सामग्री को एकत्रित करने तथा टूटी कड़ियों को जोड़ने में जितनी सहायता हमें लोकसाहित्य से मिलती है उतनी अन्य किसी विषय से नहीं। राजा-महाराजा, उनकी शासन-व्यवस्था, उनके समय में देश की स्थिति, समाज की स्थिति जितनी सुचारु रूप में लोकसाहित्य में उपलब्ध होती है उतनी इतिहास की पुस्तकों में भी दुर्लभ है। लोकसाहित्य में प्रत्येक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं को सुरक्षित रखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति पाई जाती है। कई ऐसी घटनाएँ (वास्तविक) हैं जिनका उल्लेख हमें इतिहास में भी नहीं मिलता।

भौगोलिक महत्व—लोकसाहित्य का अध्ययन भौगोलिक ज्ञान की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। किसी देश-विशेष के शहर, नगर, उत्पन्न वस्तु (खनिज पदार्थ आदि), नदी, पर्वत, आदि का ज्ञान हमें लोकसाहित्य से ही मिलता है। कहाँ कौन सी वस्तु प्रसिद्ध है, किस नगर में कौनसी नदी बहती है और उसका क्या महत्व है, तीर्थस्थान आदि का ज्ञान हमें लोकसाहित्य से ही प्राप्त होता है। आल्हा, ढोला आदि गाथाओं से हमें अनेक तत्कालीन भूगोल-सम्बन्धी सामग्री का परिचय मिलता है। अतः इस दृष्टि से भी लोकसाहित्य का महत्व है।

आर्थिक महत्व—लोकसाहित्य में जनजीवन के आर्थिक पक्ष का उद्घाटन पूरी सच्चाई के साथ हुआ है। 'सोने की थाली', 'चन्दन का पलना', 'छप्पन भोग', 'धानी चुनरिया', 'नौलखा हार', जहाँ देश की समृद्धि का चित्रण करते हैं वहाँ 'टूटी मड़इया', 'उजड़ल बँगलवा', 'मँहगी के मारे बिरहा बिसरिगा' आदि से देश की निर्धनता का भी चित्रण स्वाभाविक रूप में हुआ है। 'पियवा जे चले ले उत्तर बनिजरिया' से व्यापार तथा व्यवसाय के लिए लोगों का पूर्व देश को जाना प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त बनारसी साड़ी, मगहिया पान आदि से लोगों के शौक और पहनावे का भी चित्रण मिलता है। अतः लोकसाहित्य के अध्ययन का आर्थिक दृष्टि से भी महत्व है।

नैतिक महत्व—लोकसाहित्य का नैतिक दृष्टि से भी अत्यधिक महत्व है। लोकसाहित्य के अध्ययन से ही समाज के नैतिक स्तर का ज्ञान हमें प्राप्त होता है। तत्कालीन मनुष्यों का चरित्र, तथा आचार का तथा नारी के सतीत्व के आदर्श का जैसा परिचय इस साहित्य में मिलता है वैसा कहीं नहीं। सतीत्व-रक्षा भारतीय नारी का महान आदर्श रहा है। पद्मिनी का जौहर, कुसुमादेवी का तालाब में डूब कर मर जाना, चन्दादेवी का खौलते तेल की कड़ाई में कूद पड़ना, सतीत्व-रक्षा के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति के नैतिक कर्तव्यों का रूप भी लोकसाहित्य में उपलब्ध होता है।

धार्मिक महत्व—लोकसाहित्य में किसी जाति के धार्मिक जीवन का स्वाभाविक एवं सच्चा चित्र देखने को मिलता है। गंगा माता, शीतला माता, व्रत, तीर्थ, पूजा-पद्धति संसार की अनित्यता आदि का उल्लेख लोकसाहित्य में अनेक बार हुआ है। मूलतः लोकसाहित्य का विशाल भवन धर्म की गहरी नींव पर ही टिका हुआ है। धर्म ने भारतीय जीवन को जितना प्रभावित किया है कि यहाँ के प्रत्येक कार्य के पीछे धर्म की भावना कार्य करती दिखाई देती है। अतः बिना भारतीय धर्म को समझे भारतीय लोकसाहित्य को नहीं समझा जा सकता क्योंकि इस लोकसाहित्य में धर्म की विभिन्न भूमियाँ ही किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त हुई है। अतः इस दृष्टि से लोकसाहित्य का परम महत्व है।

भाषा-शास्त्रीय महत्व—भाषा-शास्त्र की दृष्टि से लोकसाहित्य का अत्यधिक महत्व है। लोकसाहित्य भाषा के अध्येताओं के लिए एक महान् स्रोत है। सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इस सम्बन्ध में डा० कृष्णदेव उपाध्याय से एक बार यह कहा था—"जो लोग लोकसाहित्य का संग्रह कर रहे हैं वे भावी भाषाशास्त्रियों के लिए अमूल्य सामग्री उपस्थित कर रहे हैं। लोकगीतों, गाथाओं और कथाओं की अवहृत शब्दों की निरुक्ति का पता लगाने पर भाषाशास्त्र-सम्बन्धी अनेक गुत्थियाँ सुलझाई

जा सकती हैं। इनमें प्रचलित शब्दों के द्वारा हिन्दी के अनेक शब्दों की विकास-परम्परा को हम वैदिक संस्कृत से जोड़ सकते हैं।"[१]

लोकसाहित्य के अध्ययन से शब्दों की ऐतिहासिक परम्परा को स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है। भिन्न-भिन्न जाति के लोग—किसान, लोहार, सुनार, कुम्हार आदि अनेक पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार करती हैं। उन शब्दों के विषय में पूर्ण ज्ञान हमें लोकसाहित्य के अध्ययन से ही होता है। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनमें भावाभिव्यंजन की शक्ति अन्य भाषाओं से श्रेष्ठ होती है तथा अनेक मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ हैं जिनका प्रयोग लोकसाहित्य में खूब हुआ है। इस प्रकार भाषाशास्त्र के अध्ययन के लिए प्रचुर सामग्री लोकसाहित्य में उपलब्ध होती है।

अतः उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि किसी देश के सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय जीवन में लोकसाहित्य का अत्यधिक महत्व है। लोकसाहित्य अपने वर्ण्य-विषय के कारण ही महत्वपूर्ण नहीं है वरन् इसकी महत्ता इससे भी अधिक है। क्योंकि इससे किसी देश की संस्कृति एवं सभ्यता का उद्घाटन होता है अतः लोक-साहित्य की रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति का राष्ट्रीय कर्त्तव्य है।

---

१. लोकसाहित्य की भूमिका—डा० कृष्णदेव उपाध्याय—पृ० ३१७।

परिशिष्ट (घ) | लोकवार्ता-शास्त्र-सम्बन्धी पत्रीय साहित्य

क — हिन्दी

अवधी	इन्दु प्रकाश पाण्डेय	: अवधी लोकगीत और परम्परा
	डा० कृष्णदेव उपाध्याय	: अवधी लोकगीत भाग-१
	गोपाल कृष्ण कौल	: अवध की लोककथाएँ
	सत्यव्रत अवस्थी	: विहाग रागिनी
	शिवमूर्ति सिंह	: अवध की लोककथाएँ (भाग २,३)
	त्रिलोकी नारायण दीक्षित	: अवधी और उसका साहित्य
कौरवी	राहुल सांकृत्यायन	: आदि हिन्दी के गीत और कहानियाँ
	सीता तथा दमयन्ती	: धूल धूसरित मणियाँ
	सत्या गुप्त	: खड़ीबोली का लोकसाहित्य
छत्तीसगढ़ी	चन्द्र कुमार	: छत्तीसगढ़ की लोककथाएँ
	श्यामाचरण दुबे	: छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय
निमाड़ी	कृष्णलाल हंस	: निमाड़ी लोककथाएँ भाग-१
		निमाड़ी लोकसाहित्य का अध्ययन
	राम नारायण उपाध्याय	: निमाड़ी लोकगीत
बघेली	भगवती प्रताप शुक्ल	: बघेली लोकरागिनी [भाग १, २]
	लखन प्रताप उरगेश	: बघेली लोकगीत
	श्रीचन्द्र जैन	: विन्ध्य-प्रदेश के लोकगीत
		विन्ध्य-भूमि की लोककथाएँ
बुन्देलखण्डी	उमाशंकर शुक्ल	: बुन्देलखण्ड के लोकगीत [दसभाग]
	कृष्णानन्द गुप्त	: ईसुरी की फागें
	गौरी शंकर द्विवेदी	: बुन्देल-वैभव (भाग-१)
	जगन्नाथ शर्मा	: बुन्देलखण्ड की लोककथाएँ
	राम चरण मित्र	: बुन्देलखंड का साहित्य और संस्कृति
	वृन्दावन लाल वर्मा	: बुन्देलखण्ड के लोकगीत
	शिव सहाय चतुर्वेदी	: बुन्देलखण्ड के लोकगीत
		बुन्देलखण्ड की ग्राम्य कहानियाँ
		गौने की विदा
		: पाषाण नगरी

	श्याम सुन्दर बादल	: बुन्देलखण्डी फाग-साहित्य
	श्रीचन्द्र जैन	: बुन्देलखण्ड की लोककथाएँ
	श्रीकान्त व्यास	: बुन्देलखण्ड की लोककथाएँ
	हरप्रसाद शर्मा	: बुन्देलखण्ड के लोकगीत
	हीरादेवी चतुर्वेदी	: बुन्देलखण्डी लोकगीत
ब्रज	आदर्श कुमारी यशपाल	: ब्रज की लोककथाएं
	कृष्णदत्त बाजपेयी	: ब्रज का इतिहास
	प्रभुदयाल मीतल	: चन्द सखी के भजन और लोकगीत
	रमेश वर्मा	: गाँव के गीत (भाग-१, २)
	रामनारायण लाल अग्रवाल	: कित गयौ मथुरावासी
	डा० सत्येन्द्र	: ब्रज-लोक-संस्कृति ब्रज-लोकसाहित्य का अध्ययन ब्रज की लोक कहानियाँ ब्रज के लोकगीत (पोद्दार अभिनन्दन-ग्रंथ)
	शालिग्राम गुप्त	: ब्रज और बुन्देली लोकगीतों में कृष्ण-कथा
भोजपुरी	आर्चर, डब्ल्यू०जे० और सकटा प्रसाद	: भोजपुरी ग्रामगीत
	उदय नारायण तिवारी	: भोजपुरी भाषा और साहित्य भोजपुरी मुहावरे और पहेलियाँ
	दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह	: भोजपुरी लोकगीतों में करुण रस भोजपुरी के कवि और काव्य
	कृष्णदेव उपाध्याय	: भोजपुरी लोकगीत (भाग-१) भोजपुरी ग्रामगीत (भाग-१, २) भोजपुरी और उसका साहित्य भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन भोजपुरी लोक-संस्कृति
	सत्यव्रत सिंह	: भोजपुरी लोकगाथा
	श्रीधर मिश्र	: भोजपुरी की पहेलियाँ
मालवी	चिन्तामणि उपाध्याय	: मालवी लोकगीत एक विवेचनात्मक अध्ययन
	रतनलाल मेहता	: मालवी कहावतें
	श्याम परमार	: मालवी लोकगीत मालवी और उसका साहित्य मालवी लोकसाहित्य का अध्ययन मालवी की लोककथाएँ
मैथिली	तेज नारायण लाल	: मैथिली लोकगीतों का अध्ययन
	राम इकबाल सिंह राकेश	: मैथिली लोकगीत

राजस्थानी	कन्हैयालाल सहल	: राजस्थानी कहावतें-एक अध्ययन
		: राजस्थान के उपाख्यान
	खेताराम माली	: मारवाड़ी गीत-संग्रह
	चन्द्रशेखर भट्ट	: हाड़ौती लोकगीत
	जगदीशसिंह गहलौत	: मारवाड़ी ग्रामगीत
	जोशी	: मेवाड़ की कहावतें
	ठाकुर रामसिंह	: चारणीगीत
	ताराचन्द्र ओझा	: मारवाड़ी स्त्री गीत-संग्रह
	नरोत्तमदास स्वामी	: राजस्थान रा दूहा
	निहालचन्द्र वर्मा	: मारवाड़ी गीत
	पुरुषोत्तम मेनारिया	: राजस्थान की लोककथाएँ
	मदनलाल वैश्य	: मारवाड़ी गीत-माला
	मोहनलाल मेनारिया	: राजस्थानी भीलों की कहानियाँ
	रामकिशोर श्रीवास्तव	: राजस्थानी कहावतें
	रामनरेश त्रिपाठी	: मारवाड़ के मनोहर गीत
	सूर्यकरण पारीक	: राजस्थानी लोकगीत
		: राजस्थानी वार्ता
	सूर्यकरण पारीक, नरोत्तमदास स्वामी, ठाकुर रामसिंह	: राजस्थान के लोकगीत प्रथम भाग ढोला मारूरा दूहा
	सूर्यकरण पारीक एवं गणपति स्वामी	: राजस्थानी वार्ता, कलकत्ता राजस्थान के लोकगीत, भाग १, २ कलकत्ता, राजस्थान के ग्राम गीत भाग १, दिल्ली, राजस्थानी लोकगीत, प्रयाग
ख—अन्य		
	आनन्द कुमार	: लोककथाएँ
	ओकले तथा गैरोला	: हिमालय की लोककथाएँ
	इन्दिरा जोशी	: हिन्दी उपन्यासों में लोकतत्त्व
	कन्हैयालाल सहल	: लोककथाओं की कुछ प्ररूढ़ियाँ
	कृष्णदेव उपाध्याय	: लोकसाहित्य की भूमिका
	कुँवर कन्हैयाजू	: हिन्दुओं के व्रत और त्यौहार
	गोविन्द चातक	: गढ़वाल की लोककथाएँ नेपाल की लोककथाएँ तथा गढ़वाली लोकगीत-एक सांस्कृतिक अध्ययन
	चन्द्रभान	: रामचरित मानस में लोकवार्ता
	देवेन्द्र सत्यार्थी	: बेला फूले आधी रात (१९४९) धरती गाती है (१९४८) बाजत आवे ढोल धीरे बहो गंगा (१९४८) दीवा बले सारी रात (१९४१)

मैं हूँ खाना बदोश (१९४१)
गाये जा हिन्दुस्तान (१९४६)
चट्टान से पूछ लो
गिद्धा
और बाँसुरी बजती रही
नये देवता
कुंग पोश

नन्दलाल चत्ता : कश्मीर की लोककथाएँ भाग १, भाग २, मनोरंजक लोककथाएँ भाग १-२

पंछी तथा बेदी : पंजाब की लोककथाएँ

प्रवासीलाल वर्मा : सौराष्ट्र की लोककथाएँ

प्रभाकर माचवे : महाभारत की लोककथाएँ

ब्रज विलास श्रीवास्तव : मध्यकालीन हिन्दी प्रबन्ध काव्यों में कथानक-रूढ़ियाँ

मन्मथ राय : प्राचीन लोकोत्सव

रवीन्द्र भ्रमर : हिन्दी भक्ति साहित्य में लोक-तत्त्व
: पद्मावत में लोक-तत्त्व

रामकिशोरी श्रीवास्तव : हिन्दी लोकगीत

रामदहिन मिश्र : हिन्दी मुहावरे

रामनरेश त्रिपाठी : कविता-कौमुदी भाग ५ (ग्राम-गीत), हमारा ग्राम साहित्य, ग्राम साहित्य भाग १-२-३
सोहर

रामविलास शर्मा (डा०) : भाषा और समाज

राहुल सांकृत्यायन : हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास (षोडश भाग)
: किन्नर देश में
: हिमालय परिचय (गढ़वाल)

वासुदेव शरण अग्रवाल : पृथिवी पुत्र
माता भूमि

विद्यावती 'कोकिल' : सोहाग गीत

सत्यव्रत अवस्थी : लोकसाहित्य की भूमिका

सत्येन्द्र : लोकसाहित्य-विज्ञान

संतराम बी० ए० : पंजाबी गीत

संतराम वत्स्य : हिमांचल की लोककथाएँ

सीता : भारत की लोककथाएँ

श्याम परमार : भारतीय लोकसाहित्य
: लोकधर्मी नाट्य-परम्परा

श्रीकृष्णदास : लोकगीतों की सामाजिक व्याख्या

हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल

त्रिवेणी प्रसाद सिंह : हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ

ग—पत्र-पत्रिकाएं

अवधी— विशाल भारत जून '५५, सरस्वती सितम्बर '३६, हिन्दुस्तानी जुलाई '३३, जुलाई '३७, सम्मेलन-पत्रिका लोक सं० अंक, प्रवाह सितम्बर '५४, सरस्वती '३६,

भोजपुरी— अवन्तिका जनवरी ५५, नई धारा मई ५०, बिहार मार्च ४६, सितम्बर ४६, विशाल भारत अक्टूबर ४८,

कौरवी— विशाल भारत सितम्बर ५४, सम्मेलन-पत्रिका आषाढ़ २०१२,

छत्तीसगढ़ी— कमला अगस्त ४१, छत्तीसगढ़ी अप्रैल ५५, मई ५५, जून ५५, दक्षिण भारत मार्च ५५, नई धारा जनवरी ५२, संगम १ जुलाई ५१, समाज सितम्बर ५५

मालवी— सम्मेलन-पत्रिका २०१० ; जनपद कार्तिक २००६ ; पारिजात अक्टूबर ४७; विक्रम जनवरी ५१, मई ५२, जून ५२, अगस्त ५२, अप्रैल ५३, मई ५३; विशाल भारत सितम्बर ५० ; साप्ताहिक हिन्दुस्तान ३१ जनवरी ५४, १४ मार्च ५४, ७ मई ५४, २३ मई ५४; आजकल मई ५८, जुलाई ५४,

राजस्थानी— अवन्तिका फरवरी ५५, अगस्त ५५, कल्पना अक्टूबर ५०, दिसम्बर ५१, मार्च ५२, नया समाज मार्च ५२, प्रवाह अगस्त ५३, अप्रैल ५४, जुलाई ५४, राजस्थान दीपावली अंक १६६३, राजस्थान भारती अप्रैल ४६, अक्टूबर ४६, अप्रैल ५० ; विशाल भारत सितम्बर ५२ ; वीणा सितम्बर ५५, शोध-पत्रिका राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर अषाढ़ २००६ ; आश्विन २००७, अषाढ़ २०१०, पौष २०१०, सरस्वती जुलाई ३७, सम्मेलन-पत्रिका अषाढ़ २०११, मरुभारती जुलाई ५६, जुलाई ५७, अक्टूबर ५५, जुलाई ५५, अक्टूबर ५६, अक्टूबर ५७, जनवरी ५८, जनवरी ५७, अप्रैल ५६, जुलाई ५८,

संथाली— आजकल १ जनवरी ४६ ; १५ जनवरी ४६ ; १ फरवरी ४६ ; १५ फरवरी ४६, जुलाई ५५ कल्पना जनवरी ५३, जनपद वैशाख २०१०, कार्तिक २०१०, जनवाणी अगस्त ५०, ज्ञानोदय नवम्बर ४६, नई धारा अक्टूबर ५२, नवम्बर ५३, मई ५४, प्राची अगस्त ५२, बिहार पत्रिका दिसम्बर-जनवरी ४७-४८, जुलाई ४८, अक्टूबर ४६, फरवरी ५०, मार्च ५१ ; सरस्वती सितम्बर ४१, साहित्य अक्टूबर ५२, जनवरी ५३,

ब्रज— आजकल जून ५४ ; चैत २००६, सम्मेलन-पत्रिका २०१०, साहित्य संदेश अगस्त ३६ ; ब्रजभारती आश्विन २००४, चैत २००५, फागुन २०१३, फागुन २००७, जेठ २०११, आश्विन २००८,

फागुन २०११, चैत २००६, फागुन २०११, फागुन २०१४; ब्रज-लोक-संस्कृति सं० २००५ ; सम्मेलन-पत्रिका श्रावण २००३,

मैथिली— हिन्दुस्तानी दिसम्बर ४२, जनवरी ३४, अप्रैल ३४, अक्टूबर ३४ ; राष्ट्र भारती जनवरी ५१ ; माधुरी मार्च ३६, जून ३६ ; सम्मेलन पत्रिका चैत्र २०११,

बिहारी— ग्रामसेवक सितम्बर ५३, जुलाई ५५, सितम्बर ५५, नवम्बर ५५, दीदी अप्रैल ४८ ; बिहार फरवरी ५१, मार्च ५१ ; बिहारी भारती अप्रैल ५५,

भोजपुरी— अजन्ता सितम्बर ५५, अवन्तिका सितम्बर ५५, किशोर मई ४४, ग्रामसेवक मार्च ५५, जनपद सं० २००६ कार्तिक, माघ २००६, बैशाख २०१०, कार्तिक २०१० ; भोजपुरी जुलाई ५२, क्वार २००६, माघ २००६, चैत २०१०, जेठ २०१०, असाढ़ २०१०, सावन २०१०, क्वार २०१०, अगहन २०१०, पूस २०१०, माघ २०१०, फागुन २०१० ; संस्कृति दिसम्बर ५२ ; सम्मेलन पत्रिका आश्वनि २००५; सरस्वती मार्च ३१, अक्टूबर ३१, साहित्य अक्टूबर ५१; साहित्य संदेश मई ५५; हिन्दी अनुशीलन माघ २००६, हिन्दुस्तानी अप्रैल ३६, जुलाई ३६, अप्रैल ४०, अक्टूबर ४०, मार्च ४१, सितम्बर ४२, सितम्बर ४६, दिसम्बर ४७ ;

बुन्देलखण्डी— आजकल दिसम्बर ५२, मार्च ५५, दक्षिणी भारत मार्च ५५, प्रवाह मार्च ५३, मधुकर १ अक्टूबर ४० से जून-जुलाई ४६ तक के सभी अंक ; सरस्वती सितम्बर ५३,

नेपाली तथा गढ़वाली— अवन्तिका अगस्त ५५ ; जनपद माघ २००६, नई धारा जुलाई ५१ ; प्रवाह जनवरी ५३ ; विशाल भारत दिसम्बर ५१, मार्च ५३ ; समाज मई ५५ ; सरस्वती अगस्त ४२, सितम्बर ५३, फरवरी ५५ ; सम्मेलन पत्रिका आश्वनि २०११, सावन २००४ ।

घ—अंग्रेजी

Abbott, J. : The keys of power—A study of Indian Ritual and Belief

Agarkar, A. J. : Folk-dance of Maharashtra (Bombay)
A Glossary of Castes, Tribes and Races in Baroda State

Allan Lomax : American Folk-song & Folklore

Archer, W. G. : Indian Primitive Architecture

Barlett, F. C. : Psychology of Primitive culture

Bhandari, N. S. : Snow Balls of Garhwal

Bhargava, B. S. : The Criminal Tribes

Boyed, R. H. : Village Folk of India
Burn, C. S. : The Hand Book of Folk-lore
Buck, C. H. : Faiths, Fairs and Festivals of India
Boys, F. : Primitive Art
Chadwick, H. M. }
Chadwick, N. K. } : The Growth of Literature
Cox, M. R. : *An Introduction to Folk-lore*
Crooke, W. : Popular Religion and Folk-lore of Northern India
Dowson, J. : A Classical Dictionary of Hindu Mythology and Religion
Drever, J. : A Dictionary of Psychology
Dubois, L. : Hindu Manners, Customs & Ceremonies
Dyre, T. : Folk-lore of Plants
Elwin, V. : Folk-tales of Mahakoshal
Folk-songs of Chhattisgarh
Folk-songs of Mikalhill
Myths of Middle India
Enthovon, R. E. : The Folk-lore of Bombay
Fitzpatrick, W. : Folk-lore of Birds and Beasts of India
Frank Sidzwick : The Ballad
Frazer, J. G. : The Golden Bough (12 vols.)
: Man, God ard Immortality
Failen, S. W. : A Dictionary of Hindustani Proverbs
Franz Boas : The Mind of Primitive Man
: General Anthropology
Gariola, T. D. : Folk-lore of Garhwal
Gomme, G. L. : An Ethonology in Folk-lore
: Folk-lore, As an Historical Science
Grierson, G. A. : Bihar Peasant Life
Some Bihari Folk-songs
Some Bhojpuri Folk-songs
Folk-lore from Eastern Gorakhpur
A Summary of the Alha-Khand
Gummere, F. B. : The Popular Ballad
Jogendra Bhattacharya : Hindu Castes and Sects

Jordon, E. M. : Indian Folk-tales

Leach, M. : Standard Dictionary of Folk-lore (2 vols.)

Lewis Spence : An Introduction to Mythology

Majumdar, D N. : Folk-songs of Mirzapur
The Fortunes of Primitive Tribes
The Matrix of Indian Culture
„ — The Affairs of a Tribe

Marrett, R. R. : Psychology of Folk-lore

Mukherjee, C. : The Santhals

Mukerjee, R. C. : Indian Folk-lore

Penzer, N. M. : The ocean of story (X vols.)

Projesh Banerjee : The Folk-dance of India
Dance of India

Rodrigner, E. A. : The Hindoo Castes

Rugoff, M. : A Harvest of World Folk-tales

Russel, R. V. & Hira Lal : The Tribes and Castes of Central Province of India

Sarkar, B. K. : Folk Element in Hindu Culture

Satyarthi Davendra : Meet my people

Shirreff, A. G. : Hindi Folk-songs

Sen Gupta, P. P. : Dictionary of Proverbs

Sumner, W. G. : Folk-lore, Folk-Ways.

Slater, G. : Dravidians Elements in Indian Culture

Tod : *Annals and Antiquities of Rajasthan*

Toru Dutta : Ancient Ballads and Legends of Hindustan

Tylor : Primitive Culture

Upreti Ganga Datt : Proverbs and Folk-lore of Kumaun and Garhwal.

करवा चौथ

साँझी

हथठाप

हथठाप

सुराही

खुर

पैर

कुंकना

पट्टी

मंजीरे

चमचा

खड़ाऊँ

जूते

सातिया

चौक

चौक

मुट्ठी के छाप

दिवाली

नाग पंचमी

सोना